जिज्ञासा और रचनाएँ

(अपने वैचारिक जीवन का संक्षिप्त अनुस्मरण)

गोविन्द चन्द्र पाण्डे



इलाहाबाद संग्रहालय

इलाहाबाद

दो शब्द

महान् प्रतिभा कैसे और किन रूपों में अभिव्यक्त होती है, इसका प्रमाण है इलाहाबाद संग्रहालय की 'सृजन परिवेश' व्याख्यानमाला के अन्तर्गत दिया गया प्रो० गोविन्द चन्द्र पाण्डे का यह व्याख्यान जिसे हम प्रकाशित कर रहे हैं। इसमें उन जिज्ञासाओं का भी उल्लेख है जिसका समाधान खोजने के प्रयत्न का परिणाम ही उनकी रचनाएँ हैं और साथ ही प्रो० पाण्डे की उन मान्यताओं का भी जो उन्होंने ज्ञान-साधना से विकसित की हैं।

मुझे विश्वास है संग्रहालय के अन्य नैमित्तिक निबन्धों की तरह यह निबन्ध भी सुधी पाठकों को साधु चिन्तन के लिए प्रेरित करेगा।

मानद निदेशक (परियोजना)
इलाहाबाद संग्रहालय
इलाहाबाद

सत्यप्रकाश मिश्र

जिज्ञासा और रचनाएँ
(अपने वैचारिक जीवन का संक्षिप्त अनुस्मरण)

-गोविन्द चन्द्र पाण्डे

मेरी दादी एक पण्डित परिवार से आयी थी, उनके पिता अलवर दरबार में पुस्तकालय के अध्यक्ष पण्डित थे। इसलिए दादी उस युग के सन्दर्भ में अच्छी पढ़ी-लिखी थीं। मेरे प्रपितामह भी अपने ज्योतिष के ज्ञान के लिए प्रसिद्ध पण्डित थे। मेरे पितामह गम्भीर धार्मिक आस्था के व्यक्ति थे। पिता उच्च आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर पहले सद्यःस्थापित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के अध्यापक और पीछे अखिल भारतीय ऑडिट एण्ड एकाउण्ट्स सर्विस के अधिकारी रहे। उनकी शिक्षा-दीक्षा तिलक, गाँधी, एनी बेसण्ट, विवेकानन्द एवं श्री अरविन्द के नेतृत्व में दिशा प्राप्त करने वाले ऐसे स्वाधीनता आन्दोलन के परिवेश में हुई, जिसमें आधुनिकता का परम्परा से समन्वय सहज रचनात्मक रूप से हो रहा था। मेरी माता पठनशील और साहित्यिक अभिरुचि की थीं। दादी से मैंने रामायण, महाभारत और भागवत पढ़ना एवं पूजा-पाठ के प्रति श्रद्धा सीखी, पिता जी से रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और श्री अरविन्द के प्रति श्रद्धा अर्जित की। माता के सान्निध्य से साहित्यिक पठन-पाठन की आसक्ति प्राप्त की। इन्हीं तीन स्रोतों से मेरी बाल्यावस्था के संस्कारों का निर्माण हुआ।

१९३७ में मैंने लाहौर से मैट्रीकुलेशन की परीक्षा उत्तीर्ण की थी, लाहौर में उस समय एक ओर आर्य समाज और सनातन धर्म की स्पर्धा थी तो दूसरी ओर परम्परा मात्र की उपेक्षा। आर्य-समाज और सनातन धर्म दोनों ही धर्म की वैज्ञानिकता सिद्ध करते थे। स्वामी रामतीर्थ और लाला हरदयाल का बहुत नाम था। भगत सिंह और लाला लाजपत राय देश-भक्ति के प्रतीक थे।

१९३८ में मैं रंगून रहा और घर पर ही पढ़ता रहा। इन दो वर्षों में मेरे पढ़ने का दायरा अचानक ही बहुत विस्तृत हो गया। मैंने हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य के अतिरिक्त गणित, इतिहास और अर्थशास्त्र की अनेक उच्चस्तरीय पुस्तकें भी पढ़ी। जिन पुस्तकों के पढ़ने से उस समय मेरे मन में स्थायी जिज्ञासायें पैदा हुईं उनमें प्रधान रूप से उल्लेखनीय हैं—

1. Indian Cultural Heritage- Vols. I-III
2. Vivekanand-Rajyog
3. Vivekanand-Gyanyog
4. Shri Aurobindo-Life Divine-Vol. I
5. Tilak-Gita Rahasya
6. Sigmund Freud-Basic Writings
7. James Jeans-The Mysterious Universe
8. Whitehead-Nature of Mathematics
9. शरत्चन्द्र के उपन्यास। विशेष रूप से- शेष प्रश्न, पथेरदावी
10. रवीन्द्रनाथ टैगोर का गोरा, घर और बाहर
11. दोस्तॉवस्की के उपन्यास

इन पुस्तकों ने मेरे मन में इस प्रकार की जिज्ञासायें पैदा कीं—

१. क्या ईश्वर का अस्तित्व है?
२. क्या धर्म सत्य के ज्ञान पर आधारित है या कि वह धोखा है?
३. क्या गणित के पूर्वसिद्ध नियमों के अनुसार विश्व की रचना हुई है?
४. धर्म और विज्ञान की इतिहास में क्या भूमिका है?
५. क्या नैतिक आदर्श सनातन और ज्ञानमूलक हैं अथवा ये संस्कारजन्य और ऐतिहासिक हैं?

१९३८ में मैंने मेरठ कॉलेज से इण्टरमीडियट में प्रवेश लिया। दो वर्षों तक पाठ्य विषयों के अतिरिक्त मैंने संस्कृत का पहले से चला आ रहा पारम्परिक शैली से अपना अध्ययन अब पंडित

रघुवीरदत्त शास्त्री के अध्यापन में आगे बढ़ाते हुए सम्पूर्ण *कौमुदी* और *बृहत्त्रयी* का अध्ययन किया। पश्चिमी साहित्य का विस्तृत अवगाहन किया और रूसी और अंग्रेजी उपन्यास, स्विफ्ट की रचनाओं एवं इब्सन और बनार्ड शॉ के नाटकों ने मेरी मानव-नियति और सामाजिक व्यवस्था के प्रति जिज्ञासा को गहरा किया।

१९४० में मैंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय उस समय भारत के उत्कृष्टतम विश्वविद्यालयों में माना जाता था। अनेक विषयों में जिन प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम पहले पढ़े-सुने थे वे वहाँ साकार रूप में विद्यमान थे। लैस्की का निबन्ध *आइडिया ऑफ यूनीवर्सिटी* मुझे बहुत पसन्द आया। उसका यह कथन कि ज्ञान एक अखण्ड इकाई (Seemless garment) है जिसमें आन्तरिक विभाजन कल्पित होते हैं, मेरे लिए एक ध्रुव तारे के समान मार्गदर्शक बन गया। प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, प्रो० राम प्रसाद त्रिपाठी, प्रो० बेनी प्रसाद, प्रो० सतीश चन्द्र देव और प्रो० जे० के० मेहता से मैंने अखण्ड ज्ञान के इसी अनुसन्धान की प्रेरणा पायी। जिसमें विश्वविद्यालयीय विभागों का विभाजन अप्रासंगिक था। पुरानी जिज्ञासाओं के साथ कुछ नयी जिज्ञासाएँ भी इस अन्तराल में जुड़ गयीं-

१. क्या इतिहास के अपने नियम हैं?

२. स्पेंग्लर सही है कि फिशर? हेगल या मार्क्स? समाज और राज्य का आधार धर्म है अथवा अर्थ? बोसांके सही है कि हॉब-हौस? ब्रैडले या लैस्की?

३. दर्शन का आधार आत्मविद्या है या प्रकृतिविज्ञान या विशुद्ध तार्किक उलझने और व्यवस्थाएँ? भारतीय दर्शन की मुख्यधारा और पश्चिम की नवोदित दार्शनिक धाराओं की विसंगति से ये प्रश्न महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते थे।

४. साहित्य और कला के मूल्यों का क्या स्वरूप है? कहाँ तक वे विश्वजनीन हैं? भारतीय साहित्य और कला के पश्चिमी इतिहासकारों के फतवों से इस प्रकार की जिज्ञासा मन को व्यथित और उद्वेलित करती थी।

५. संस्कृति क्या किसी सनातन परम्परा या आध्यात्मिक सत्य की ऐतिहासिक अभिव्यक्ति है? अथवा आगन्तुक ऐतिहासिक कारणों से बनाया हुआ ढाँचा, जिसमें मानवीय बौद्धिक विवेक और नैसर्गिक प्रवृत्तियों का संघर्ष देखा जा सकता है?

१९४२ में बी०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर मैंने इतिहास विषय लेकर एम०ए० में प्रवेश किया। डॉ० ताराचन्द हमें पश्चिमी राजनीतिक तत्त्वचिन्तन का इतिहास पढ़ाते थे। वे राजनीतिक विचारधारा को दार्शनिक तत्त्वचिन्तन पर मूलतः आधारित बताते थे और महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विचारकों के दार्शनिक विचारों पर व्याख्यान देते थे। मुझे यह बात बहुत आकर्षक लगी और इससे प्रोत्साहित होकर मैंने पश्चिमी दार्शनिकों के अनेक मूल ग्रन्थों का अध्ययन किया, जिनमें प्लेटो, अरस्तू, काण्ट, हेगेल, ग्रीन, ब्रैडले और बोसांके मुख्य थे। विशेष रूप से हेगेल के अध्ययन पर मैंने बहुत समय लगाया। मैं हेगेल के सविशेष विज्ञानवाद को शंकर के निर्विशेष ज्ञानाद्वैत से हेय मानता था और इस विषय को लेकर मैंने एक निबन्ध लिखा। एक बार प्रो० ताराचन्द से उनके घर पर मेरी बहुत देर तक बात हुई। प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी उस समय काण्ट और शंकर के विशेषज्ञ थे। प्रो० रानाडे यूनानी दर्शन, आधुनिक दर्शन, वेदान्त और सिद्ध-सन्त दर्शन सभी के पारंगत थे। इन विद्वानों से अनेक बार विचार-विमर्श का अवसर प्राप्त हुआ। प्रो० राम प्रसाद त्रिपाठी की प्रेरणा से मैंने सभ्यता का इतिहास और दर्शन का अध्ययन भी आरम्भ किया। वे अपने अध्यापन में भी संस्कृति के इतिहास को विचारों एवं मूल्यों के इतिहास से ही रचित प्रदर्शित करते थे।

इस बीच मैंने संस्कृत का पारम्परिक अध्ययन भी पंडित रामचन्द्र द्विवेदी के अध्यापन में जारी रखा। इनसे मैंने *प्रौढमनोरमा* के कुछ अंश, *लघुमंजूषा, न्यायमुक्तावली, साहित्यदर्पण* एवं *ध्वन्यालोक* के कुछ अंश पढ़े। पंडित क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने संस्कृत के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन के लिए निर्देशन किया।

१९४४ में इतिहास विषय में एम०ए० पास करने के बाद मैंने प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के निर्देशन में *बौद्ध धर्म के मूल* को लेकर अनुसन्धान आरम्भ किया। इसके पहले कई वर्षों के पश्चिमी दार्शनिक विचारों के अनुशीलन से मेरी आस्था न सिर्फ कर्मकाण्ड से हट गयी थी बल्कि आस्तिक बुद्धि भी सन्देहों से जकड़ गयी थी। १९४६ में मेरा परिचय माँ आनन्दमयी से हुआ और उनके द्वारा महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज से। इन्हीं दिनों सेमीनरी में फादर आई०ए० एक्सट्रॉस से भी परिचय हुआ। प्रो० रानाडे के भी निकट जाने का अवसर मिला। चमत्कारी नीमकरौरी बाबा के भी इन्हीं दिनों दर्शन हुए। ये नये परिचय ऐसे लोगों के थे जिन्होंने आध्यात्मिक

विभूति, आध्यात्मिक दर्शन का प्रत्यक्षायमाण ज्ञान तथा गम्भीर विचारमूलक आस्था को पुष्ट किया। आँखों देखे चमत्कारों को यदि झूठा बता दिया जाय तो प्रत्यक्ष की महिमा भी सन्दिग्ध हो जाती है।

यद्यपि आधुनिक इतिहासकार चमत्कारों के विवरण को अविश्वसनीय मानते हैं, वे यह कसौटी प्रायः साइनोप्टिक गोस्पल के विवरणों पर लागू नहीं करते। वे ईसा मसीह की जीवनी को असन्दिग्ध रूप से इतिहास के रूप में देखते है किन्तु बुद्ध की जीवनी को केवल आनुश्रविक मानते हैं। ब्रैडले का *क्रिटिकल प्रीसपोजीशन्स ऑफ हिस्ट्री* शीर्षक निबन्ध मुझे महत्त्वपूर्ण लगा। यह भी विचार मेरे मन में दृढ़ता से आया कि योग-विभूति को योग की परम्परा से अलग नहीं रखना चाहिए। योग के चमत्कार अतर्क्य और संयोगजन्य नहीं होते, वे एक अत्यन्त प्राचीन विज्ञान की परम्परा से जुड़े हुए साधकों और सिद्धों में ही प्रायः मिलते हैं। यह योग की गुरु-शिष्य परम्परा ही मुझे वास्तविक आध्यात्मिक इतिहास प्रतीत हुई। इस प्रकार श्रद्धा और प्रत्यक्ष के विवाद के रूप में वर्तमान दार्शनिक विवाद का समाधान अध्यात्मविद्या के ऐसे गहन इतिहास के आलोडन के बिना मुझे सम्भव नहीं प्रतीत हुआ जो अति-मनोवैज्ञानिक (**Metapsychic**) तत्त्वों का आह्वान न करता हो। प्रत्यक्ष और परम्परा, वर्तमान और अतीत, दर्शन और इतिहास मुझे अविच्छेदनीय प्रतीत हुए।

बौद्ध और जैन, वैदिक और आगमिक शास्त्रों के विस्तृत अध्ययन से मुझे स्पष्ट प्रतीत हुआ कि किसी भी आध्यात्मिक परम्परा को यथावत् समझने के लिए उसके मूल रूप का ज्ञान होना आवश्यक है और यह ज्ञान ऐतिहासिक विश्लेषण के बिना संभव नहीं है। परम्परा में जो नये तत्त्व जुड़ते हैं वे सदा मूल के अनुरूप अथवा विकासात्मक नहीं होते हैं। इस बीच में एक शोधपत्र मैंने *अंगुत्तर निकाय* की रचना पर प्रकाशित किया। एक बार डॉ० सम्पूर्णानन्द हमारे विश्वविद्यालय में आये और उनके सम्मान में जो वैचारिक गोष्ठी आयोजित हुई उसमें प्रो० देव ने मुझसे शोधपत्र प्रस्तुत करने के लिए कहा। मैंने बौद्ध मनोविज्ञान पर एक आलेख पढ़ा जो श्रोताओं को बहुत पसन्द आया। उस समय धर्म मेरे लिए कर्मकाण्ड या संगठन न होकर अध्यात्मिक साधन और अनुभूति पर आधारित दार्शनिक तत्त्वज्ञान का नाम था। इसीलिए उस समय के मेरे अध्ययन-लेखन में दार्शनिक विचारों का यथावत् प्रतिपादन और उनके सत्य-असत्य का निर्णय

ही मुख्य रूप से रहता था। मुझे यह बात नहीं जँचती थी कि इतिहासकार के लिए विचारों के सत्यासत्य का प्रश्न उपेक्षणीय है और न यह मान्यता मुझे स्वीकार्य थी कि सब धर्म-दर्शन समान रूप से सत्य या मिथ्या हैं या उनमें कोई एक ही पूर्णतया सत्य है। नाना अध्यात्मिक दर्शनों में किसी एक गहरी एकवाक्यता की मुझे खोज थी। कविराज जी से मिलने पर मुझे अध्यात्मविद्या के नाना प्रस्थानों के पीछे किस प्रकार एक अतिक्रामी एकता उनमें अधिकार भेद से नाना भूमिकाओं में अवतरित होती है, इसके सन्धान का आभास मिला। वस्तुतः यह मानना कि सत्य एक ऐसा सपाट और निर्विशेष गुण है, जो कि सभी प्रकार के ज्ञानों में समान रूप से परखा जा सकता है, यह उन ज्ञानों के स्तरभेद के प्रति अन्याय होगा। 'यह नीला है'; 'यह सुन्दर है', इन दो निर्णयों में स्तरभेद के कारण सत्यासत्यगत आयाम में तुल्यता नहीं है। यही कारण है कि वैचारिक इतिहास में धर्म और अन्धविश्वास एवं विज्ञान की बदलती धारणाओं अथवा नैतिक सामाजिक धारणाओं के इतिहास में इतिहासकार न तो सत्य-असत्य की ओर तटस्थ हो सकता है, न वह सर्वज्ञ की तरह सत्य-असत्य का पूरा निर्णय कर सकता है।

१९४७ में मुझे डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त हुई और इलाहाबाद विश्वविद्यालय में मेरी नियुक्ति डॉ० ताराचन्द (कुलपति) तथा प्रो० राम प्रसाद त्रिपाठी (विभागाध्यक्ष) के द्वारा हुई।

१९४७ से १९५७ तक १० वर्ष तक मैंने अध्ययन-अध्यापन और शोध निर्देशन में बिताया किन्तु इस बीच कुछ प्रकाशित नहीं किया। स्मरणीय है कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उन दिनों विद्वत्ता, अध्यापन और विचार-विमर्श व्याख्यान आदि का तो बहुत महत्त्व था, किन्तु लेखन और प्रकाशन का महत्त्व प्रायः नगण्य था। इसका एक रोचक दृष्टान्त यह है कि प्रो० रानाडे के प्रायः सभी प्रकाशन या तो उनके इलाहाबाद आने के पहले के थे या उनके जाने के बाद के। यही स्थिति प्रो० राम प्रसाद त्रिपाठी की भी थी। इसका एक कारण तो यह था कि अधिकांश अध्यापन ऐसे पश्चिमी ज्ञान का था जिस पर न्यूनाधिक रूप में अधिकार प्राप्त करना भारतीय विद्वानों के लिए सम्भव था किन्तु जिस पर ऐसा मौलिक योगदान कठिन था जो पश्चिमी विद्वानों को भी स्वीकार्य हो। भारतीय इतिहासकारों और दार्शनिकों की मौलिकता पश्चिमी पाण्डित्य परम्परा से समंजस नहीं थी। यह भी था कि विशुद्ध भारतीय परम्परा के पाण्डित्य में अंग्रेजी सरकार और विदेशी विद्वान् मौलिक व्याख्यान के पक्ष में नहीं होते थे। वे परम्परा की व्याख्या या तो परम्परागत रूप

में चाहते थे या फिर उसके अपकर्ष को उजागर करने वाली आक्षेपात्मक दृष्टि के रूप में। इसका एक हास्यापद दृष्टान्त है, सरदार किब्बे जब इलाहाबाद में विद्यार्थी थे तब उन्होंने एक लेख इस आशय का प्रकाशित किया कि पानीपत की तीसरी लड़ाई में मराठों की पराजय संयोगवश थी। इस पर सी० आई० डी० की जाँच हुई कि इस प्रकार की भ्रान्ति कैसे प्रकाशित की गयी जिससे भारतीयों के मन में यह भाव पैदा हो कि वे लड़ाई जीत सकते थे। बड़ी कठिनाई से प्रो० कॉक्स के बीच-बचाव से यह तफतीश रफा-दफा हुई।

उन दिनों अध्ययन और चिन्तन से मेरी यह धारणा दृढ़ हुई कि विचारों और मूल्यों का इतिहास ही वास्तविक इतिहास है क्योंकि वही मानव परम्परा में दीर्घकालीन स्थायित्व प्रदान करता है। इस इतिहास में, जिसे अब 'हिस्ट्री ऑफ आइडियाज' कहते हैं, मानवीय आत्मजिज्ञासा का केन्द्रीय स्थान है। इसका एक परिणाम यह है कि दर्शन और इतिहास पद्धतिरूप से अलग होते हुए भी घनिष्ठ रूप से परस्पर सापेक्ष हो जाते हैं। आमतौर से यह माना जाता है कि अरस्तू ने क्या कहा यह जानना दर्शन के इतिहास का काम है, अरस्तू ने ठीक कहा या नहीं, यह जानना दार्शनिक का काम है। किन्तु इस प्रकार का विभाजन मुझे उथला प्रतीत होता था। इस सन्दर्भ में कालिंगवुड का अभिमत मुझे बहुत आकर्षक लगा।

मैंने पाया कि अनेक भारतीय मनीषी, जैसे गोपीनाथ कविराज तथा श्री अरविन्द यह प्रतिपादन करते थे कि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा मूलतः एक आध्यात्मिक ज्ञान की परम्परा पर आधारित है। किन्तु अधिकांश आधुनिक इतिहासकार सांस्कृतिक परम्पराओं को आर्थिक और राजनीतिक इतिहास पर ही आधारित मानते हैं।

स्वाधीनता आन्दोलन के दिनों में अनेक भारतीय मनीषी और विद्वान् यह मानते थे कि भारत की एकता और उसकी ऐतिहासिक नियति उसके आध्यात्मिक ज्ञान की परम्परा से जुड़ी है, हॉलैण्ड हॉल में टुकर लेक्चर देते हुए मैंने यह कहा था कि भारतीय संस्कृति का आधार योग साधना, अहिंसात्मक धर्म और नीति एवं संस्कृत भाषा और वाङ्मय की परम्परा है। किन्तु १९४७ के बाद भारतीय इतिहास लेखन में सामाजिक इतिहास ही प्रधान विषय बन गया है, समाज का आधार वैचारिक है अथवा भौतिक यह प्रश्न उस समय बहुत जीवंत प्रश्न था। मैंने सामाजिक

इतिहास में एक शोध योजना बनायी जिसके अन्तर्गत मेरे निर्देशन में अनेक मेधावी छात्रों ने कार्य किया बाद में ये प्रसिद्ध सामाजिक इतिहासकार बने, जैसे— प्रो० विमल चन्द्र पाण्डे इत्यादि।

१९५७ में मेरी पुस्तक **Studies in the Origins of Buddhism** प्रकाशित हुई। इसमें बौद्ध सिद्धान्तों के विषय में परिवर्तित मान्यताओं की परीक्षा आगम के मूल रूप के आलोक में की गयी है और उन अनेक प्रचलित धारणाओं के विरोध में है जो कि बौद्ध दर्शन को नितान्त अनात्मवादी बताती हैं। बौद्ध दर्शन की मौलिकता बताते हुए भी इस पुस्तक में उसका उपनिषदों से गम्भीर सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। विभिन्न होते हुए भी वैदिक और श्रमण परम्पराओं में आदान-प्रदान था और यह बौद्ध दर्शन एवं वेदान्त दोनों में ही देखा जा सकता है किन्तु बौद्ध परम्परा का उद्गम श्रमण परम्पराओं में ही नहीं खोजना चाहिए। आध्यात्मिक दर्शन का मूल आध्यात्मिक अनुभूति ही है, बुद्ध-देशना भी सम्बोधि से ही उपजी है। यह अवश्य है कि देशना के प्रसंग में तत्कालीन विचार-संदर्भ संप्रेषण के लिए महत्त्वपूर्ण हो जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण की अवधारणाओं पर विशेष रूप से विस्तृत विचार किया गया है क्योंकि इन्हीं अवधारणाओं के माध्यम से सम्बोधि की प्रथम अभिव्यक्ति हुई थी। प्रतीत्यसमुत्पाद को कार्यकारणभाव से अलग कर तार्किक सापेक्षता और गणितीय प्रकार्यता से मैंने तुलनीय बताया है, प्रतीत्यसमुत्पाद शान्त वस्तुजगत् की अनित्यता और सापेक्षता का सिद्धान्त है जबकि निर्वाण चरम सत्य का। परमार्थ सत् और असत् के द्वन्द्व से अतीत होने के कारण उसका ज्ञान मध्यमाप्रतिपदा है और निर्वाण अतर्क्य, अप्रमेय और नित्य होते हुए भी अभावात्मक नहीं है। मिस हार्नर ने *जे० आर० ए० एस०* में इस पुस्तक की समीक्षा करते हुए कहा कि ऐसा लगता है कि निर्वाण का प्रश्न इस बार हल हो गया है। १९६१ में *जेड० डी० एम० जी०* की समीक्षा में इसे पिछले २० वर्षों की सर्वोत्कृष्ट रचना बताया गया। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक और तुलनात्मक धर्म-दर्शन की दृष्टि से लिखा गया था।

१९६२ में **बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास** नाम के ग्रन्थ में बौद्ध विचारधारा और दार्शनिक प्रस्थानों का उनकी तार्किक व्यवस्था के साथ निरूपण का प्रयत्न किया गया है। बौद्ध दर्शन के विकास में जहाँ एक ओर विश्लेषण और द्वन्द्वात्मक तर्क की भूमिका देखी जा सकती है वहीं दूसरी ओर उसमें मूल आध्यात्मिक प्रेरणा को बार-बार प्रतिष्ठित करने की चेष्टा भी देखी

जाती है। इस पुस्तक के विषय में प्रो० नाकामुरा ने अपनी प्रसिद्ध Bibliography में टिप्पणी की है कि इतना सन्दर्भपुष्ट ग्रंथ अन्यत्र दुर्लभ है।

१९६२ में मैं नवस्थापित गोरखपुर विश्वविद्यालय में प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग के प्रथम नियुक्त प्रोफेसर के रूप में पहुँचा। वहाँ मुझे यह अवसर मिला कि प्राचीन इतिहास के अध्ययन का विश्व इतिहास, राजनीति-दर्शन और सांस्कृतिक परम्परा से अविच्छिन्न रूप में अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध किया जाय। गोरखपुर के पाँच वर्षों में मुझे विश्वविश्रुत बौद्ध विद्वान् आचार्य सुज़ुकी से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। परमपावन दलाईलामा से भी मैं मिल सका।

इन्हीं दिनों मैंने टी० एस० इलियट और जेम्स जॉयस का विशेष अध्ययन किया। मुझे यह लगा कि सांस्कृतिक विश्व कालानुक्रमित और निरन्तर विच्छिन्न न होकर एक अनुवर्तमान और संचीयमान परम्परा के रूप में अपनी कालिकता से परे एक अकालिकबोध का आभास देता है। मेरे काव्यसंग्रह **अग्निबीज** में इस बोध का कुछ स्फुरण है जो कि उसके परवर्ती संग्रह **क्षण और लक्षण** में अधिक स्पष्ट है। 'अग्निबीज' विद्यानिवास मिश्र की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ था, 'क्षण और लक्षण' यशदेव शल्य की।

१९६२ में गोरखपुर से जयपुर Tagore Prof. Of Indian Culture के पद के लिए निमन्त्रित होकर चला गया। वहाँ दयाकृष्ण, यशदेव शल्य आदि अनेक ऐसे दार्शनिकों से मेरा सम्पर्क हुआ जो स्वतन्त्र विचारों के थे। १९६५ में माडर्न लॉजिक एण्ड फिलॉसफी पर दयाकृष्ण ने एक राष्ट्रीय संगोष्ठी की थी जिसमें मैंने *सम रिफ्लेक्शन ऑन द नेचर ऑफ़ मैथमेटिक्स* पर एक आलेख प्रस्तुत किया था जो प्रकाशित हुआ। वहीं शिवजीवन भट्टाचार्य, के० के० बनर्जी, प्रद्योत मुखोपाध्याय और डॉ० राजेन्द्र प्रसाद से परिचय हुआ।

इस सम्पर्क से अगले दशाधिक वर्षों में मैंने अपने चिन्तन को अनेक लेखों और पुस्तकों के रूप में प्रकाशित किया। १९६४ में इण्टरनेशनल काँग्रेस ओरिएण्टलिस्ट में कविराज जी की प्रेरणा से महायान के आध्यात्मिक उद्गम पर मैंने आलेख पढ़ा। उसी वर्ष गोखले इन्स्टीट्यूट, पुणे में एक सेमिनार में मुख्य विवादी स्वर के रूप में *भारतीय समाज का स्वरूप* इस शीर्षक से आलेख पढ़ा, जो *रैडिकल ह्यूमनिस्ट* में छपा और प्रत्यालोचना का विषय बना। १९६६ में दयाकृष्ण के निमन्त्रण पर दर्शन विभाग में *संस्कृति के स्वरूप* पर मैंने ४ व्याख्यान दिये, जो बाद में **मीनिंग**

एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर नाम से प्रकाशित हुए। संस्कृति आत्मचेतना की एक वृत्ति है, जिसे मूल्यान्वेषी कह सकते हैं। मूल्य आत्मसत्य का अवभास है जो कि नाना उपाधियों के माध्यम से नाना भूमियों में व्यक्त होता है। महापुरुषों के प्रातिभ दर्शन से मूल्योपलब्धि सांकेतिक रूप में परम्परा का अंग बनती हैं। मानव चेतना ही मूलतः ऐतिहासिक है, वही एकमात्र सत्ता है जो प्रतिक्षण अनुभव और क्रिया से बनती और बदलती है। समस्त सांस्कृतिक विश्व इतिहास में पिरोया हुआ है।

इस बीच विभाग के कुछ अध्यापकों के उत्साह को देखकर राजस्थान ग्रंथ अकादमी से शल्य जी के निमंत्रण पर **इतिहास स्वरूप और सिद्धांत** नाम से एक ग्रन्थ संपादित किया। जिसमें मैंने स्वयं इतिहास के स्वरूप और पद्धति पर अनेक निबन्ध जोड़े। इनमें एक ओर जहाँ मूल सामग्री के साक्ष्य के परीक्षण को रांके और सीनियोबो की कसौटियों के अनुसार निरूपित किया है, वहीं दूसरी ओर अर्थ व्याख्या के स्तर पर हेगेल, क्रोचे और कालिंगवुड से मैं प्रभावित था।

अब तक यशदेव शल्य जयपुर आकर बस गये थे और उनकी प्रेरणा मुझे निरन्तर दार्शनिक चिन्तन और लेखन में प्रवर्तित करती थी। उन्हीं के 'दर्शन प्रतिष्ठान' से **न्याय बिन्दु** और **अपोहसिद्धि** के अनुवाद प्रकाशित हुए। अपोहसिद्धि का एक अनुवाद अंग्रेजी में डॉ० धीरेन्द्र शर्मा ने प्रकाशित किया था किन्तु वह मुझे नहीं जँचा। मैंने मूल में गुंफित न्याय दर्शन की आपत्तियों को स्पष्ट करते हुए अनुवाद किया और शब्दार्थ विषयक प्राचीन दार्शनिक विवाद के सन्दर्भ पर एक निबन्ध भी उसमें जोड़ दिया। न्याय बिन्दु का सेरवास्की ने प्रमाणिक अनुवाद किया था। किन्तु उन्होंने धर्मोत्तर का अनुसरण करते हुए धर्मकीर्ति की पूर्णतया सौत्रान्तिक व्याख्या की है। मैंने विनीतदेव की विज्ञानवादी व्याख्या को भी प्रामाणिक माना है। इस अन्तराल में एक वर्ष मैंने दर्शन विभाग में बौद्ध दर्शन पर एक विशेष प्रश्न-पत्र भी पढ़ाया। उस अध्यापन में एम०ए० में बौद्ध दर्शन के अध्येताओं की कठिनाइयों को देखकर मैं इन पुस्तकों के प्रणयन की ओर अभिमुख हुआ और शल्य जी के आग्रह से मैंने **मूल्य मीमांसा** नामक एक विस्तृत पुस्तक लिखी जिसमें मूल्य विषयक प्रत्यक्षवादी-आदर्शवादी दोनों ही प्रकार की आधुनिक दृष्टियों का प्रत्याख्यान है। मूल्य विवेक-सम्मत अभीष्ट विषय हैं, जिन्हें संक्षेप में पर्येषणीय अर्थ कह सकते हैं। व्यावहारिक स्तर पर मूल्य उपयोगितात्मक होते हुए भी इच्छापूर्ति के ही किसी कल्पित और वस्तुतः असम्भव

पैमाने से नहीं नापे जा सकते। आदर्श या पारमार्थिक मूल्य अनन्त साधना के लक्ष्य हैं। उनके विषय में औपनिषद् महावाक्य ही चरम सिद्धान्त प्रतीत होते हैं—

'आत्मकृतिर्वैशिल्पं', 'आत्मनस्तु सर्वकामाय प्रियं भवति', 'भूमा वै सुखम्'

मूल्य मीमांसा के अन्तिम अध्याय में एक प्रत्ययमीमांसा का सूत्रपात है जिसे पूरा करना मेरे लिए शेष है। इस ग्रन्थ पर मौलिक कृति के रूप में भारत सरकार से १०,००० रुपयों का नकद पुरस्कार भी दिया गया था।

इस बीच शल्य जी ने मेरा एक लेख *सत् के दो पक्ष...* पर समकालीन भारतीय दर्शन में प्रकाशित किया। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के बड़ौदा अधिवेशन में मुझे अध्यक्ष चुना गया किन्तु अस्वस्थ होने के कारण मैं वहाँ जा नहीं सका। पूना के अधिवेशन के लिए मेरा अध्यक्षीय भाषण *मानव-पर्येषणा और दार्शनिक विमर्श* विषय पर अवश्य प्रकाशित हुआ। पंजाब विश्वविद्यालय से प्रकाशित *Buddhism* नाम के संकलन में बौद्ध दर्शन पर मेरा एक लम्बा लेख प्रकाशित हुआ। ऐसे ही *डायोजिनस* में **Life and death of languages** पर मेरा एक लेख छपा। जर्मनी से *Yog-Heute* नाम के संकलन में भी मेरा लेख प्रकाशित हुआ। प्राय: उसी समय *माउन्टेन पाथ* में पतंजलि के योग पर भी मेरा एक लेख छपा। *दार्शनिक* त्रैमासिक में मेरे अनेक लेख प्रकाशित हुए। *कान्सेप्ट ऑव प्रमाण इन फिलॉसफी* विषय पर भी विश्वभारती से लेख इसी समय प्रकाशित हुआ। मेरा निष्कर्ष यह था कि प्रमाण ज्ञान रूप ही होता है। ज्ञान स्वप्रकाश होता है और उसकी अन्त:संगति ही उसे प्रामाण्य प्रदान करती है। विखण्डित ज्ञान, ज्ञान और अज्ञान का मिला-जुला रूप होने से पूर्णतया अप्रामाणिक होता है, यह सत्य नहीं हो सकता। अखण्ड ज्ञान ही सतत प्रमाण है।

अक्टूबर १९७४ में मैंने राजस्थान विश्वविद्यालय के कुलपति के पद पर कार्य करना प्रारम्भ किया। प्राय: इसके बाद के तीन वर्ष एक झंझावात में गुजर गये। इस बीच मुझे उच्च शिक्षा व्यवस्था पर अनेक रिपोर्ट्स पढ़ने का अवसर मिला। लार्ड राबिन्स की रिपोर्ट और भारतीय रिपोर्ट का महान् अन्तर देखकर मेरी आँखें खुलीं।

केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त एक उच्च स्तरीय समिति, जिसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के कार्य की समीक्षा करनी थी, में मुझे श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने मनोनीत किया। इस समिति के

सदस्य के रूप में मुझे भारत के अधिकांश विश्वविद्यालयों और शिक्षा संस्थानों को देखने का अवसर मिला। मैंने शिक्षा के विषय में अपने विचार कुछ लेखों में प्रकाशित किये जैसे— *सेक्यूलरिज्म एण्ड एजूकेशन* प्रकाशित इण्डियन लॉ इन्स्टीट्यूट, नयी दिल्ली।

इसी बीच एल० डी० इन्स्टीट्यूट अहमदाबाद के निमंत्रण पर मैंने *श्रमण परम्परा* पर कुछ व्याख्यान दिये जो उक्त संस्थान से प्रकाशित किये गये। **ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म** में मैंने इस बात का प्रतिपादन किया था कि वैदिक परम्परा के साथ-साथ उससे पृथक् श्रमण परम्परा भी थी। इसी परम्परा का इन व्याख्यानों में विवरण दिया गया है। १९७७ में दिल्ली विश्वविद्यालय में मैंने आर० के० जैन मेमोरियल लेक्चर्स दिये जो कि *जैन एथिक्स एण्ड लॉजिक* शीर्षक से बाद में प्रकाशित हुए। इन व्याख्यानों पर कुछ दिगम्बर जैन विद्वानों ने बहुत आपत्ति उठायी, क्योंकि इनमें कहा गया था कि प्रारम्भिक युग में जैन भिक्षु भिक्षा में प्राप्त आमिष ग्रहण कर लेते थे।

१९७८ में मैं जयपुर छोड़कर इलाहाबाद आ गया। उसी वर्ष अक्टूबर में भारतीय पुरातत्त्व परिषद् के धारवाड़ के वार्षिक अधिवेशन में *पुरातत्त्व की अवधारणा* विषयक अध्यक्षीय भाषण में अपने विचार प्रकट किये और यह कहा कि पुरावशेषों की वर्तमान व्याख्या समाजशास्त्रीय अभिकल्पनाओं और नृतत्त्वीय समानान्तर दृष्टान्तों पर निर्भर करती है। इस प्रकार पुरातत्त्व अपने साक्ष्यों की एकांगिता के कारण ही समाज की भौतिकवादी व्याख्या में उपयुक्त बन जाता है।

धारवाड़ में ही मेरी संयोगवश भेंट कन्नड़ के प्रसिद्ध लेखक श्री बेन्द्रे से हुई। मैंने उसी दिन *ऋग्वेद संहिता* का आद्योपान्त अध्ययन पूरा किया था। श्री बेन्द्रे से एक लम्बे संवाद में मुझे इस बात का ध्यान आया कि वेदों का अर्थ करने में ज्योतिषशास्त्रीय और वैज्ञानिक तत्त्वों की एक प्रधान भूमिका है। मैंने इस दृष्टि से वेद का अध्ययन नहीं किया था अतएव उनका पुनः अध्ययन आरम्भ किया। उसी वर्ष *इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर सोसाइटी* के अधिवेशन के अपने अध्यक्षीय भाषण में मैंने *इण्डियन आइडेण्टिटी* के ऊपर विचार करते हुए कहा कि जैसे प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष से आरम्भ होता है ऐसे ही संस्कृति का ज्ञान भाषाप्रधान संकेतों और प्रतीकों के ज्ञान से आरम्भ होता है। अपने को समझने के प्रयास में हम अपनी संस्कृति को समझते हैं और इस प्रक्रिया में हमारा अन्तरालाप और आत्मविमर्श सांस्कृतिक भाषा और परम्परा से जुड़ जाता है।

मैंने यह भी कहा कि संस्कृति जातिमूलक नहीं होती बल्कि सामाजिक समुदाय संस्कृति का वहन करने से अपनी पहचान प्राप्त करते हैं।

जयपुर में विश्वविद्यालय के जैन अध्ययन केन्द्र एवं प्राकृतभारती के संयुक्त तत्त्वावधान में मैंने **जैन पोलिटिकल थॉट** पर व्याख्यान दिये जो बाद में प्राकृतभारती से प्रकाशित हुए। बहुत दिनों से जो मैं राज्य और धर्म के सम्बन्ध के विषय में सोचता रहा था उसे इस पुस्तक में कहने का अवसर मिला। आत्मानुशासन ही स्वराज्य और सभी राज्य-व्यवस्थाओं का आधार है। राज्य व्यवस्थाएँ नैतिक आदर्शों के अनुकूल दण्ड-विधान का प्रबन्ध करती हैं। आदर्श राज्य में धर्म, आदर्श और दण्ड उसका समर्थ अनुयायी होना चाहिए किन्तु यथार्थ में ये सभी कड़ियाँ कच्ची मिलती हैं।

प्रायः इन्हीं दिनों हवाई की एक अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में द *आइडिया ऑफ गॉड इन हिस्ट्री* पर मैंने एक आलेख पढ़ा और १९८१ में मेक्सिको सिटी में यूनेस्को द्वारा यूनिवर्सिटी पर आमंत्रित एक गोष्ठी में *द आइडिया ऑफ ए फ्यूचर ऑफ द यूनिवर्सिटी* पर मैंने अपने शिक्षा विषयक विचारों को व्यक्त किया। शिक्षा ही संस्कृति की मूल्यजनक प्रक्रिया है और भविष्य की शिक्षा तभी सार्थक होगी जब श्री अरविन्द का स्वप्न साकार होगा।

१९८१-८२ में अज्ञेय जी के निमन्त्रण पर मैंने वत्सल-निधि व्याख्यानमाला में **भारतीय परम्परा के मूल स्वर** पर तीन व्याख्यान दिये। श्रोताओं में दिल्ली के अनेक विशिष्ट महानुभाव थे, जैसे— श्रीमती कपिला वात्स्यायन, श्री अटल बिहारी वाजपेयी, श्री लोकेश चन्द्र आदि। इस पुस्तक पर प्रथम के० के० बिड़ला फाउण्डशन्स का प्रथम शंकर सम्मान दिया गया।

श्रीमती गाँधी के फिर से सत्ता में आने पर १९८२ में मुझे राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में कुलपति पद के लिए पुनः निमन्त्रण पत्र मिला किन्तु मैंने वह स्वीकार नहीं किया। १९८३ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में कुलपति पद का कार्य तात्कालिक रूप से स्वीकार किया। १९८४ में विश्वविद्यालय सेवा से अवकाश मिला और उसी समय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सयाजीराव गायकवाड़ चेयर पर विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में मेरी नियुक्ति हुई। १९८४ में ही मेरी **फाउण्डेशन्स ऑफ इण्डियन कल्चर** दो जिल्दों में प्रकाशित हुई। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने उसका विमोचन

सदस्य के रूप में मुझे भारत के अधिकांश विश्वविद्यालयों और शिक्षा संस्थानों को देखने का अवसर मिला। मैंने शिक्षा के विषय में अपने विचार कुछ लेखों में प्रकाशित किये जैसे— *सेक्यूलरिज्म एण्ड एजूकेशन* प्रकाशित इण्डियन लॉ इन्स्टीट्यूट, नयी दिल्ली।

इसी बीच एल० डी० इन्स्टीट्यूट अहमदाबाद के निमंत्रण पर मैंने *श्रमण परम्परा* पर कुछ व्याख्यान दिये जो उक्त संस्थान से प्रकाशित किये गये। **ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म** में मैंने इस बात का प्रतिपादन किया था कि वैदिक परम्परा के साथ-साथ उससे पृथक् श्रमण परम्परा भी थी। इसी परम्परा का इन व्याख्यानों में विवरण दिया गया है। १९७७ में दिल्ली विश्वविद्यालय में मैंने आर० के० जैन मेमोरियल लेक्चर्स दिये जो कि *जैन एथिक्स एण्ड लॉजिक* शीर्षक से बाद में प्रकाशित हुए। इन व्याख्यानों पर कुछ दिगम्बर जैन विद्वानों ने बहुत आपत्ति उठायी, क्योंकि इनमें कहा गया था कि प्रारम्भिक युग में जैन भिक्षु भिक्षा में प्राप्त आमिष ग्रहण कर लेते थे।

१९७८ में मैं जयपुर छोड़कर इलाहाबाद आ गया। उसी वर्ष अक्टूबर में भारतीय पुरातत्त्व परिषद् के धारवाड़ के वार्षिक अधिवेशन में *पुरातत्त्व की अवधारणा* विषयक अध्यक्षीय भाषण में अपने विचार प्रकट किये और यह कहा कि पुरावशेषों की वर्तमान व्याख्या समाजशास्त्रीय अभिकल्पनाओं और नृतत्त्वीय समानान्तर दृष्टान्तों पर निर्भर करती है। इस प्रकार पुरातत्त्व अपने साक्ष्यों की एकांगिता के कारण ही समाज की भौतिकवादी व्याख्या में उपयुक्त बन जाता है।

धारवाड़ में ही मेरी संयोगवश भेंट कन्नड़ के प्रसिद्ध लेखक श्री बेन्द्रे से हुई। मैंने उसी दिन *ऋग्वेद संहिता* का आद्योपान्त अध्ययन पूरा किया था। श्री बेन्द्रे से एक लम्बे संवाद में मुझे इस बात का ध्यान आया कि वेदों का अर्थ करने में ज्योतिषशास्त्रीय और वैज्ञानिक तत्त्वों की एक प्रधान भूमिका है। मैंने इस दृष्टि से वेद का अध्ययन नहीं किया था अतएव उनका पुनः अध्ययन आरम्भ किया। उसी वर्ष *इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर सोसाइटी* के अधिवेशन के अपने अध्यक्षीय भाषण में मैंने *इण्डियन आइडेण्टिटी* के ऊपर विचार करते हुए कहा कि जैसे प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष से आरम्भ होता है ऐसे ही संस्कृति का ज्ञान भाषाप्रधान संकेतों और प्रतीकों के ज्ञान से आरम्भ होता है। अपने को समझने के प्रयास में हम अपनी संस्कृति को समझते हैं और इस प्रक्रिया में हमारा अन्तरालाप और आत्मविमर्श सांस्कृतिक भाषा और परम्परा से जुड़ जाता है।

मैंने यह भी कहा कि संस्कृति जातिमूलक नहीं होती बल्कि सामाजिक समुदाय संस्कृति का वहन करने से अपनी पहचान प्राप्त करते हैं।

जयपुर में विश्वविद्यालय के जैन अध्ययन केन्द्र एवं प्राकृतभारती के संयुक्त तत्त्वावधान में मैंने **जैन पोलिटिकल थॉट** पर व्याख्यान दिये जो बाद में प्राकृतभारती से प्रकाशित हुए। बहुत दिनों से जो मैं राज्य और धर्म के सम्बन्ध के विषय में सोचता रहा था उसे इस पुस्तक में कहने का अवसर मिला। आत्मानुशासन ही स्वराज्य और सभी राज्य-व्यवस्थाओं का आधार है। राज्य व्यवस्थाएँ नैतिक आदर्शों के अनुकूल दण्ड-विधान का प्रबन्ध करती हैं। आदर्श राज्य में धर्म, आदर्श और दण्ड उसका समर्थ अनुयायी होना चाहिए किन्तु यथार्थ में ये सभी कड़ियाँ कच्ची मिलती हैं।

प्रायः इन्हीं दिनों हवाई की एक अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में *द आइडिया ऑफ गॉड इन हिस्ट्री* पर मैंने एक आलेख पढ़ा और १९८१ में मेक्सिको सिटी में यूनेस्को द्वारा यूनिवर्सिटी पर आमंत्रित एक गोष्ठी में *द आइडिया ऑफ ए फ्यूचर ऑफ द यूनिवर्सिटी* पर मैंने अपने शिक्षा विषयक विचारों को व्यक्त किया। शिक्षा ही संस्कृति की मूल्यजनक प्रक्रिया है और भविष्य की शिक्षा तभी सार्थक होगी जब श्री अरविन्द का स्वप्न साकार होगा।

१९८१-८२ में अज्ञेय जी के निमन्त्रण पर मैंने वत्सल-निधि व्याख्यानमाला में **भारतीय परम्परा के मूल स्वर** पर तीन व्याख्यान दिये। श्रोताओं में दिल्ली के अनेक विशिष्ट महानुभाव थे, जैसे— श्रीमती कपिला वात्स्यायन, श्री अटल बिहारी वाजपेयी, श्री लोकेश चन्द्र आदि। इस पुस्तक पर प्रथम के० के० बिड़ला फाउण्डशन्स का प्रथम शंकर सम्मान दिया गया।

श्रीमती गाँधी के फिर से सत्ता में आने पर १९८२ में मुझे राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में कुलपति पद के लिए पुनः निमन्त्रण पत्र मिला किन्तु मैंने वह स्वीकार नहीं किया। १९८३ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में कुलपति पद का कार्य तात्कालिक रूप से स्वीकार किया। १९८४ में विश्वविद्यालय सेवा से अवकाश मिला और उसी समय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सयाजीराव गायकवाड़ चेयर पर विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में मेरी नियुक्ति हुई। १९८४ में ही मेरी **फाउण्डेशन्स ऑफ इण्डियन कल्चर** दो जिल्दों में प्रकाशित हुई। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने उसका विमोचन

किया और इस अवसर पर दिल्ली के कुछ प्रमुख विद्वानों और विचारकों की उनकी अध्यक्षता में गोष्ठी भी हुई।

इस ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति को मात्र भौगोलिक और जातीय घटकों के आधार पर ऐतिहासिक संयोग से उत्पन्न सामग्री के रूप में नहीं लिया गया है बल्कि उसे सनातन सत्य की खोज की परम्परा के रूप में माना गया है। इस प्रकार संस्कृति इतिहास में अपूर्ण रूप से अभिव्यक्त सनातनविद्या से अभिन्न है। सनातनविद्या अखण्ड और अनन्त होते हुए भी अपनी व्यंजक ऐतिहासिक परम्परा के कारण नाना विभक्त रूपों में मिलती है। इसके अतिरिक्त सनातन और तात्कालिक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक गवेषणाओं के सम्मिश्रण के कारण संस्कृति में भी नाना स्तरीय सम्मिश्रण मिलता है। संस्कृति के मौलिक तत्त्व और स्थायी संरचना को उसकी ऐतिहासिक विकृतियों से अलग रखना आवश्यक है। संस्कृति का तात्त्विकबोध उसके ऐतिहासिक ज्ञान के असम्पृक्त न होते हुए भी उससे अभिन्न नहीं है। इस पुस्तक में भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक ताने-बाने और उसके ऐतिहासिक ढाँचे के पीछे सनातन तत्त्वों को देखने का प्रयास है। इस प्रकार से यह पुस्तक वस्तुतः भारतीय संस्कृति में अन्तर्निहित एक शाश्वतदर्शन की खोज है। आध्यात्मिक साधना या योग ही संस्कृति की मौलिक जन्मभूमि है। श्री अरविन्द की *फाउण्डेशन्स ऑफ इण्डियन कल्चर*, गोपीनाथ कविराज एवं कुमारस्वामी की रचनाओं से इसमें प्रेरणा मिली है। इसमें उनकी मौलिक दृष्टि को ऐतिहासिक साक्ष्यों के सन्दर्भ में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। भारतीय संस्कृति के दार्शनिक आधार और उसके भौतिक उपादान किस प्रकार संश्लिष्ट हैं इस पर पुस्तक में निरन्तर विचार है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सयाजीराव गायकवाड़ व्याख्यानों के रूप में १९८५ में प्रकाशित **Aspects of Indian Culture** में यह अनुसन्धान आगे बढ़ाया गया है। संस्कृति विचार प्रधान और आदर्श प्रधान होती है, किन्तु वह अपने आप में एक जीवन-दर्शन होती है, एक प्रकार की अपनी आदर्शोन्मुख चेतना जो आत्मकृतित्व की साधना की प्रेरणा होती है। किन्तु ऐतिहासिक रूप प्राप्त करने के लिए संस्कृति को एक जीवंत समाज में प्राणवत् प्रतिष्ठित होना चाहिए। संस्कृति सम्पन्न समाज, जो कि भौतिक साधनों से भी सम्पन्न है, सभ्यता कही जा सकती है। भौगोलिक, जातीय, आर्थिक और राजनीतिक रचनाओं से समाज सभ्यता का आधार बनता है। आदर्शों को ऐतिहासिक यथार्थ बनने के लिए यथोचित सभ्यता में अवतरित होना

आवश्यक है। किन्तु यह एक भ्रान्ति है कि समाज की आर्थिक रचना ही उसके आदर्शों की जन्मदात्री है।

१९८५ से ८८ तक मैंने भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् के सर्वप्रथम राष्ट्रीय फैलो के रूप में कार्य किया। यही कार्य पीछे सारनाथ संस्थान से **Studies in Mahayana** के नाम से प्रकाशित हुआ। मैंने यह प्रतिपादित किया कि महायान मूल बुद्धदेशना की ही एक व्याख्या है, जो परवर्ती युग में अधिक प्रचारित हुई। प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में शून्यता बुद्धदेशना में ही प्रतिष्ठित है। उसे अभाववाद नहीं मानना चाहिए। विज्ञानवाद के अनुसार बाह्यार्थ निषेध को भी वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक रूप में न समझकर उस पारमार्थिक रूप में समझना चाहिए जिसमें एक अतिवैयक्तिक अद्वैतविज्ञान ही ग्राह्य-ग्राहक भेद से विवर्तित होता है।

१९८८ के बाद के दशक में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी और संस्कृत परिषद्, लखनऊ के निमंत्रण से तीन व्याख्यानमालाओं के रूप में मैंने अपने मौलिक दार्शनिक विचार प्रस्तुत किये। पं० बदरीनाथ शुक्ल स्मृति व्याख्यानों के रूप में **भक्तिदर्शनविमर्शः** रचा गया। प्रो० सुब्रह्मण्यम अय्यर स्मृति व्याख्यानों के रूप में **सौन्दर्यदर्शनविमर्शः** रचा गया। ग्रिफिथ मेमोरियल लेक्चर्स के रूप में **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति** निबद्ध हुआ। पहले में दर्शन का स्वरूप, ईश्वर का प्रामाण्य एवं भक्ति की रसरूपता का प्रतिपादन किया गया है। दूसरे में भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की कल्पना, रूप की विभिन्न युगों में अवधारणाएँ, रस की संविद् विश्रान्ति रूपता और भावों की समाज सापेक्षता का प्रतिपादन किया गया है। तीसरे में तुलनात्मक धर्म-दर्शन को भारतीय आध्यात्मिकता के आधार पर निरूपित किया गया है।

१९९३ में मैंने हिन्दुस्तानी एकेडेमी में **साहित्य सौन्दर्य और संस्कृति** विषयक तीन व्याख्यान दिये जो इसी शीर्षक से पुस्तक रूप में १९९४ में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक के माध्यम से मेरा अभिप्राय साहित्य, सौन्दर्यशास्त्र एवं संस्कृति की सापेक्षता का प्रतिपादन करना है।

१९९१ में गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद द्वारा आयोजित पं० गोविन्द बल्लभ पन्त स्मृति व्याख्यानमाला के अन्तर्गत मैंने तीन व्याख्यान दिए जो १९९४ में **भारतीय समाज : तात्त्विक और ऐतिहासिक विवेचन** के नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ। इसके माध्यम से मैंने आधुनिक सामाजिक चिन्तन और पारम्परिक सामाजिक चिन्तन को

एक निष्पक्ष बौद्धिक मानदण्ड से जाँचने की चेष्टा की और इस बात का प्रयास किया कि समाज विषयक सनातनविद्या का अनुचिंतित सार संक्षेप में प्रस्तुत हो सके।

१९८८-८९ में शङ्कराचार्य की जयन्ती महोत्सव राष्ट्रीय स्तर पर मनाया गया। इस अवसर पर शंकराचार्य के विषय में ऐतिहासिक, दार्शनिक और साहित्यिक जिज्ञासा से प्रेरित तीन व्याख्यान मैंने हीरानन्द शास्त्री व्याख्यानमाला के अन्तर्गत दिए जो पुस्तक रूप में १९९२ में **शंकराचार्य : विचार और सन्दर्भ** नाम से प्रकाशित हुआ। इन व्याख्यानों में शंकर के इतिहास को उनकी आख्यायिका से अलग करने का और उनकी तात्त्विक विचारणा पद्धति, संगति, सन्दर्भ और सार्थकता के विश्लेषण का प्रयत्न पारम्परिक और नवीनतम ऐतिहासिक शोध दोनों की ही पृष्ठभूमि में प्रस्तुत है। १९९४ में **Life and Thought of Sankaracarya** नामक अंग्रेजी में प्रकाशित पुस्तक इस विचार शृंखला की अगली कड़ी है। जिसमें शंकराचार्य के जीवन- वृत्त, दार्शनिक चिन्तन एवं विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों से उनके संवाद की गवेषणात्मक प्रस्तुति है।

इसी अन्तराल में मैंने **अस्ताचलीयम्** नाम से प्राय: चालीस अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवियों की कुछ कविताओं का संस्कृत में काव्यानुवाद किया, जो कि वाराणसी से संस्कृत विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया। इसके कुछ समय बाद हिन्दी में **हंसिका** और **जया** नाम से दो कविता संग्रह प्रकाशित किये। इन दोनों संग्रहों की तरह ही इनमें एक प्रकार की आध्यान और प्रश्नाकुलता है जिसके विवादी स्वर के रूप में प्राकृतिक सुषमा की अनुभूति है। हिन्दी कविताओं के साथ ही मैं संस्कृत में भी कविताएँ लिखता रहा किन्तु उनका प्रकाशन बहुत बाद में **भागीरथी** के नाम से २००२ में हुआ।

लगभग १९९३ से देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय के निर्देशन में कार्यान्वित होती हुई भारतीय विज्ञान, दर्शन और संस्कृति के इतिहास की परियोजना में सम्पादक के रूप में सम्मिलित हुआ। पिछले नौ-दस वर्षों में मेरे सम्पादित दो बृहत्काय ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं—**Dawn of Indian Civilization, Life Thought and Culture in India.** और इसका तीसरा भाग **India and South-East Asia** प्रकाशमाधीन है, चौथे का सम्पादन चल रहा है। ये ग्रन्थ, इतिहास, संस्कृति और दर्शन की एक नवीन समन्वित धारणा को चरितार्थ करते हैं। इतिहास का अंतरंग भाग ज्ञान-विज्ञान और मूल्य-साधना के ताने-बाने से बुना हुआ है। इस धारणा को ऐतिहासिक साक्ष्यों

और कालानुक्रम के अनुसार निरूपित करना कठिन होते हुए भी अत्यन्त वांछनीय है। भारतीय संस्कृति में वैज्ञानिक साधना का महत्त्व भी इनमें प्रकाशित होता है।

इस अन्तराल में मैंने लखनऊ विश्वविद्यालय में प्रो० राधाकमल मुकर्जी व्याख्यानमाला में तीन व्याख्यान *प्राचीन सामाजिक इतिहास* पर दिये इनमें मैंने इस बात पर जोर दिया कि प्राचीन समाज का इतिहास धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र की परम्पराओं के गहन परिशीलन पर आधारित होना चाहिए, न कि आधुनिक चिन्तन में प्रचलित व्यवस्थापक प्रत्ययों और सूत्रों के आधार पर पुराने ग्रन्थों में बिखरे प्रकीर्ण तथ्यों की पुनर्योजना के द्वारा। १९९८ में डॉ० कान्ति चन्द्र पाण्डे की जन्मशताब्दी के अवसर पर लखनऊ विश्वविद्यालय में मैंने तीन व्याख्यान *अभिनवगुप्त के दर्शन* पर दिये जिनमें प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अन्य दर्शनों से संबंधों पर विचार किया। सन् २००० में स्विट्ज़रलैण्ड में आयोजित एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यूरोसाइंस सम्मेलन में भाग लिया और *चैतन्य के स्वरूप* पर एक व्याख्यान दिया जो बाद में भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला से एक पृथक् निबन्ध के रूप में प्रकाशित हुआ। २००१ में मुझे विज्ञान-दर्शन सम्मान दिया गया।

वैदिक अनुशीलन का जो सूत्र मैंने १९७८ में दुबारा आरम्भ किया था, उसको २००० में पूरा किया और **वैदिक संस्कृति** नामक पुस्तक २००१ में प्रकाशित की। इसमें वेदों की रचना तिथि, आर्य जाति का प्रश्न, वेदों के अनुवाद की विधि, वैदिक देवताओं का स्वरूप, यज्ञ का वास्तविक अर्थ, उपनिषदों की एक वाक्यता, भौतिक और आध्यात्मिक पक्षों का सम्बन्ध और वैदिक युग में विज्ञान का विकास इन सभी प्रश्नों पर विचार किया गया है। वेद के अनेक सूक्तों के अनुवाद विद्वान् पाठकों को बहुत पसन्द आये हैं। इस पुस्तक का विमोचन भारत के शिक्षा मंत्री प्रो० मुरली मनोहर जोशी ने किया था। भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के उद्घाटन भाषण के रूप में मैंने *चैतन्य और संस्कृति* विषय पर व्याख्यान दिया। चैतन्य और संस्कृति के विषय में जिस धारणा का सूत्रपात **Meaning and Processse of Culture** में हुआ था और जिसका आगे विस्तार गोपीनाथ भट्टाचार्य स्मृति व्याख्यान के रूप में जादवपुर विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में *संस्कृति और संस्कृतियाँ* शीर्षक से किया गया था, उसी की यह तीसरी कड़ी कही जा सकती है।

गाहासत्तसई का हिन्दी दोहों में अनुवाद मैं बहुत दिनों से कर रहा था। यह **महिलाएँ** शीर्षक से प्रकाशित हो गयी है। इसको पूरा करने में जया की ही प्रेरणा रही है। **हंसिका** और

जया की तरह यह भी यथार्थतः पत्नी को प्रथम पाठक के रूप में समर्पित है। मेरी यह धारणा बनी है कि इन गाथाओं का वास्तविक अर्थ अनेक बार टीकाकारों के द्वारा अनावश्यक रूप से घोर श्रृंगार के सन्दर्भ में किया गया है। वस्तुतः गाथाएं टीकाकारों के मध्यकालीन समाज की न होकर प्राचीन सातवाहन युग की हैं। उन्हें समझने के लिए एक ओर प्रेम की पुरानी धारणाएँ याद रखना आवश्यक है तो दूसरी ओर यह बात कि कविता का दोहरा सन्दर्भ होता है– अंतरंग और बहिरंग। इन प्रश्नों पर विस्तृत व्याख्या भी इस पुनस्सर्जना के साथ जुड़ी हुई है।

इन्हीं वर्षों में अनेक दार्शनिक विषयों पर मैंने लेख प्रकाशित किये, जैसे *काल की बौद्ध परम्परा में अवधारणा* अथवा *कारणता की बौद्ध अवधारणा* अथवा *शून्यता की अवधारणा* अथवा *पुनर्जन्म* अथवा *धर्मतत्त्व* इत्यादि विषयों पर।

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् एवं महामहोपाध्याय बलदेव उपाध्याय की स्मृति में आयोजकों की प्रेरणा से अप्रैल २००२ में मैंने सारनाथ में *दर्शन विमर्श* शीर्षक से चार व्याख्यान दिये जो अभी प्रकाशनाधीन हैं। इधर मैं ऋग्वेद का हिन्दी अनुवाद करने में लगा हूँ।

प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पाण्डे की तत्त्व-दृष्टि

यशदेव शल्य

पाण्डे जी का सृजन-कर्म अनेक आयामात्मक है—वे कवि हैं, दार्शनिक हैं और इतिहासकार हैं, और तीनों आयामों में उनका सृजन-कर्म अनेक सरणियों में प्रवर्तित हुआ है। उदाहरण के लिए उन्होंने काव्य-सृजन ही नहीं किया है, अंग्रेज़ी से कविताओं का संस्कृत में और प्राकृत भाषा की कविताओं का हिन्दी में काव्यात्मक अनुवाद भी किया है। इसी प्रकार, दर्शन में केवल मौलिक चिन्तन ही नहीं किया है, बहुत से प्राचीन भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों और दार्शनिकों पर व्याख्यात्मक लेखन भी किया है और अनेक ग्रन्थों के संस्कृत से हिन्दी में अनुवाद भी किये हैं। इतिहासकार के रूप में उन्होंने इतिहास-लेखन राजाओं की विजयों-पराजयों की कथाओं के रूप में नहीं कर वैचारिक विकास-परम्परा के रूप में किया है। इस क्रम में उनका नवीनतम बृहद् ग्रन्थ वैदिक संस्कृति है जिसमें उन्होंने वैदिक जीवन और चिन्तन का विस्तार और गहराई से अवगाहन किया है। 1963 में प्रकाशित उनका बृहद् ग्रन्थ **बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास** एक अद्भुत रचना है। अद्भुत इस अर्थ में भी कि उसमें अत्यन्त विशाल बौद्ध साहित्य का अत्यन्त गहन और सार-ग्राही विवरण दिया गया है और इस अर्थ में भी कि उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण बौद्ध दार्शनिक कृतियों का हिन्दी में जैसा प्रामाणिक और सम्यक् अनुवाद प्रस्तुत किया गया है, वैसा अन्यत्र अलभ्य है।

इतिहास-लेखन के सम्बन्ध में यह एक सर्वस्वीकृत बात है कि यह जितना वस्तुपरक होता है उससे कहीं अधिक कल्पना-परक होता है। इतिहास-लेखन में वास्तव में तथ्य लेखक की अर्थ-गवेषी कल्पना के लिए संकेत बनते हैं। किन्तु विचार का इतिहास लिखने में तो तथ्य भी विचार ही होते हैं। उनका इतिहासकार उतना ही सफल कहा जा सकता है जितना वह उस सत्य को गहराई और व्यापकता में देख पाता है जिसे अतीत विचारकों ने काल-क्रम में देखने का प्रयत्न किया होता है। इस प्रकार वैचारिक इतिहास-लेखन और कुछ नहीं होता सिवाय विशाल विचार-परम्परा में सहभाग लेने और उसका अवगाहन करने के। पांडे जी की पुस्तकें—**बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, ऑरिजिन्स् ऑफ बुद्धिज़्म, भारतीय परम्परा के मूल स्वर, फाउण्डेशन्स् ऑफ इण्डियन कल्चर, भारतीय समाज, लाइफ एण्ड थॉट ऑफ शंकराचार्य, शंकराचार्य, स्टडीज़ इन महायान, जैन पॉलिटी, वैदिक संस्कृति** आदि ग्रन्थ और अनेक लेख इसी प्रकार की रचनायें हैं।

किन्तु पाण्डे जी की सृजनात्मक प्रतिभा इतने मात्र से सन्तुष्ट होने वाली नहीं है, यद्यपि वैचारिक इतिहास के इस अवगाहन में सृजनात्मक कल्पना के लिए कम अवकाश नहीं होता। **भारतीय परम्परा के मूल स्वर और भारतीय समाज** जैसे ग्रन्थों के सम्बन्ध में तो यह कहना भी कठिन है कि इन्हें उनकी मौलिक चिन्तनपरक रचनाएँ कहा जाय या कि इतिहासपरक! वास्तव में ये प्रथम श्रेणी में अधिक आती हैं, द्वितीय में कम। किन्तु विचारक के रूप में पांडे जी में एक साथ दो व्यक्तित्वों का सहवास है और दोनों ही व्यक्तित्व समान

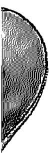


रूप से महिम हैं। अन्यथा क्या कोई उपर्युक्त वैदुष्य में परमोत्कृष्ट ग्रन्थों के रचयिता से कवि होने की, और वह भी प्रथम श्रेणी का, कल्पना भी कर सकता है?[1] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पाण्डे जी के औपचारिक रूप से विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग से जुड़े होने के कारण और इतिहास में भी उनका योगदान बहुत उत्कृष्ट और बृहत् होने के कारण दर्शन-क्षेत्र के कुछ प्रमुख विचारकों को छोड़कर शेष लोग उन्हें दार्शनिक के रूप में नहीं देखते जैसे कि उनके पाँच उत्कृष्ट कविता-संग्रह होने पर भी साहित्यिक लोग उन्हें दार्शनिक चिन्तक और दार्शनिक पण्डित के रूप में ही देखते हैं, हिन्दी कवियों में उन्हें नहीं गिनते। इतिहास के क्षेत्र में उनकी स्थिति और भी असमंजस है—इस क्षेत्र के प्राय: सब लोग उनके मुख्यत: वैचारिक इतिहासकार होने से और दार्शनिक होने से उन्हें दार्शनिक ही मानते हैं, इतिहासकार नहीं मानते। इस प्रकार जबकि वे इन तीनों क्षेत्रों में उच्चतम पद पर प्रतिष्ठापनीय हैं, तीनों क्षेत्रों के लोग उन्हें प्रथमत: अपने से दूसरे क्षेत्र का मानते हैं और केवल गौणत: ही अपने क्षेत्र का मानते हैं। किन्तु तब भी इन तीनों क्षेत्रों के विशिष्ट लोग, विशेषत: वे लोग जो उन्हें कुछ निकटता से जानते हैं, उन्हें तीनों क्षेत्रों में उत्कृष्टतम परिगणित करने में संकोच नहीं करते। मेरा यह सौभाग्यं है कि मैं उनकी प्रतिभा के कम से कम दो आयामों—दर्शन और काव्य-से गहराई से परिचित हूँ और उन के दोनों प्रकार के कृतित्व पर मैंने कुछ लिखा है।[2] यहाँ मैं उनकी तत्त्व-मीमांसीय दृष्टि को उनके दार्शनिक लेखन की समग्रता में लेते हुए प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँगा।

पांडे जी का सृजनात्मक दार्शनिक चिन्तन निम्न ग्रन्थों में निबद्ध है—**मूल्य-मीमांसा, मीनिंग एण्ड प्रॉसेस ऑफ कल्चर, भक्तिदर्शन विमर्श: और सौन्दर्यदर्शन-विमर्श:।** इनके अतिरिक्त बहुत से लेख। **अपोहसिद्धि** और **न्यायबिन्दु** की विस्तृत भूमिकाओं को भी इस वर्ग में रखा जा सकता है, यद्यपि उन्हें व्याख्यात्मक दार्शनिक कृतियों में रखना अधिक समीचीन होगा।

पांडे जी के तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त को आसानी से यथार्थवाद या आदर्शवाद, प्रत्यवाद या चिदद्वयवाद के अन्तर्गत परिगणित नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि यद्यपि वे चिदद्वयवादी हैं, किन्तु वे आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन से भी गहराई से परिचित हैं और उसका अपने चिन्तन में, यद्यपि पूर्वपक्ष के रूप में ही, आकलन करके चलते हैं। उदाहरणत: निम्न उद्धरण देखें—"चेतन सत्ता में वास्तविकता और मूल्यवत्ता का अन्वय व्यापक रूप से पाया जाता है। यदि इस तथ्य के साथ इस पर विचार करें कि विकास का क्रम सत् को जड़ता से अधिकाधिक उत्कृष्ट चैतन्य की ओर ले जाता प्रतीत होता है तो यह कल्पना संगत प्रतीत होगी कि वास्तविकता और मूल्यवत्ता दोनों ही सत् के अन्तर्निहित आयाम हैं। प्रतीयमान अर्थ में मूल्य का स्फुरण चेतना को अपनी ओर प्रवृत्त करता है और प्रवृत्ति में साधक बाधक के रूप में अर्थ के वस्तु-पक्ष का बोध होता है।"[3]

यह उद्धरण अत्यधिक अर्थ-गर्भ है और यह अर्थ बहुत व्यापक है। इसके अनुसार जड़ और चेतन दो पृथक् तत्त्व नहीं हैं, न ये एक-दूसरे में अन्तर्भाव्य और इस प्रकार अपृथक् ही हैं, न यही है कि चेतन जड़ का विकार है या जड़ में से नव्योत्क्रमित (इमर्जेन्ट) है। दूसरी



ओर, ऐसा भी नहीं है कि जड़ चेतना का आक्षेप या उसकी कल्पना मात्र है, जैसा वसुबन्धु या बर्कले कहते हैं। बल्कि, जड़ और चेतन दोनों एक ही सत् के अवर और वर स्तर हैं, अवर स्तर उसका जाड्य और वर स्तर चेतना है। फिर चेतना में भी वरता के अनेक स्तर हैं, जो विकास-क्रम में प्रकट होते हैं। यह विकास सत् में मूल्यानुसन्धित्सा को स्वरूपगत प्रकट करता है। अपने स्वरूप को पाने की उद्विग्नता जड़ से चेतना के स्तर पर और चेतना के ऐन्द्रिक स्तर से मनोमय, विज्ञानमय तथा अन्य ऊर्ध्वतर स्तरों पर उत्क्रमण की हेतु बनती है। अब, मूल्य और तथ्य या वस्तु क्या है? प्रवृत्ति की आत्मोन्मुख दिशा मूल्य का बोध देती है और बाह्योन्मुख दिशा वस्तु का। यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि इस प्रतिपादन में एक निहित चेतनाद्वयवाद है, क्योंकि यहाँ वस्तु को प्रवृत्ति के अन्तर्गत तत्त्व के रूप में देखा गया है और प्रवृत्ति चेतना का एक रूप ही है। किन्तु यह आक्षेप वस्तुमूलक धारणा पर प्रतिष्ठित है जो 'होने' को 'वस्तु रूप में होना' ही समझ सकती है और इस प्रकार जिसके लिए या तो जड़ और चेतन दो वस्तुएँ हैं या इंनमें से एक वस्तु है और दूसरा उसका विकार है। किन्तु पांडे जी इस भ्रान्तिमूलक पदावली में विचार नहीं कर रहे हैं, उनकी दृष्टि अधिक सूक्ष्म और मूलगामी है। उदाहरणतः ज्ञान और उसके विषय के सम्बन्ध में उनका प्रतिपादन देखें—

"ज्ञान की खोज का मुख्य लक्ष्य उसकी प्रामाणिकता न होकर उसका विषय होता है। इस अनुसंधान में प्रामाणिकता की खोज आनुषंगिक रूप से होती है। ... ..विश्वास के मूलाधार ही प्रमाण कहलाते हैं। ... ..वस्तुतः ज्ञान मात्र में एक नित्य साक्षिभाव विद्यमान रहता है। किन्तु अपनी उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति की विशेषता के अनुसार उसका विषय-सम्बन्ध विभिन्न प्रकार से होता है और यही प्रमाण-वैविध का कारण होता है। इन्द्रियों और मन के व्यापार से व्यक्त ज्ञान देश-कालोचित स्फुट प्रतिभास होता है, मन और बुद्धि के व्यापार से व्यक्त होने पर परिच्छिन्न अध्यवसाय होता है, शुद्ध बुद्धि मात्र से व्यक्त होने पर प्रज्ञात्मक होता है, केवल अपने आप में स्वप्रकाश मात्र होता है। ज्ञान की ये चार श्रेणियाँ विषय-ग्रहण, विषय-निर्धारण, विषय-साक्षात्कार और आत्मसाक्षात्कार कही जा सकती हैं। ... ..प्रामाणिकता ज्ञान को अलग मूल्य नहीं देती बल्कि ज्ञान को उसके व्यापारात्मक मूल्य के योग्य बनाती है। ... ..व्यापारात्मक ज्ञान का मूल्य किस बात में मानना चाहिए? ज्ञान विषय का तटस्थ प्रदर्शन करता है और उसके मूल्य से स्वयं उपरक्त नहीं होता। जल के 'वाक्य-ज्ञान' से प्यास नहीं बुझती न अच्छाई-बुराई के ज्ञान में अच्छाई-बुराई होती है। ... ..फलतः ज्ञान न केवल व्यवहार का साधक और साधना का अनुग्राहक है और इस प्रकार परम्परया मूल्यान्वित है अपितु स्वयं एक अनन्त साधनात्मक मूल्य है। ... ..ज्ञान को जब मानव-स्वरूप का विशेष और उत्कृष्ट गुण कहा जाता है तो ज्ञान का अर्थ न ऐन्द्रिय संवेदन है, न इन्द्रिय-संवेद्य प्राकृतिक वस्तुओं का बुद्धि-विकल्पात्मक ज्ञान है। उसका अर्थ तत्त्वों और आदर्शों का विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान है। इस प्रकार का ज्ञान संवेदन पर अनाश्रित, बुद्धि की स्वाधीनता की अभिव्यक्ति, दर्शन-पर्यवसायी और नित्य-तत्त्व विषयक होता है। जहाँ संवेदन अनित्य अर्थों का होता है अतीन्द्रिय बुद्धि-ज्ञान उन अर्थों के नियामक तत्त्वों का होता है।"[4] इस उद्धरण से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि पांडे जी सत् को दर्शन की प्रचलित



कोटियों—भौतिक और चेतन, या इनमें से एक—के रूप में नहीं देख रहे हैं। तब यहाँ प्रश्न हो सकता है कि, तो वे इसे किस रूप में देखते हैं? इसके उत्तर के लिए इस उद्धरण को ध्यान से समझने की आवश्यकता है। वे ज्ञान के करण इन्द्रिय, मन और बुद्धि को कहते हैं और आत्मतादात्म्य को भी ज्ञान ही कहते हैं जो स्पष्टत: करणोपकरणात्मक नहीं हो सकता। ज्ञान के इन चार रूपों के अनुरूप वे इनके विषय भी चार कहते हैं। अब, ये चार विषय मौलिक रूप से परस्पर भिन्न होते हैं, जो कि उनके द्वारा उन ज्ञानों की प्रमाण-व्यवस्था को परस्पर भिन्न कहने से स्पष्ट है। इस प्रकार इन्द्रिय-विषय विकल्प-विषय नहीं हो सकते और ये दोनों प्रज्ञा के विषय नहीं हो सकते और ये तीनों आत्मतादात्म्य परक ज्ञान के विषय नहीं हो सकते। पांडे जी के शब्दों में, जबकि संवेदन **अनित्य अर्थों** का होता है, अतीन्द्रिय बुद्धि-ज्ञान उन अर्थों के **नियामक तत्त्वों** का होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ज्ञान के ये दो विषय परस्पर पूर्णत: भिन्न हैं। प्रथम अर्थ-क्रिया-समर्थ है, जैसे जल प्यास बुझाने में और दूसरा वह नियम या तत्त्व जो इस अर्थ के जल होने का हेतु या विधायक है। यहाँ पूछा जा सकता है कि ये विषय क्या विषयतया ही भिन्न हैं या किं सत्तया भी भिन्न हैं? क्योंकि जबकि जल की अर्थता या वस्तुता और इस प्रकार सत्ता-सम्बन्ध स्पष्ट है, उसके जलत्व-विधायक नियम का कोई सत्ता-सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है, यह केवल विकल्पात्मक और इस प्रकार असत् ही प्रतीत होता है। किन्तु यदि ऐसी बात हो तो बुद्धि को ज्ञान का करण नहीं कहा जायेगा, केवल इन्द्रिय को ही कहा जायेगा। वास्तव में अधिकांशत: दार्शनिकों द्वारा ऐसा ही माना जाता भी रहा है। अधिकांश दार्शनिकों, विशेषत: वेदान्तियों और बौद्धों द्वारा निर्विकल्पक को अभ्रान्त ज्ञान और विकल्प को अनादि वासनामूलक या वस्तु पर चेतना की अतिक्रामी वृत्ति का आरोप कहा गया है। किन्तु उपर्युक्त उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है जैसे पांडे जी ऐसा नहीं मानते, वे इन्द्रियों के समान ही मन और बुद्धि को भी ज्ञान के करण मानते हैं और आत्मतादात्म्य को भी ज्ञान ही मानते हैं, और वास्तव में इन चारों को उत्तरोत्तर क्रम में प्रकृष्टतर ज्ञान मानते हैं। किन्तु यह प्रश्न पुन: प्रष्टव्य है कि इनके विषयों की भिन्नता ज्ञान-मूलक है या कि यह साथ ही सत्ता-मूलक भी है? यह एक नितान्त मूलगामी प्रश्न है। पांडे जी इसका उत्तर देते हैं कि 'सत्ता' को 'वस्तुता' से पृथक् करना आवश्यक है और तब कहा जा सकता है कि वस्तुता सत्ता की एक उपाधि मात्र है और इसी प्रकार अध्यवसाय और तत्त्व आदि भी उपाधियाँ ही हैं, सत्ता इन सब का एक और निरुपाधिक आधार है। इस आधार-सत् को पांडे जी चिदात्मक ही मानते हैं किन्तु यह चित् 'जड़ के विपरीत चेतन' या 'जड़ की विषय के रूप में अन्तर्निवेशिनी चेतना', 'विषयापेक्षी चेतना', या वसुबन्धु की विज्ञप्ति रूप नहीं है बल्कि इन सब आयामों को उपाधियों के रूप में धारण कर इनका अतिक्रमण करने वाली शुद्ध चेतना : चैतन्य: है। सत् के स्वरूप पर विचार करते हुए वे कहते हैं—"कुछ लोग यहाँ सन्देह करते हैं कि यह उत्कर्ष तो ज्ञान ही का होता है, केवल सम्भाव्य अर्थ का नहीं। चित्रकार की प्रतिभा, अथवा गणितज्ञ का ज्ञान, अथवा प्रेयस् की प्रतिपत्ति ये सब ज्ञान रूप से ही साध्य का निर्देश करते हैं, अपने विषयों के स्वतन्त्र अर्थ का नहीं। प्रतिभा-विषय अथवा विकल्प-विषय किस प्रकार की वस्तुतता का आश्रयण करते हैं इसे लेकर बहुत से परस्पर विरोधी मत हैं। बुद्धिगम्य तत्त्वों में सत् का उत्कर्ष होता हो या अपकर्ष, सत् के नियामक धर्म का बोध तो बुद्धि के द्वारा ही होता

है। जैसे-जैसे ज्ञान सूक्ष्म होता जाता है उसी अनुपात में प्रत्यय और उसके विषय का भेद भी क्षीण से क्षीणतर होता जाता है। उसमें बुद्धि द्वारा निर्धार्य आकार ही ज्ञेय विषय के रूप में आगे आते हैं। वे ज्ञानमात्रनिष्ठ होते हुए आन्तर, अनान्तर अथवा अबाह्य किसी अभौतिक तत्त्व-लोक अथवा भाव-लोक में व्यवस्थित होते हैं या कि बाह्य तत्त्वों के संकेत मात्र होते हैं, यह निर्धारित करना दुस्साध्य है। किन्तु तब भी, तत्त्व बुद्धि के निकटवर्ती होते हैं यह बात तो विवादास्पद नहीं ही है। इस प्रकार कर्म के अंगभूत प्रत्यक्षगत बाह्यार्थ विषयों के जगत् को छोड़कर और बुद्धि में आरूढ़ होकर ही तत्त्वों का ज्ञान होता है, जिससे प्रत्यक्षगत जगत् का वस्तुत्व भी पुनर्व्याख्यायित और अधिक विशद रूप में अवगम्य बनता है। बुद्धि भी तत्त्व-सोपान का क्रमशः आरोहण करती हुई जो परम तत्त्व को अधिगत कर विश्राम-लाभ करती है वही सत् का परम रूप होता है, ऐसा समझना चाहिए। ... ..अपने विषय की अवधारणा में बुद्धि सर्वत्र ही उत्तरोत्तर स्वतन्त्र होती चलती है, वह प्रत्यक्ष-गोचर विषयों की अवहेलना करके भी प्रत्यक्ष द्वारा प्रदर्शित विषयों को लिपि के समान संकेत रूप में देखती हुई उसमें निगूढ़ पारमेश्वरी सत्ता को उद्‌घाटित करती है।''[5] यहाँ पुनः विषयों का सत्ता-सम्बन्ध अस्वीकृत नहीं है। किन्तु यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यह सत्ता किस प्रकार की है? भौतिक अथवा प्राकृतिक या कि चिदात्मक? सम्भवतः पांडे जी का उत्तर होगा कि यह सत्ता परमार्थतः चिदात्मक ही है—पारमेश्वरी, किन्तु इसमें भौतिक का वही स्थान है जो चैत्त का है, दोनों उसकी उपाधियाँ हैं। इन्द्रियों को वह सत्ता भौतिक उपाधि में गम्य होती है और अन्तःकरण तथा बुद्धि को चैत्त उपाधि में गम्य होती है। यह निम्न उद्धरण से देखा जा सकता है—''यदि वस्तु-परिचय को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तक सीमित माना जाय तो फिर वस्तु-निर्धारण आधिभौतिक जगत् के एक परोक्ष और सम्भावनात्मक विज्ञान के अतिरिक्त सम्भव नहीं है। किन्तु प्रत्यक्ष को करणोपकरण पूर्वक मानना प्रत्यक्ष के स्वरूप के ही विरुद्ध है। वस्तुतः प्रत्यक्ष आत्मानुभूति को ही मानना चाहिए। तत्त्व को भी कार्यानुमेय उपादान मानने पर वह तत्त्व न रह कर अन्य सम्बद्धत्व रह जाता है। वस्तुवैलक्षण्य के रूप में अवधारित तत्त्व विकल्प-पर्यवसायी रह जाता है, क्योंकि लक्ष्य के बिना लक्षण का और लक्षण के बिना लक्ष्य का ज्ञान नहीं हो सकने से लक्षण संकेतमात्र और लक्ष्य बुद्धि-विकल्पमात्र सिद्ध होते हैं। अतएव तत्त्व को अपरोक्षानुभूति में प्रकाशित सत् नहीं कहा जा सकता। इस सत् के सम्प्रेषण के लिए शुद्ध बुद्धि तत् को नाना सांकेतिक तत्त्वों का रूप देती है।''[6]

अब, इसका क्या अर्थ है? अपरोक्षानुभूति क्या है? यह सविषया होती है या निर्विषया? सविषया होने पर यह बताना होगा कि इसका विषय अन्य विषयों से भिन्न किस प्रकार है और निर्विषया कहने पर यह बताना होगा कि यह अपरोक्ष किससे है? यह तो भावमात्रता ही कही जायेगी, 'होना मात्र'! किन्तु 'अपरोक्षता' में ऐसी इतरता पूर्वगृहीत प्रतीत होती है जिसके प्रत्यक्ष में व्यवधान निरस्त हो गए हों। ऐसी अपरोक्षता आत्मा से कही जाती है। शंकर और डेकार्ट ने आत्मा को ही ऐसा अपरोक्ष कहा है। किन्तु दोनों ने आत्मा की अपरोक्षता 'पूर्वगृहीतता' की युक्ति से की है—कि आत्मा में सन्देह में ही आत्मा पूर्वगृहीत रहती है। किन्तु यह आत्मा की अपरोक्षता नहीं है जो अपरोक्षता केवल अनुभूति में



ही सिद्ध होती है। इसमें ऐसा प्रकाश अपेक्षित है जिसमें आत्मा अपनी भावमात्रता में प्रकाशित होती है। वह तो शुद्ध बुद्धि ही है जो सांकेतिक रूपों के माध्यम से इसे ऐसे विषय रूप में जानती है जिसमें यह (आत्मा) अपने को जानने के लिए अपनी परोक्षता को कल्पित करती है। अवश्य ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष भी सत् का ही ग्राहक होता है, किन्तु यह शुद्ध बुद्धि के लिए संकेत बन कर ही यह हो सकता है, स्वयं से नहीं। स्वयं से वह अध्यवसायात्मक बुद्धि के योग से आधिभौतिक जगत् का ध्यायी ही हो सकता है, जो जगत् नितान्त पर रूप में एश्य और अन्वेश्य होता है। इसे पांडे जी ने मूल्यों में भूमि-भेद के रूप में व्याख्यायित किया है। वे कहते हैं—''उदाहरण के लिए गन्ध और स्पर्श के भोग की तुलना में रूप और शब्द के उपादान से सृष्ट कला में सौन्दर्योपलब्धि मूल्य की अधिक अभिव्यक्ति करती है। ऐसे ही कला से अधिक योग-समाधि में सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति होती है। ... ..मूल्यों में भूमि-भेद मानने पर भी यह अभी निश्चेतव्य है कि भूमियों का औत्तराधर्य किस प्रकार निर्धारित होगा? किन लक्षणों से मूल्योत्कर्ष व्यक्त होगा? मूल्य के तीन पक्ष हैं—साध्य विषय, उसकी निरूपक चेतना और उस चेतना में अन्तर्निहित आत्म-बोध। ... ..आत्मा के लिए परम साध्य नित्यसिद्ध और उससे अभिन्न है, किन्तु अज्ञान के कारण नाना अनात्म उपाधियों में उसकी अधूरी सूचना मिलती है और मानव-साधना को जन्म देती है। ... ..मूल्य-बोध में चेतना के चार पक्ष अलग किये जा सकते हैं—विषय-विकल्प, विषयाभिमुख्य या विषयाभिरुचि, दिये हुए विषय के द्वारा निरूपित अभिरुचि का विवेचन और चेतना का आत्मपरामर्श। विकल्प की अभ्रान्तता, गम्भीरता और व्यापकता, अभिरुचि की तीव्रता, स्थिरता, अक्लिष्टता, गम्भीरता, व्यापकता, अन्तर्विरोध-शून्यता, विवेक की गम्भीरता और सूक्ष्मता, एवं चेतना के आत्मपरामर्श की स्वस्थता, प्रांजलता, स्वप्रकाशता, सुखमयता, दुःखमुक्तता आदि मूल्य-चेतना के उत्कर्ष को ज्ञापित करने वाले लक्षण हैं। ... ..सामान्य बोध में आत्मा चित्तवृत्ति में और चित्तवृत्ति विषय में निमग्न रहती है। यह पराङ्मुखता ही अविद्या है और अनर्थ बोध को जन्म देती है। इसके विपीरत जहाँ तक विषय वृत्ति को प्रतिबिम्बित करता है और वृत्ति आत्मा को वहाँ तक प्रत्यङ्मुखता का जन्म होता है जो मूल्य-बोध को उपस्थित करती है।''[7] इस मूल्य-बोध की पराकाष्ठा आत्मतत्त्वबोध में होती है जहाँ बोध और भाव (होना) एक ही बात होते हैं। बोध और भाव के इस अभेद को सत् की पराकाष्ठा या परमता भी कहा जा सकता है।

X X X

पांडे जी की तत्त्व-मीमांसा को समझने के बाद उनके संस्कृति-दर्शन और कला-दर्शन का विवेचन सरल हो जाता है, क्योंकि ये उनके तत्त्व-दर्शन के तारतम्य में ही हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन दोनों क्षेत्रों में भी उनका योग-दान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

संस्कृति को पांडे जी इस प्रकार परिभाषित करते हैं—''संस्कृति का आविर्भाव व्यक्ति-चित्त में साक्षात्कारात्मक अर्थ (रेवेलेशन) के रूप में होता है और यह अर्थ सृजनात्मकतया प्रतीक के रूप में सामाजिक परम्परा में प्रवेश करता है। ... ..किसी संस्कृति को समझना ऐतिहासिक रूप से प्रदत्त प्रतीकों और अभिप्रायों के प्रसंग में मानव के

आत्मचरितार्थन की आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को समझना होता है।''[8] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि पांडे जी संस्कृति को किसी समाज की आर्थिक, औद्योगिक या यंत्रपरक उपलब्धियों से परिभाष्य नहीं मानते, यहाँ तक कि वे उसे उसके राजनीतिक व्यवहार, कला-रचनाओं और धार्मिक अनुष्ठानों से भी परिभाष्य नहीं मानेंगे, वे इन सबको समाज के आत्मानुसन्धान के लक्षणों के रूप में ही देखेंगे। इस प्रकार, किसी समाज में विज्ञान का प्रामुख्य है या धार्मिकता की प्रधानता है या दार्शनिकता की, यह सब इस बात पर निर्भर करेगा कि वह समाज अपनी आत्मा का तादात्म्य किस में देखता है, किस सिद्धि को आत्मसिद्धि के रूप में देखता है। वह विरोचन के समान देह को ही आत्मा देखता है या कि चित्त को, या कि इन्द्र के समान शुद्ध चैतन्य को! पांडे जी के शब्दों में—''तर्क किया गया है कि संस्कृति एक आकार या संस्थान रूप होती है और संस्कृति के सम्बन्ध में यह एक बहुत व्यापक मान्यता है। यदि संस्कृति विविध उद्योगों का संस्थान, या तकनीक-संस्थान या समाज-रचना नहीं है तो यह इन सब का और दूसरे कार्य-व्यवहार का समावेशी विशिष्ट प्रकार का सावयव गठन होता है।'' किन्तु संस्कृति विषयक इस प्रकार के बाह्यात्मक विचारों और परिभाषाओं का निराकरण कर वे कहते हैं—''एकत्व (सावयवता) का मूल आत्मचेतना में होता है। जब हम किसी संस्कृति में किसी चित्र से या दार्शनिक रचना से प्रभावित होते हैं तब उसके आधार में वास्तव में हम उसके रचयिता के आत्मचरितार्थन को ही देखते हैं। प्राकृतिक जगत् में यह सही भी हो सकता है कि अधिक जानकारी अधिक बड़े व्यवस्थान की ज्ञापक हो, किन्तु संस्कृति का जगत् स्वतन्त्र रूप से अस्तित्ववान् वस्तुओं का जगत् नहीं होता। संस्कृति की कोई भी शाखा प्रकृति के समान विषयवस्तुओं की सत्ता नहीं है। प्रकृतिविषयक लोकसामान्य धारणा के विपरीत, संस्कृति जगत् के सहभागी विषयों की प्रथम दृष्ट्या स्वतन्त्र सत्ता के जैसी सत्ता भी नहीं होती। सब प्रकार के सांस्कृतिक अनुभव अनिवार्यतया आत्मचेतनामूलक ही होते हैं। किसी वस्तु के संस्कृति की प्रतिमा होने के लिए उसका चेतना की अभिव्यक्ति होना अपेक्षित है।''[9] इससे ऐसा प्रतीत होगा जैसे पांडे जी मानो प्रकृति को एक पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता मान रहे हों। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रकृति की इतर के रूप में स्वतन्त्रता केवल चेतना का आत्मप्रकाश में सीमित होना ही है। वे कहते हैं—''सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रक्रिया 'इतर' का आत्मा से अभेद पाने की प्रक्रिया ही होती है। आत्मचरितार्थन की सम्पूर्ण प्रक्रिया यह बोध साधने की प्रक्रिया ही होती है कि इतर वास्तव में इतर नहीं है, वह 'आत्मा' से अभिन्न है। ... ..सर्वज्ञता वास्तव में आत्मचेतना द्वारा इतर सब का आत्मसमावेशन ही है, जिसमें विषयी और विषय में केवल प्रातीतिक भेद ही रहता है, वास्तविक नहीं।''[10]

संस्कृति को इस प्रकार आत्मा द्वारा समाज के माध्यम से अपने स्वरूप को पाने की प्रक्रिया, अथवा कहें अपने पर से अनात्म का आवरण निवारित करने की प्रक्रिया कहने का अर्थ है 'आत्मा' को 'वैयक्तिक अस्मिता' का पर्यायवाची नहीं देख कर वैयक्तिक अस्मिता को केवल औपाधिक देखना और इस प्रकार सांस्कृतिक अभियान-प्रक्रिया को आत्मा के आत्मचरितार्थन के वैश्व अभियान या प्रक्रिया के रूप में देखना। यह इससे और स्पष्ट हो जाता है कि पांडे जी विभिन्न संस्कृतियों को एक आधार संस्कृति के और विभिन्न इतिहासों

को एक वैश्व इतिहास के अंगों के रूप में ही देखते हैं। उनके अनुसार ''सिद्धान्ततः इतिहास केवल एक है जिस पर हम पहुँच सकते हैं और इस प्रकार एक ही संस्कृति, अथवा कहें एक ही परासंस्कृति है।''[11] संस्कृति विषयक इस तत्त्व-दृष्टि को आधार बनाकर ही पांडे जी ने भारतीय संस्कृति का विस्तृत और गहन अध्ययन **भारतीय परम्परा के मूल स्वर, फाउण्डेशन्स् ऑफ इण्डियन कल्चर** तथा **भारतीय समाज** आदि ग्रन्थों में किया है और **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति** में सब धर्मों की प्रकट विभिन्नता की एक आधार में प्रतिष्ठा प्रदर्शित की है।

इसी प्रकार कला के स्वरूप-विवेचन में भी पांडेजी की इसी तत्त्व-दृष्टि को देखा जा सकता है। कला के विवेचन में उनकी यह तत्त्व-दृष्टि रस-विषयक विचार में सर्वाधिक स्पष्टतया प्रतिपादित हुई है। इसमें सर्वप्रथम द्रष्टव्य है कि वे जिस प्रकार ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष को वस्तु-सत्य का ग्राहक देखते हैं उसी प्रकार बुद्धि को भी देखते हैं, और ठीक उसी प्रकार प्रतिभा को भी वस्तु-सत्य का ग्राहक ही देखते हैं। ग्रहण के ये रूप परस्पर आधारभूत रूप से भिन्न हैं यह स्पष्ट है और तब उसी प्रकार इनकी ग्राह्य वस्तुओं के रूप भी भिन्न हो जाएंगे। किन्तु जैसा कि हमने पीछे देखा, ये भेद केवल उपाधि-भेद मात्र हैं, मूल वस्तु एक ही है— आत्मा। किन्तु यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये सब वस्तु-सत्य के दर्शन के ही रूप हैं। पांडे जी इन रूपों में ऊर्ध्वाधर्य भी देखते हैं। ऐन्द्रिक वस्तु-ज्ञान और उसका ग्राह्य वस्तु-रूप जबकि अधस्तम है, प्रातिभ वस्तु-ज्ञान और उसका ग्राह्य वस्तु-रूप ऊर्ध्वतम है। यह प्रातिभ वस्तु-ज्ञान किस प्रकार का है? इसका आदर्श रूप वैदिक काव्य में देखा जा सकता है। वे कहते हैं—''वेद में काव्य की मूलभूत शक्ति, साक्षात् ज्ञान और मनीषा को एकात्मक माना जाता था। मानव-कवि दिव्य कवि का मात्र प्रतिनिधि था। साक्षात्कार, सर्जन-शक्ति, रचना और छन्द ये वास्तव में दिव्य चेतना की सम्पत्ति हैं। देवताओं को कवि, द्रष्टा और रूप-निर्माता माना जाता था। मनुष्य देवताओं का अनुकरण ही कर सकता था, शब्द-साम्राज्य में स्रष्टा का पद ग्रहण कर सकता था। किन्तु कवि जिसकी सृष्टि करता है वह देवेषित होने के कारण प्रामाणिक अथवा सत्य-सहित होना चाहिए।''[12] इसी प्रकार ''... ..संस्कृति के मूल पर्व में एक सनातन विद्या का उन्मेष देखा जा सकता है, जब प्रतिभाशाली पुरुषों की सहज बुद्धि दिव्य प्रेरणा ग्रहण करने में समर्थ थी, जब द्रष्टा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार प्राप्त कर शब्दों में उसकी सहज अभिव्यक्ति कर सके थे। यह वस्तुतः काव्य का मांत्र युग कहा जा सकता है जब 'कवि' शब्द मानवीय कवि और ईश्वर के लिए समान रूप से प्रयुक्त होता था।''[13] यहाँ जो विशेष बात उल्लेखनीय है वह यह कि पांडे जी यहाँ 'ज्ञान' शब्द के अर्थ को जो विस्तार दे रहे हैं वह यद्यपि वैदिक दृष्टि के अनुकूल हो सकता है किन्तु भारतीय परम्परा में स्वीकृत ज्ञान-विषयक दृष्टि से पूर्णतः समंजस नहीं है। भारतीय दार्शनिक परम्परागत दृष्टि ज्ञान को वस्तुतंत्र और वस्तु को पूर्वसिद्ध और स्व-तन्त्र सत् स्वीकार करती है और उसी के अनुसार ज्ञान का लक्षण त्रिकालाबाधितत्व स्वीकार करती है। इसलिए इस दृष्टि में सृजन के सत्य-संध होने के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। **ब्रह्मसूत्र भाष्य** में शंकर द्वारा 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र के भाष्य में 'धर्म' और 'ज्ञान' के भेद का विवेचन यहाँ ध्यातव्य है और

उनके ज्ञान विषयक इस प्रतिपादन को वास्तव में भारतीय दृष्टि का ही नहीं सामान्यत: सभी की दृष्टि का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। किन्तु पांडे जी की दृष्टि इस दृष्टि से भिन्न है, यह ऊपर हमारी व्याख्या से स्पष्ट है। इसी प्रकार पांडे जी रस का विवेचन करते हुए सत्यविषयक भारतीय धारणा का विस्तार करते हैं। उनके अनुसार ''कला जिस सत्य का अनुसंधान करती है वह सम्बन्धात्मक सत्य नहीं है, वह प्रतिविशिष्ट तथ्य का सत्य है। यह तर्क-गोचर न होकर भाव-गोचर है।''[14] यहाँ कहा जा सकता है कि 'तर्क-गोचर सत्य' और 'भाव-गोचर सत्य' में गोचरता समान होनी चाहिए और इस प्रकार सत्य भी समान ही होना चाहिए। यह सही है। किन्तु जो सत्य इन दोनों उपाधियों को धारण कर सकता है वह इन दोनों से अतिक्रांत ही हो सकता है। इस सत्य को त्रैकालिक और आत्मविश्रान्त तथा स्वलक्षण ही होना चाहिए। किन्तु ऐसा सत्य तर्कोपाधि में तो लक्षित हो सकता है, भावोपाधि में नहीं, जो सृजन-धर्मा है।

पांडे जी की तत्त्व-दृष्टि के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वे अद्वैतवेदान्त-परम्परा में एक मौलिक चिन्तक हैं और उन्होंने उस दृष्टि को विस्तार देते हुए साधारण लोक-जीवन से लेकर संस्कृति, समाज और कला तक विभिन्न पक्षों को उसके अन्तर्गत विवेचित किया है। शंकर ने भक्ति-काव्य की रचना करके भी[15] अपने दार्शनिक विवेचन में भक्ति पर न केवल कोई विचार ही नहीं किया है बल्कि उसके लिए कोई अवकाश भी नहीं रखा है। किन्तु पांडे जी ने उस दर्शन को इस प्रकार रूपान्तरित कर दिया है कि उसमें अनुभव के सभी आयाम अपना स्थान पा लेते हैं। इसके पीछे उनकी जो दृष्टि है वह रसविषयक प्राचीन चिन्तन के नवीकरण के उनके प्रस्ताव में देखी जा सकती है। वे कहते हैं—''यह सही है कि कुछ विद्वानों ने उसकी (रस की) शास्त्रीय चर्चा को फिर से प्रस्तुत करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है, किन्तु उसके अभी पुरानी पारिभाषिकता के दुर्ग से न निकलने के कारण उसको एक जीवन्त प्रत्यय के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, यह नहीं कहा जा सकता।''[16] पांडे जी वेदान्त दृष्टि को भी पारिभाषिकता के दुर्ग से मुक्त करने और उसे एक जीवन्त प्रत्यय के रूप में इस कारण प्रस्तुत करने में सफल हो सके हैं क्योंकि वे अद्यतन विचारों के घात-प्रतिघातों के जीवन्त सम्पर्क में हैं, जैसा कि उनके ग्रन्थों में अद्यतन पाश्चात्य वैचारिक वाङ्मय की आलोचनाओं से देखा जा सकता है।

पाद टिप्पणियाँ

1. द्रष्टव्य पांडे जी के **अग्नि-बीज** और **क्षण और लक्षण** काव्य-संग्रहों पर **माध्यम** पत्रिका में प्रकाशित हमारा लेख 'आधुनिकता, दर्शन और कविता' तथा **हंसिका** काव्य-संग्रह पर **साक्षात्कार** पत्रिका में प्रकाशित लेख 'एक हंस चेतना की काव्य-रचना।' ये दोनों लेख हमारी पुस्तक **साहित्य-चिन्तन और युग-चिन्तन**, राका प्रकाशन, इलाहाबाद (1998) में भी संकलित हैं।

2. पांडे जी की दार्शनिक कृतियों पर मेरे निम्न लेख द्रष्टव्य हैं—**साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति** पर 'साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति : एक तात्त्विक विवेचन', **मूल्य मीमांसा** पर 'मूल्य-विमर्श' और **भक्ति-दर्शन विमर्श:** पर 'भक्ति का दार्शनिक विमर्श।' ये लेख पहले क्रमश: **साक्षात्कार**, **नया**



प्रतीक और **उन्मीलन** पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए और अनन्तर **साहित्य-चिन्तन और युग-चिन्तन** लेख-संकलन में प्रकाशित हुए।

3. द्रष्टव्य पांडे, गोविन्दचन्द्र—**मूल्यमीमांसा**, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1973, पृ. 266
4. वहीं, पृ. 230-234
5. पांडे, गोविन्दचन्द्र **भक्तिदर्शन विमर्शः**, सम्पूर्णनन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1991, पृ. 661
6. पांडे, गोविन्दचन्द्र, 'तत्त्वमीमांसा का जन्म और निधन', **उन्मीलन**, षाण्मासिक दार्शनिक पत्रिका, अंक-1, वर्ष 1, 1985, पृ. 11-12
7. **मूल्य-मीमांसा**, पृ. 89-91
8. Pande, G.C. **The Meaning and Process of Culture** [Shivlal Agrawal, Agra, 1982] P. 2
9. वही, पृ.सं. 8
10. वही, पृ. 40-41
11. वही, पृ. 42
12. पांडे गोविन्दचन्द्र, **भारतीय परम्परा के मूल स्वर**, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1989, द्वितीय संस्करण, पृ. 108
13. पांडे, गोविन्दचन्द्र, **साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति**, हिन्दोस्तानी ऐकेडेमी, इलाहाबाद, 1994, पृ. 27
14. **मूल्यमीमांसा**, पृ. 105
15. द्रष्टव्य पांडे, गोविन्दचन्द्र **शंकराचार्य : विचार और सन्दर्भ**, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1991, अ.1 तथा **लाइफ एण्ड थॉट ऑफ शंकराचार्य**, मोतीलाल बनारसीदास, 1994, अ. 5
16. **भारतीय परम्परा के मूल स्वर**, पृ. 102.



आलोच्य मनीषी की 'दृष्टि'

सर्जक, चिन्तक और आलोचक आचार्य गोविन्द चन्द्र पाण्डे

आचार्य पाण्डे के सारस्वत व्यक्तित्व के अनेक पक्ष हैं । वे सर्जक, चिन्तक तथा आलोचक हैं। तीनों ही पक्ष अन्वित हैं और अन्विति का कारण उनकी भारतीय परिनिष्ठित आत्मवादी दृष्टि है। प्रौढ़ सर्जन, चिन्तन और आलोचन निर्दृष्टिक संभव ही नहीं है। प्राकृतिक वस्तुवाद अथवा वैज्ञानिकम्मन्य पदार्थवादी के विपक्ष में उनके दो दुर्निवार तर्क हैं – एक है अनुभूति सिद्ध सत्यों का अपलापन और दूसरा है असिद्ध संबंधों की कल्पना 1 । उदारहण के लिए मूल्य के बौद्धिक आकर्षण और उसमें प्रतीत आत्मिक स्वतंत्रता का किसी भी प्रकार की जैविक प्रवृत्ति अथवा तृप्ति से भेद अनुभव सिद्ध है। ऐसे ही मानवीय आचार को प्रेरित करने वाली जो विवेकमूलक संकल्प शक्ति है उसमें भौतिक कारणों के संबंध की कल्पना करना हेतु सिद्ध नहीं है। वे इसीलिए पुरुष का अर्थ या प्राप्तब्य धर्म और आत्म दर्शन मानते हैं 2 और मानते है कि पदार्थवाद की प्रचलित धारणा संस्कृति या धर्मप्रधान पुरुषार्थ व्यवस्था को मात्र अर्थ – काम की व्यवस्था बना देती है 3। जिस व्यक्ति की आस्था 'अयमेव परोधर्मः यद्योगेनात्मदर्शनम्' में हो – उसकी आत्मवादी दृष्टि में कौन अविश्वासकर सकता हैं 4 ?

मेरी धारणा है कि भारत की चाहे श्रमण धारा हो या ब्राह्मण, सभी आत्मवादी हैं – यहाँ तक कि नैरात्म्यवादी कहे जाने वाले बौद्ध भी। 'एकं सत् 5' को यदि ब्राह्मणधारा 'महतोमहीयान्' के कोण से देखती हुई 'ब्रह्म' संज्ञा देती है तो दूसरी और ✦ नैरात्म्यवादी कहे जाने वाले बौद्ध भी 'अणोरणीयान्' के कोण से देखते हुए 'शून्य' तक पहुँच जाते हैं । बुद्धि जितनी कोटियाँ जानती है उनसे वह तत्त्व विनिर्मुक्त है। वस्तुतः बौद्ध जिस आत्मवाद का खण्डन करते हैं वह अहंकारमूलक आत्मवाद है 7 – अन्यथा करुणा और महामैत्री की उद्भावना ही निरर्थक हो जायेगी। पर डॉ. पाण्डे की दृष्टि को केवल आत्मवादी कह देने

✦ टिप्पणी – आत्मानं किन्न गवेसेय्याथ – विनय महावग्ग

से काम नहीं चलेगा। भारतवर्ष में आत्मवादी प्रस्थान भी अनेक हैं जिनमें दृष्टि 8 भेद और संस्कृति भेद विद्यमान है। डॉ. पाण्डे यह भी मानते है कि यह मान्यता ठीक नहीं है कि उसी की दृष्टि एकान्त सत्य है। उन्होंने अपने पक्ष की पुष्टि में कहा है – 'भारतीय 9 परम्परा में भी बौद्ध वासनाभेद, जैन नयभेद, आभिनवगुप्त के तत्त्व सोपानभेद और मधुसूदन सरस्वती के प्रस्थान भेद के सिद्धान्तों में इसी प्रकार की दृष्टि पाई जाती है।'' उनकी विशाल लेखन राशि को सूक्ष्मता से देखने और परखने पर लगता है कि वे सबका पक्ष वाचस्पति मिश्रकी तरह वस्तुनिष्ठपद्धति पर प्रस्तुत कर देते है – इनका अपना पक्ष सरलता से ज्ञात नहीं होता। ''भारतीय परम्परा के मूल स्वर'' के प्रथम अध्याय (संभवामि युगे–युगे) का अंतिम प्रधट्टक लिया जा सकता हैं जहाँ लगभग सभी आधुनिक मनीषियों के मत वस्तुनिष्ठ ढंग से रख दिए गए है 10 । पर 'अध्यात्मविधा और योग' शीर्षक अध्याय को देखने पर लगता है कि उनका झुकाव उस अद्वैतवाद में है जो चेतना को विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक मानता हैं 11 । यह मत सर्वसमावेशी और समन्वयी लगता है। एक जगह डॉ. पाण्डे ने यह अवश्य कहा है एक ही शंकर के 'भाष्यकार' और 'स्तोंत्रकार' में कहीं अन्तर्विरोध लक्षित होता है 12 – सचमुच लगता है – कि भाष्यकार का ब्रह्म 'विमर्शहीन' है – उसमें क्रियाशक्ति नहीं हैं – पर स्तोत्रकार शंकर का परतत्त्व विमर्शयुक्त है। 'दक्षिणामूर्ति स्तोत्र' से प्रमाणित है कि वे शैवागम 13 मानते थे। शंकर की स्थिति विचित्र है। एक तरफ माना जाता है कि शंकर–दर्शन बौद्ध शून्यवाद का औपनिषद संस्करण है तो दूसरी और यह कि अति प्राचीन शिवाद्‌यवाद का आलम्बन करके शंकराचार्य ने अपना मत – स्थापन किया था। सूतसंहिता प्राचीन शिवाद्वैत सम्प्रदाय का ग्रंथ है। प्रसिद्धि है कि शंकर ने सूतसंहिता का अष्टादशवार आलोचन करके शारीरक भाष्य की रचना की थी।

तामष्टादशधालोच्य शङ्करः सूतसंहिताम् ।
चक्रे शारीरकं भाष्यं सर्ववेदान्त निर्णयम् ।।

यह सब सही है – पर शंकर जैसा महायोगी और महाज्ञानी इनसे – उनसे कुछ लेकर अपना मत बनाता हो – इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उन्होंने ऐसा प्रबंध

कर दिया था जिससे समग्रदेश की जनता उनके द्वारा प्रचारित धर्म का गर्ग ग्रहण कर सके। कविराजजी का कहना है – "यदि श्रीविद्यार्णव का मत सत्य मान लिया जाय तो मानना होगा कि उन्होंने जैसे एक ओर गृहत्यागी संन्यासियों के लिए ज्ञानमार्ग का उपदेश किया था वैसे ही पक्षान्तर में गृहस्थों के लिए उपासना मार्ग भी प्रकाशित किया था।"15

इस विस्तृत अनङ्ग कथन से डॉ. पाण्डे के द्वारा समुत्थापित शंकर के मतों में अन्तर्विरोध पर विचार करने में सुगमता होगी। वे भी अपने ढंग से अन्तर्विरोध का परिहार कर समन्वयी पद्धति अपनाते ही हैं। यह समन्वय पराचेतना के विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक मानने में निहित है। ज्ञानमार्ग के अधिकारियों में शुद्ध वासना होती ही नहीं – अतः उसकी स्वारसिकी तृप्ति के लिए ज्ञानोत्तराभक्ति की उन्हें अपेक्षा ही नहीं हैं। ज्ञानोत्तराभक्ति नित्य, चिदाह्लादयय विम्वात्मा, स्वरूपात्मा विमर्श शक्ति ही है – ज्ञानमार्गी की दृष्टि से उसकी उपयोगिता ही नहीं है – अतः वह ज्ञानमार्ग के कूटस्थ ब्रह्म में अनुन्मीलित है। भक्ति मार्ग में उसका उन्मीलन है। शुष्क और द्रवशील स्वभाव के कारण एक के लिए संसार अज्ञानकल्यित और हेय है जबकि वह दूसरे के लिए उन्मीलित शक्ति का ही महाविस्फार है। अतः डॉ. पाण्डे का यह पक्ष संगत है कि कोई भी पक्ष एकान्त सत्य नहीं, दृष्टिभेद से ही उपादेय होता है। इस प्रकार मुझे लगता है कि डॉ. पाण्डे की दृष्टि उस अद्वैती चेतनावाद के पक्ष में है जो उसे विश्वात्मक और विश्वोत्तीर्ण मानती है। वे वस्तुनिष्ठ ढंग से सबका पक्ष प्रस्तुत कर दृष्टि भेद या साधनाभेद से ही संगति निरूपित करते हैं।

उनकी यही द्वयात्मक अद्वयवादी दृष्टि उनके समन्वयी और वस्तुनिष्ठ चिन्तन में अंतर्हित है। रही बात सर्जना और आलोचना की, उसकी भी चर्चा करते हुए डॉ. पाण्डे कश्मीरी आगमिक आचार्यों की ओर ही उन्मुख होते हैं। उन्होंने अभिनव गुप्त और आनन्दनर्धन – दोनों का साक्ष्य देते हुए कहा है – "साहित्य 16 रचना और समीक्षा अनिवार्यतया न केवल रचनाकार और समीक्षक की चेतना से जुड़ी है बल्कि एक बृहत्तर चेतना से जुड़ी है जिसका एक अंश सामाजिक और दूसरा कई अर्थों में अतिसामाजिक

होता है। अभिनव की एक प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार रचनाकार की कारयित्री प्रतिभा और सहृदय की भावयित्री प्रतिमा – दोनों एक ही सारस्वततत्त्व के दो पक्ष हैं जिन्हें प्रख्या और उपाख्या कहा गया है। इसका तात्पर्य यह माना जा सकता है कि साहित्यसंसार में व्याप्त एक ही चेतना प्रतिभा को प्रेरित करती हैं और उसके विवेचन का आधार भी बनती हैं।'' एक प्रकार से उनका चिन्तक, सर्जक और समीक्षक इसी उक्त दृष्टि या चेतना से व्याप्त हैं – इसीलिए उनमें अन्विति हैं।

जब डॉ. पाण्डे 'भागीरथी' में कहते हैं ''जनायना वागेव काव्ययोनिः प्रतिभा समीरिता सैव ध्वन्यात्मकानर्थान् प्रकाशयति'' (पृ. 92) अर्थात् जनता की भाषा में सोया हुआ काव्य प्रतिभा – समीरित होकर ध्वन्यात्मक अर्थों को प्रकाश में आने लगता है तब में उक्त धारा के ही चिन्तक लगते हैं। वे मानते हैं कि कवि की प्रज्ञा समुद्र की तरह अनन्तरूप है –

एवं वाचि जनस्य काव्यविभवे रम्यध्वनिः प्रातिभः

(पृ. 92)

मुद्रा राति मुदं समुद्र भवतः प्रज्ञा कवीनामिव

''उक्त अवधारणा कश्मीरी साहत्यिक और आगमिक आचार्यों की ही प्रतिध्वनि है। इन्हें द्वयात्मक अद्वयवादी आत्मदृष्टि में विश्वास है। डॉ. पाण्डे ने अपने 'जया' 'हंसिका' आदि काव्य संकलनों की भूमिका में भी कवि की प्रत्यभिज्ञा जिन अभिज्ञानों से कराई है – वे भी इसी प्रस्तावित दृष्टि की पुष्टि करते हैं। उनके लिए कविता परोक्ष, वक्र, व्यंजक और सर्जक शब्द प्रयोग है। इन अभिज्ञानों की व्याख्या इसी प्रस्तावित दृष्टि से संभव है। जब वे प्रख्या और उपाख्या को जिस चेतना के दो पक्ष कहते है और उसे सामाजिक और अतिसामाजिक निरूपित करते हैं तब उनकी संगति इसी दृष्टि से लगती है। रचनाकार की व्यक्ति चेतना इसी महाचेतना में आत्मविसर्जन कर विशिष्ट सर्जन की संभावना पैदा करती हैं।

इसी प्रस्तावित दृष्टि से उनकी अन्यान्य मान्यताओं की भी ठीक – ठीक व्याख्या हो सकती है – तभी वे ठीक – ठीक समझी जा सकती हैं। साहित्य विषयक मान्यता की चर्चा ऊपर की ही जा चुकी हैं। 'संस्कृति' विषयक उनकी मान्यता को भी लें। विश्ववारा

संस्कृति संस्कार का पर्याय है – पर विद्याके साथ । वह Culture का अनुवाद नहीं हैं। उनकी धारणा है "संस्कारों के माध्यम से ही अपूर्ण मानवीयकर्म अपने पूर्णार्थ से जुड़ सकते 18 हैं।" यह निष्ठा ही पारंपरिक भारतीय समाज – व्यवस्था का आधार है। संस्कार पर विचार करते हुए वे मानते हैं – "मनुष्य 19 की बौद्धिक प्रवृत्ति में एक दिव्य बीज अंतर्निहित है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति के संस्कार की अपेक्षा है – आवश्यकता है। देव – शक्ति की ओर उन्मुख भाव से त्याग पूर्वक कार्यसम्पादन ही सम्यक् कृति या संस्कृति हैं जो कालक्रम से प्रकृति गर्भ से देवत्व के अवतार का हेतु बनती हैं। देवत्व के अनुविधान से मानवीय स्तर पर दिव्यत्व का प्रकाशन ही मनुष्य का धर्म हैं। इस प्रकार पुरूष का अर्थ या प्राप्तव्य मात्र प्राकृतिक अर्थ से भिन्न ठहरता हैं।" पाण्डेजी इस संदर्भ में जिस धर्म की बात करते हैं – वह Religion और मजहब से अपनी मूल प्रकृति के कारण भिन्न है। वे मानते हैं "धर्म विशुद्ध पारमार्थिक सत्ता की अंतः प्रेरणा 20 हैं" – इसीलिए मानव स्मृति में धर्म को लक्ष्य करते हुए प्रायः कहा जाता है – "आत्मनस्तुष्टिरेव च" "हृदयेनाम्यनुज्ञातः" तथा "स्वस्य च प्रियमात्मनः"। धर्म के विषय में मात्र धर्मग्रंथ, ऐतिहासिक धार्मिक नेता या संस्था ही नियामक नहीं हैं – स्वयम् धार्मिक की अन्तरात्मा की अंतः प्रेरणा भी योगदान करती है। इसी माने में वह Religion और मजहब से भिन्न होकर मनुष्य को पशु से भी भिन्न करता हैं।

<u>"धर्मोहि तेषामाधिको विशेषः"</u>

"यह धर्म आदर्श को चरितार्थ करने के साधन के रूप में भी धर्म है और साधन के द्वारा अभिव्यक्त ज्ञान, शील एवं मर्यादाओं के रूप में भी धर्म 21 हैं।" उसकी दृष्टि से "साध्य और साधन का मौलिक अभेद है। साध्य की भावना ही साधना है और भाव्यमान साध्य ही यथार्थ या परिनिष्पन्न साध्य के रूप में व्यक्त होता है।' इसीलिए वे संस्कृति पर विचार करते हुए मानते हैं " सार्थक जीवन विधा के आदर्श नियामक के रूप में संस्कृति को लेने पर उसका समानान्तर प्राचीन भारतीय शब्द 'धर्म' 'सनातन धर्म' अथवा 'सद्धर्म' या आर्यधर्म है। धर्म सनातन और सार्वभौम होने पर भी देश, काल, जाति, पात्र एवं अवस्था के अनुसार

व्यवस्थित होता है"। संस्कृति अथवा धर्म की अवधारणा (भारतीय) उसे कालानुसार व्यक्त किन्तु परमार्थतः सनातन साध्य एवं साधन रूप मानती है। इसीलिए भारतीय परम्परा में नैतिक और आध्यात्मिक साधना संस्कृति की प्राणभूत रहती है। इस साधना का मार्ग स्वधर्म के पालन से आरम्भ होकर चरम सत्य के साक्षात्कार और जीवन मुक्ति तक विस्तृत है। साध्य – साधन की यह परम्परा ही मूल 22 भारतीय संस्कृति है।

इसी चिन्तन परम्परा में यह बात भी समझ में आती है कि 'संस्कृति' वह तत्त्व है जिसके अनुभव से हम 'अविभक्त' अनुभव करते हैं और विकृति वह है जिससे हम अपने को 'विभक्त' अनुभव करते है। इस क्रम में संस्कृति और धर्म एक अखण्ड निर्विशेषण तत्त्व है। हजारी प्रसाद द्विवेदी उस सार्वभौम स्तर या अखण्ड तत्त्व (चिन्मयी मानवता) की ओर विश्व की जय यात्रा का संकेत करते हैं – पर म.म. कविराज जी मानते हैं कि भारत को उस अखंड सत्य का पता है। इस प्रकार संस्कृति को परम्परा या भारतीय परम्परा के संदर्भ में वे 'संस्कार' भी मानते है जो विद्या में पर्यवसित होता है और 'सम्यक् कृति' को भी संस्कृति कहते हैं। उसे निर्विशेषण अखण्ड धर्म के समानान्तर भी प्रयुक्त मानते हैं और मानते हैं कि वह साधनात्मक भी है और अंततः साध्य भी । संदर्भ – भेद से उभरने वाली संस्कृति विषयक ये अवधारणाएँ परम्परा में तभी अन्वित होती हैं जब उनको द्वयात्मक अद्वय परक आत्मवादी दृष्टि से देखा जाय।

संस्कृति के साथ उन्होंने साहित्य, कला और सौंदर्य पर भी अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। वे कहते हैं – "आर्ष 23 और लौकिक दोनों ही परम्पराओं को उनके कलात्मक मूल्यबोध की दृष्टि से विभिन्न अर्थों में रससृष्टि की ही परम्पराएँ कहा जा सकता है। वैदिक 'रसों वैसः' और भरत के रससूत्र की पारमार्थिक एकवाक्यता अंततः भक्ति रस की आवधारणा से स्पष्ट होती है। यह रस सृष्टि शब्द, नाद और रूप के माध्यम से तीन विविक्त साधनाओं में प्रकट हुई है । तीनों का रसदृष्टि का संयोजन किया गया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय कला विश्व की अनुभूति पर आश्रित पारम्परिक विचार धारा का निर्गलितार्थ 'रस' पद वाच्य है। रस को प्रकाशित करने वाली शब्द, नाद

अथवा रूप की रचनाएँ ही उत्तमकोटि की कला कही जानी चाहिए और रस ही कला का चरम अर्थ एवं सौंदर्य शब्द का वास्तविक लक्ष्य माना जाना चाहिए।"

इस प्रकार हम देखते हैं संस्कृति, साहित्य, कला, सौंदर्य तथा भक्ति अथवा भारतीय समाज परक जो भी उनकी मान्यता है वे सब उनकी द्वयात्मक अद्वय परक आत्मवादी दृष्टि से ही व्यक्त हुई हैं। रस को ही लें – जो सबका निर्गलितार्थ है – इसी दर्शन से संगत ठहरता है। यहाँ द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन की द्वयता भी है और अंततः ये सब एक अद्वय की ही विभिन्न भूमिकाएँ है।' निष्कर्ष यह कि इनका समूचा चिन्तन, सर्जन और आलोचन इसी द्वयात्मक अद्वयपरक आत्मवादी भारतीय पारम्परिक दृष्टि से प्रसूत है – फलतः अलग – अलग होकर भी उनमें एक अन्विति है।

रा० त्रिपाठी

राममूर्ति त्रिपाठी

उज्जैन

संदर्भ

(1) भारतीय परम्परा के मूलस्वर तृ.सं. पृ. 4,5

(2) वही, पृ. 3

(3) वही, पृ. 5

(4) वही, पृ. 11

(5) ऋग्वेद

(6) भारतीय परम्परा के मूलस्वर – पृ. 31

(7) स्कन्दगुप्त (नाटक) पृ.505 जयशंकर प्रसाद ग्रंथावली, नाटकखंड, 1988

(8) साहित्य, सौंदर्य और संस्कृति – पृ. 17 सन् 1994

(9) वही, पृ. 18

(10) भारतीय परम्परा के मूलस्वर – पृ. 21

(11) वही पृ. 31

(12) गोपीनाथ कविराज, पृ. 35 सन् 1993

(13) भारतीय संस्कृति और साधना, भाग 1, पृ. सं. 135

(14) वही – पृ. स. 112

(15) वही

(16) साहित्य, संस्कृति और सौंदर्य, पृ. 45

(17) भागीरथी – पृ. 82, 83

(18) भारतीय समाज – पृ. 78

(19) भारतीय परम्परा के मूलस्वर – पृ. 2

(20) भारतीय समाज – पृ. 50

(21) भारतीय समाज – पृ. 48

(22) वही – पृ. 11

(23) सहित्य, सौंदर्य और संस्कृति, पृ. 30

CULTURE AS REALIZATION : The Primacy of A Metaphysical Alternative

This is a small note on Prof. G.C. Pande's book "The Meaning and Process of Culture",highlighting some of the issues dealt therein . It is neither possible nor desirable to arrive at a satisfactory definition of the term 'Culture' as this concept designates a polymorphous reality, implying complex meanings and significances 'Culture' can be studied from the humanistic, anthropological, sociological and an axiological point of view. Prof. Pande takes an axiological standpoint and defines culture as the tradition of values, of self-realisation'. He further states that, values are the objects of valuing, a fundamental human activity. Valuing implies seeking, choosing, approving." [1]

From the earlier period of human society, man has created values, as mere facts never satisfied him. He has consistently examined facts in terms of meanings and values. The human tendency to evaluate factual realities in terms of ends and means is the proof of man's interest in those objects and activities, which carry some value. As constituents of culture only those ideas, habits and technical processes were evolved by man, which contributes to the enrichment of life that 'entails' deep changes in man's personality.[2] Culture is man's greatest difference from animals. This difference is not biological, but social, constantly developing and acquiring increasing multiformity corresponding to the multiformity of conditions of existence of various peoples, their histories, development and social reform. Culture is nothing but the ever changing and developing human nature in the entire multiplicity of objectivization of human activity. The Human activity is objectivized not only in material objects, but spiritually, as well, since man's education, professional skills and talents works of art and science, for all their material "tangibility" are objectivizations of social consciousness and knowledge. The same is true for spiritual needs as cultural phenomena which they are

[illegible] REALIZATION: The Promises of a Nihilistic [illegible] Alternative

This is a small note on Prof. G.C. [illegible]'s book "[illegible] and [illegible] Culture" highlighting some [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] desirable [illegible] [illegible] of the term Culture [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], including the meaning and [illegible] [illegible] cultural [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] point of view [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] Values [illegible]. He [illegible] values are the objects [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], seeking, choosing, approving [illegible].

[illegible] in the earlier period of human [illegible] [illegible] [illegible] never [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] and values. The human tendency to evaluate [illegible] [illegible] [illegible] is the proof of man's interest in [illegible] [illegible] and [illegible], which [illegible] some value. As constituents of [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] processes were evolved by man, which contributed [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] deep changes in man's [illegible] Culture is what [illegible] [illegible] from animals. This difference is not [illegible] [illegible] [illegible] and [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] conditions of [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] is nothing but the [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] the entire multiplicity of [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] not only in material [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] material [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] The [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

necessarily objectivized, all the while remaining spiritual rather then material needs. Thus Prof. Pande maintains that "the objects which enter as elements into a culture are not 'natural' or independent or self-subsistent. They are dependent on a self-consciousness and, as items in it; their status is symbolic or expressive. What they express is a certain self-realisation".

Thus we can say that culture of a person consists as sense of values fashioned in the light of his knowledge. The consciousness that constitute culture is as much a value consciousness as it is factual consciousness; it is the consciousness of the actual and the possible apprehended as significant. Man is constantly picturing to himself the possibilities of his existence; these possibilities constitute the values for which he lives. Being conscious of these possibilities man succeeds in emancipating himself from the order of factual necessity and in effecting his entry into the realm of values. To live in the realm of values, is for him to be attached to and anxious for things whose existence is bound up with his own creative longings and aspiration with the requirements of his specifically human or spiritual self.

Prof. Pande further states that, "human nature exists at many levels, from the biological to the purely spiritual, seeking self-fulfillment at each level. Consequently the gamut of values extends from self-preservation to mystical communion. Since the lower realization are only virtual (aupadhika), they contain an inherent urge for self-transcendence. From the lower realizations of the self in terms of finite accidents (upadhis) to their complete transcendence is pure self-experience, the human seeking follows a process of dialectical evolution." [4] Thus the phenomenon of culture is characterized by its inherent dynamism, its growth, its manifestation in the various aspects of human and social life. The growth is from the gross empirical to the trans-empirical. It is an impulse which perpetually drives man towards, 'something beyond' his awareness of existence and qualifies himself by the disciplined progress for the realization of this 'something beyond'

within himself. Thus we find that in 'culture' there is a definite shift of emphasis from the external to the internal, from objective to the subjective. Man develops fine susceptivity, to physical, mental, moral and spiritual stimuli that produces an openness in thought and action and makes man surrender his self love and self seeking, and brings out the inherent nobility in him. It follows that man as a mystery ennobles the development of culture from nature. As Wittgenstein remarks, "These are indeed things that cannot be put into words. They make themselves manifest. They are what is mystical." [5] This point of view suggest that man is mysterious in his cultural situation because his nature is a bundle of paradoxes.

The relationship between man and culture is thus as diverse as the ways in which man may be conceived, in different ways, and that each of these different conceptions have a profound influence on the way a society and culture shape themselves, is perhaps the most important thing that can be said about man himself. Prof. Pande states that "the distinction between 'selves' or between 'self' and 'nature' is the product of analysis within experience. Cultural differences arise from the manner in which social experience is analysed and articulated into concepts, symbols and attitudes."[6] It implies that each man has own experience of life within himself, in accordance with the interaction with nature and with other people. Each has made its own response to the challenges of life and drawn there from its own lessons regarding what promotes and what destroys life in its many dimensions. It is important here to note the type of question that is being answered. It is not merely one of tactical adjustments in response to temporary threats, nor is it a pragmatic question of appropriate means. Rather, the question is what we wish to realize above and through any and all such expediencies. What is taking place is the progressive uncovering of the meaning of life and of the values which are worthy of commitment. According to Prof. Pande, "Culture is the social expression of value-seeking and history is its process. Human history must in

effect aspire after being a spiritual autobiography of man, a 'discovery of lost times' which is simultaneously a creative transformation of the present, a discovery of what is hidden in the past experiences of the soul'. History is at once 'remembrance of what really happened' as well as 'coming to learn from critical enquiry' where learning and criticism relate to the self".[7]

There is a difference between human history and natural history. Natural history is governed by the adaptation of the organism to the environment in the struggle for existence, and the development of more efficient anatomies. The historian of man to Prof. Pande should not confine himself to the transformation of social anatomies in the process of the struggle of societies with nature and each other. He ought to seek penetrate to the heart of the tradition of value seeking and appraise historical action from within as it were, and trace the activities of social organism in their controlling center in the hierarchical configuration of value and the success of social enterprise in the light of its latent values and the values themselves in their dietetically dynamic relationship with historic effect."[8] Thus in this the collective will of persons is central. What people finds true in terms of its appreciation of meaning and value is accepted and reaffirmed, what is discovered to be degrading and destructive tends to be disavowed, rejected and discouraged. Thus tradition differs from natural history. It is not all that has happened in the past, for that would include the bad as well as the good; "Tradition is communion with the past, a continuing dialogue which reinterprets the past and also the present. The aspect of tradition is fundamental to the awareness of values"[9] is accepted by Prof. Pande. Tradition, therefore, is what has promoted and passed on.

The development of values and virtues and their integration as a culture of any depth or richness takes time, and hence depends upon the experience and creativity of many generations. The culture which is handed on or tradita, comes to be called a cultural tradition; as such it reflects the cumulative

[illegible] being a spiritual autobiography of man, a "discovery" of [illegible] simultaneously a creative transformation of the present, a [illegible] hidden in the past experiences of the self. History is at once [illegible] what really happened" as well as "coming to learn from critical [illegible] and criticism relate to the self."

[illegible] There is a difference between human history and natural history. [illegible] governed by the adaptation of the organism to the environment [illegible] for existence, and the development of more efficient adaptive [illegible] of man to Prof. Pande should not confine itself to the [illegible] of social autonomies in the process of the change of society [illegible] each other. He ought to seek meaning in the realization of [illegible] and approved historical action from within. [illegible] of social creation in their competing [illegible] the natural [illegible] of value and the success of social change in the light of [illegible] and the values themselves in their [illegible] historical values.[illegible] Thus in this the ... [illegible] in terms of its appreciation or [illegible] fulfilment, what is, the extent, to be [illegible] disavowed, rejected and disowned. The tradition differs from [illegible] not all that has happened in the past, for that would [illegible] the good. Tradition is [illegible] with the [illegible] continuity of the past and also the present. The [illegible] of tradition [illegible] our awareness of values" is [illegible] has promoted and preached.

The [illegible] culture and [illegible] of any depth or richness [illegible] experience and creativity of [illegible] generations. The [illegible] tradition, comes to be called a cultural [illegible]

achievement of people in discovering, mirroring and transmitting the deepest meanings of life. The cumulative process of transmitting, adjusting and applying the values of a culture through time is not only heritage or what is received, but new creation and this is passed on in the new ways. Taking tradition in this active sense, allows us not only to uncover the permanent and universal truths which Socrates sought, but to perceive the importance of values we receive from the tradition and to mobilize our own life project actively towards the future. Tradition, then, is not, as in history, simply everything that has ever happened, whether good or bad. It is rather what appears significant for human life; it is what has been seen through time and human experience to be deeply true and necessary for human life. It contains the values to which our forebeares first freely gave their commitment in specific historical circumstances and then constantly revived and rectified and progressively passed on generation after generation.

Prof. Pande talks of the unity in culture as a unity which belongs to the subject; it is the unity of cultural awareness. To him, unity is found in self-consciousness. He says 'whenever we are impressed in a culture by a painting or a philosophy, the really unifying thing is the unity of self-consciousness: unity of the feeling that the self is realized through these... For something to become an image of culture, it has to become expressive of awareness.'[10] A unity of culture seems to be a polysematic concept, with multiple openings, horizons and aspects. Most researchers conclude that to seize the unity of culture means defining it by its "invariants"; recovering, organizing and generalizing common elements of culture as a specifically and exclusively human creation. From the creators point of view culture means values, therefore, human meanings and choices, internationality and purpose, human prospects and ideals. As a unitary concept with universal openings, humans are the basis of a universal calling also to the specific dimension: Culture. That is, culture is unitary, because there is a unitary human nature from which it springs, a way of existence that is specific to mankind.

[illegible] in discovering, [illegible] and transmitting the [illegible] cumulative process of [illegible] and [illegible] through time is not only [illegible] or what is received but [illegible] passed on in the new ways. [illegible] only to uncover the permanent and universal truths which [illegible] to perceive the importance of value we [illegible] to the [illegible] mobilize our own life project actively towards the future [illegible] not, as [illegible], something [illegible]. It is rather what [illegible] through time and human experience [illegible] true and [illegible]. It contains the values to which one [illegible] specific historical circumstances [illegible] and progressively passed [illegible] generation.

Prof. [illegible] It is the unity of cultural [illegible] consciousness. He says [illegible] philosophy, the really unifying [illegible] the feeling that the self [illegible] image of culture, it has to [illegible] seems to be a [illegible]. Most researchers conclude that [illegible] "[illegible]" recovering, [illegible] and [illegible] and exclusively [illegible] Culture means values, therefore, [illegible] purpose. Human [illegible] [illegible] humans are the [illegible] dimension Culture. That is, [illegible] nature from which [illegible].

Therefore, we may state that culture is the ensemble of values and assets achieved by man during the process of his evolution to humanity. Values and assets have a different connotation as all values do not become assets. By assets we mean the things comprehended by our conscience from the point of view of value or outside a value, that is, things that are valued. The existence of assets supposes the antecedent values. The assets represent a wide category, beginning with those which satisfy the vital functions of the organism, up to the highest spiritual assets such as good will, love and friendship: But all assets represent unions of things and values or things to be valued, because the achievement of values and assets in conjunction with the idea of humanity is a process of culture. It states also the ideal which guides it, namely, humanity as the harmonious development of man's positive features, that is, the innermost harmony of personality. Hence, a double hypostasis of man is obvious as both subject and object of culture which necessarily implies the possibilities of the primacy of a metaphysical alternative in our approach toward the understanding of culture.

RELATION OF SCIENCE AND CULTURE:

Ever since man emerged from the mists of antiquity his evolution has been shaped by two processes namely use of materials and organization of men and interaction between the two. With the passage of time, man discovered newer and newer materials and ever different ways of using them and each new way of using material man had to be organized differently succeeding complexity of materials and manner of using them led to ever increasing complexity of social organization.

The use of new materials and new use of the old materials was determined by knowledge developed i.e. Science and the manner this was used

[illegible] we may state that culture is the ensemble of values and [illegible] during the process of his evolution to humanity. Values [illegible] relevant connotation as all values do not become facts. It [illegible] things comprehended by our consciousness from the point of view [illegible] of value, that is, things that are valued. The existence of assets [illegible] independent values. The assets represent a whole [illegible] [illegible] satisfy the vital functions of the organization of the [illegible] [illegible] such as good will, love and friendship. But all assets represent [illegible] realised values or things to be valued, because the achievement of [illegible] in conjunction with the idea of humanity, the process of culture [illegible] of the ideal which guides ultimately humanity to the highest [illegible] of man's sensitive character, that is, the character [illegible] of [illegible] directed to doubt, hypocrisy of man, involving both politics and [illegible] culture which necessarily implies the possibilities of [illegible] of a [illegible] alternative in any one thing and the [illegible]

RELATION OF SCIENCE AND CULTURE

Ever since man emerged from the caves of antiquity his culture has been shaped by two processes namely, [illegible] and interaction between the two. [illegible] newer and newer materials [illegible] way of using material man had to be equipped [illegible] of materials and manner of using them [illegible] organization.

The use of new materials [illegible] determined by knowledge [illegible]

and the artifacts developed were dependent upon the technology which was generated and used. The manner of usage of materials the degree of efficiency of usage and the way men were utilized to produce goods were all determined by economics. The organization of men created to use materials and produce goods created social organization and the techniques used to generate and keep social organization become politics of society and generated values, culture and social ethics.

Within each society in every period of human history we are met with two processes inter-related with each other. Firstly the overall goals of the society its organization at direction. Secondly, within this overall goal there are goals of groups and individuals. The degree to which the overall goals of society and groups and individuals are in agreement determines the degree of harmony and progress. However, when the overall goals of society and different groups within it and various individuals within the groups are not in agreement, the progress is slow or limited and even may lead to strife and disintegration of society. There is evidence throughout human history of how the latter process has disrupted those civilizations and disintegrated cultures which had looked as if they were everlasting.

Looking at the relationship in this manner, it is possibly to show science and technology in a dynamic equilibrium with social organization and value system. Since they are in a dynamic equilibrium any change in one lead to changes in others to bring back the system into dynamic equilibrium. New scientific knowledge widens horizon and provides new perspectives and these become the forebearers of development of new technology. Each new technology, when it becomes the basis of new industry and production system changes the relationship between men and the changed relationship brings forth the need for a newer social organization which in turn changes the value system. For instance when the technology of mass production was developed the artisan become a wage

[illegible] pod were dependent upon the technology which was [illegible] manner of usage of materials the degree of efficiency of [illegible] were utilized to produce goods were all determined by [illegible] organization of men created to use materials and produce goods [illegible] organization and the techniques used to perpetuate or keep social [illegible] the politics of society and generated a class culture and social [illegible]

[illegible] within each society in every period of human history we have [illegible] materials and men interacted with each other. Closely related levels of the [illegible] organization of direction. Secondly, we need to account and to observe [illegible] groups and individuals. The degree to which these were able to [illegible] and groups and individuals are in agreement determines the degree of harmony [illegible] of a society. However, when the overall goals of society and the interests [illegible] of groups and various individuals within the group are not met, [illegible] progress is slower or limited and even may [illegible] shift and [illegible] society. There is evidence throughout human history of [illegible] that [illegible] disrupted from disruption and disagreement [illegible] [illegible] were continuing.

[illegible] Looking at the relationship of the components of [illegible] science and technology as a dynamic equilibrium with social organization and value systems. Since they are in a dynamic equilibrium, any change in one of them changes in others. In bringing about the change from the [illegible] scientific knowledge evidence based and [illegible] [illegible] [illegible] on the [illegible] of [illegible] [illegible] which is becoming the basis of new science, and [illegible] relationship between men and [illegible] new social organization which in turn changes the [illegible] when the technology [illegible]

worker and the relationship between men became one of contract labour profit become a part of the value system. Further as production increased scientific knowledge came to be utilized for motivating people to purchase the goods produced and the Philosophy of consumerism came to be established with its waste as a basic ingredient. The culture of waste is in sharp contrast to earlier tradition.

If one studies the writings of earlier scientists then one may notice in sharp contrast to present commercialization that scientific activity for them was s religious activity to explain the power of God and the use of knowledge to improve the condition of man. From the writings of the scientists, it also becomes evident that they were hoping to use science as a weapon against moral corruption by tending to develop a new value system and against social exploitation through control of knowledge and discipline. These examples show that science being a human activity is part of value system culture and social organization in a particular period of history. The ethos and the nationalism it promotes are socially determined. In earlier periods nature was feared and after the industrial revolution it came to be a raw material to be exploited and utilized which ultimately damaged nature. Now the attitude towards nature is changing -from raw material- it is becoming a part of the environment, which is vital for human survival. Consequently factors, which were ignored, are now being taken into account when natural resources are to be utilized. In order to do that a whole series of new disciplines - forecasting technologies model making technology assessment science society dynamics environmental studies etc. are being developed to meet these requirements. The development is in no way different from the development of statistics and theory of probability to meet the requirements of merchant industrial society.

Scientific and technological tradition has its roots in human activity in relation to materials and in relation of man with other men. It is universal and

[illegible] relationship between men became one of cultural [illegible] [illegible] the value system. Further as production [illegible] scientific [illegible] to be utilised for motivating people to produce the goods [illegible] the Philosophy of consumerism came to be established with [illegible] [illegible] ingredient. The culture of waste is in sharp contrast to [illegible]

If one studies the writings of earlier scientists, then one may notice [illegible] [illegible] to present commercialisation, the scientific [illegible] [illegible] activity to explain the power of God and the [illegible] to [illegible] the condition of man. From the writings of the [illegible] [illegible] that they were hoping to use science as a weapon against [illegible] [illegible] to develop a new value system and against social exploitation through [illegible] of knowledge and discipline. These examples show that [illegible] [illegible] activity is part of value system and social [illegible] of man at [illegible] particular period of history. The attitude and the motivation [illegible] [illegible] determined. In earlier periods nature was treated [illegible] [illegible] it came to be a raw material to be exploited and [illegible] [illegible] nature. Now, the attitude towards nature is changing [illegible] it is becoming a part of the environment, which is [illegible] Consequently factors, which were ignored [illegible] [illegible] natural resources are to be utilised. In order [illegible] [illegible] disciplines – forecasting technologies [illegible] technology [illegible] science, society dynamics environmental [illegible] [illegible] these requirements. The development [illegible] of statistics and theory of probability [illegible] industrial society.

Scientific and technological [illegible] in relation to materials and in relation of man [illegible]

international. However its culture organization and goals have differed in different areas of culture and different periods of history. Despite these differences succeeding developments have been based on earlier achievements and there has been a steady development of under standing and increased sophistications of knowledge which in turn has been effectively utilized to generate new capabilities and new vision. According to Professor Pande every culture has to develop some science and technology to meet the common need for physical security comfort and leisure. Different cultures, however, place different values on the fulfillment of these needs and as a result do not pursue science and technology with the same zeal. Thus while science and technology are inevitable and universal elements of culture they occupy different places in the different traditions of culture- It is only in recent times that progress in science and technology has been accepted as almost the central value of culture.[8] This technisist materialism suffers from a number of fallacies. In the first place, it confounds the knowledge of reality with the positive knowledge of natural reality and in the second place, it forgets that even within a given state of scientific knowledge, more than one alternative technology is possible and the choice between such alternatives has to be made on non-technological grounds. It is neither logically necessary nor empirically evidenced that given a state of science and technology, the other aspects of culture are uniquely determined. The fact is that science and technology give man knowledge and power over the material world and enable him to secure and satisfy his physical and sensuous self in an increasing measure. But this resultant and progressive material or 'sensate' culture of man, including scientific concepts and theories which are operational tools, represents only a particular grade of human self-realization and yields value only in the sense of pleasure or satisfying sensations. That too is possible only within a healthy social and moral order. Unfortunately the progress of science and technology does not automatically lead to the creation of a just, free, peaceful or happy society, let alone the creation of literary, artistic or religious values. In fact, the application of scientific and

[illegible] and organization and practice in the [illegible] different periods of history. [illegible] the differences [illegible] have been based on earlier achievements in [illegible] development of understanding, and increasing sophistication of [illegible] has been effectively utilized by human needs, [illegible] according to Professor Pande every culture has to develop a [illegible] to meet the common needs for physical [illegible] cultures, however, place different values on the [illegible] as a result do not develop science and technology with the same [illegible] science and technology are necessary and universal [illegible] different places in the different traditions of culture. It is [illegible] that progress in science and technology has been a [illegible] value of culture.[6] This technical-reflexion ... a [illegible] fallacies. In the first place it assumes that knowledge is ... the positive knowledge of natural reality and ... even within a given state of scientific knowledge ... technology is possible and the choice between such ... on ... logical grounds. It is ... it is ... overlooked that given a state of science and technology, ... aspects of culture are uniquely determined. The fact is that science and technology give ... knowledge and power over the material world ... his physical and ... in an ... progressive material ... which are operational ... realization and yields value only ... sensations. That too is possible ... unfortunately the progress of science and technology ... by the creation of a ... [illegible] ... religious values. In fact the ...

technical knowledge to social engineering shows no signs of resolving human conflicts or fulfilling the human quest for security. The increasing ability of man to control his natural environment has not led to any corresponding ability on his part to control his socio-cultural environment where in any case autonomy is of greater moment than automation. In diverse utilization, science and technology function like the natural environment of man, presenting only a partially defined situation within which man has to build his socio-cultural life.

Logic, Science and common sense seem to take up almost the whole of the available space for enquiry today. Such a point of view on philosophy reflects only a certain cultural orientation defying science. Kant had been impressed by the bare progress of science but did not reflect over the implications of fallibility in the corrigibility of scientific ideas. The fallibility of science suggests that scientific truth is not 'necessary' but essentially empirical and pragmatic. On the other hand, modern positivists and pragmatists can hardly give a satisfactory answer to the fundamental problem of Kant. They cannot explain how mathematics can be at once practically useful and logically necessary.

Science symbolizes a subtle causal order underlying the gross sensible world which men commonly take to be real. Consequently science knowledge enlarges the practical efficiency of human enterprises in the concrete physical world. This utility of science is the source of the faith in it; it does not, however, remove philosophical doubts and puzzles because they arise from the basic duality of man. Just as sensation is the door to the knowledge of nature, similarly the knowledge of reality is adumbrated in self-consciousness which in different degrees pervades all experience. Man does not spontaneously consider himself a part of nature. For example, while he believes that all natural events are determined by definite causes, he still considers himself to be free. Even within an unstable and perishing world, he does not abandon the hops of immortality... It is the constructive activity of thought which projects our habitual world of which

experiential moments are one pole and logical concepts another... In reality, if fact and reason were wholly disparate, no connection could be established between physics and mathematics; nor could logic ever find a practical application.[28] It is indeed true that modern technology has contributed enormously to the development of life including man's inter-relation and expression. In this 21st century there is nothing which has not been touched by human technological invention. Heidegger noted that when the Roman's built the first bridge across the Rhine it was an act of respect for the river and also for the nature wherein the new technologies and "development" have simply ignored the contours of nature therefore in this changes situation the response to these changes will require (1) recognition and reaffirmation of the dignity of human person (2) Understanding and recognition of human self as a mystery i.e. the human self shall not be reducible to the empirically observable or the mathematically calculable objects of science. In other words the human self is a unique and limitless expression of Being as such.

Looking from this perspective it may be said that we have reasons to think that science can break beyond culture. At the same time it is also asked by the intellectuals whether what is generally referred to as science is itself culture free or instant essentially an expression of the respective histories and cultural manifestation of a particular country, it is also noted that ignoring the formative elements of culture would tantamount to undermine control by its own culture accordingly there emerged a pervasive dimension of technology which in turn enslaved the human self and bounded him with its ills.

Therefore, we may state that culture is the ensemble of values and assets achieved by man during the process of his evolution to humanity. Values and assets have a different connotation as all values do not become assets. By assets we mean the things comprehended by our conscience from the point of view of value or outside a value, that is, things that are valued. The existence of assets

[illegible] one pole and hope [illegible] [illegible]. [illegible] hypothesis, no [illegible] could be established between [illegible] nor could [illegible] ever [illegible] a [illegible] between [illegible]. [illegible] modern archaeology has continued [illegible] for the [illegible] including man's [illegible] and [illegible]. In this [illegible] which has not been [illegible] or [illegible] noted that when the [illegible] the first [illegible] of respect for the [illegible] and [illegible] for the [illegible] development have simply [illegible] the contexts [illegible] situation the [illegible] these changes will [illegible] of the [illegible] period [illegible] of [illegible] will be [illegible] completely [illegible] or the [illegible]. In other words the [illegible]

[illegible] Looking from this [illegible] perspective [illegible] think that [illegible] and [illegible] the [illegible] free [illegible] essentially an expression [illegible] modification of a particular [illegible] and [illegible] elements of culture would [illegible] accordingly there emerged a [illegible] enabled the human [illegible].

Therefore, we may [illegible] assets achieved by man during the process of [illegible] and beasts have a different [illegible] assets we mean the [illegible] of value or [illegible]

supposes the antecedent values. The assets represent a wide category, beginning with those which satisfy the vital functions of the organism, up to the highest spiritual assets such as good will, love and friendship: But all assets represent unions of things and values or things to be valued, because the achievement of values and assets in conjunction with the idea of humanity is a process of culture. It states also the ideal which guides it, namely, humanity as the harmonious development of man's positive features, that is, the innermost harmony of personality. Hence, a double hypostasis of man is obvious as both subject and object of culture which necessarily implies the possibilities of the primacy of a metaphysical alternative in our approach toward the understanding of culture.

GEETA MANAKTALA

...other values. The assets represent a wide category, beginning ...ately the vital functions of the organism up to the refined ...d good will, love and friendship. But an assets represent ...and values or things to be valued, because they come out of ...in conjunction with the idea of humanity as a process of self-... ...ideal which guides it, namely, humanity as the harmonious ...man's positive features, that is, the individual's capacity to ...Hence, a double hypothesis of man is obvious, as both subject and ...which necessarily implies the possibilities of the ...ity of ...nnovative in our approach toward the understanding of value.

CELESTINA VARÍN CA

3|3|03

UNDERSTANDING VALUE IN ATAMANUSANDHAN
Some Observations on G.C.Pandey's Conclusion of *Mulya Mimansa*

Dr. Indu Sarin
Department of Philosophy
Panjab University
Chandigarh 160 014

Professor Pandey argues that the distinctive condition of man is that he is a value-seeking being. Man not only lives but he also critically reflects on his doings. Starting from his given empirical identity, he seeks for his transcendental identity. The quest for transcendental identity is the quest for Values.

The value is not a part of nature, it is subject-dependent. Professor Pandey defines value in terms of an end or ideal worthy to be sought for. Value is projected through reflective consciousness that has the discriminating ability (*Vivek*), to distinguish between the deeper and the superficial, phoney and real, and to know what is excellent. Value refers to this level of excellence in the object, which is to be contrasted with the natural qualities of the latter. In this sense, value implies gradation of the qualities of the object by the subject who after evaluating, seeks for the best. To be befitting and to be worth attaining characterises the value-pursuit that has a dimension of depth in it.

To say that value is subject-dependent is not to prove the irrelevance of the object. Value presupposes the following elements:

1. Subject who judges and seeks an ideal.
2. Objective correlate – the terminus of seeking, object is judged to be valuable.
3. Interrelationship between the subject and the object

[illegible] VALUE [illegible]

[illegible] Pandey's Conception of Manava Mahatva

Dr. [illegible]
Department of Philosophy
Panjab University
Chandigarh-160 014

[illegible] Professor Pandey argues that the distinctive condition of man is that [illegible] being. Man not only lives but he also critically reflects on his [illegible] from his given, empirical life, he seeks for its transcendental [illegible]. The quest for transcendence is basically the quest for values.

(iv) Value: a [illegible] of nature, [illegible]. [illegible] defines value in terms of [illegible]. Values [illegible] presented through reflective consciousness [illegible] is real [illegible] between the [illegible] what is excellent. Value refers to the level of excellence [illegible] compared with the natural [illegible] gradation of the qualities of the object [illegible] the being. To be, being, and to be worth [illegible] that has a dimension of depth to it.

To say that value is simple [illegible] of the object. Value presupposes [illegible]

[illegible] Subject as [illegible]

Objective correlate [illegible]

3. [illegible] relationship between a subject and [illegible]

It is only through the convergence between the subject and the object that the core of value gets revealed. Though value presupposes the object yet the factual object as such is not the value-object. To say that this is valuable and this exists ~~is here~~ (factual object) are not identical. Value is not assimilation of facts but projection of norms.

Human awareness starts with the difference between the subject and the object. However, at the level of sense perception, the object of knowledge and the subject remain disconnected. At the mental level, the development of conceptual knowledge gives depth to the object. This knowledge reveals the subject-object difference and renders the subject as mere point of reference without having any nature of its own. At the level of rational knowledge, the objects get merged in the concepts. The process of merging of these concepts begins in the self. ~~begins.~~ It is realized for the first time that the only real objects are those which are desirable and whatever is desirable should be brought to reality. This is the awareness of value or ideal and this awareness arises only in the process of self-endeavour (*atam-khoj)*. It consists in knowing object fully in context of the whole. The whole is not in objectivity but is in the synthesis of subject and object, inner and outer.

The awareness of value emerges only in the critique of the concept of self as an object. The unification of subject-object, takes place only in the self. The nature of self is both apparent and latent (hidden). As such it becomes an object of search. The apparent self thinks itself to be a finite subject dependent on the world of objects. The real self on the other hand is infinite, timeless and autonomous. The tension

[illegible] the convergence between the subject and the object that [illegible] [illegible]. Though value presupposes the object yet the [illegible] [illegible] the value object. To say that this is valuable and this [illegible] [illegible] identical. Value is not [illegible] of facts but projection of

[illegible] awareness starts in the difference between the subject and the object. [illegible] the level of gross perception, the object of knowledge and the subject [illegible]. At the rational level, the development of conceptual knowledge [illegible] in the object. This knowledge reveals the subject [illegible] the subject as mere point of reference without having [illegible] [illegible]. At the level of rational knowledge, the objects are regarded [illegible] of imaging of these concepts in the self [illegible] only real objects are those which are [illegible] insight to reality. This is the awareness [illegible] only in the process of self-understanding [illegible] in context of the whole. The whole [illegible] subject and object, inner and outer.

The awareness of value [illegible] [illegible]. The justification of [illegible] [illegible] is both [illegible] and [illegible] [illegible] itself to be a [illegible] The real [illegible] on the other hand is [illegible]

between the apparent and the real self inspires one to search for its reality and to attain its infinite, autonomous, eternal being. This is the quest of self as well as of value.

Professor Pandey holds that axiogenesis involves knowledge, *bhav* (emotion and urge (*aeshna*), but it is not to be identified with any one of them. Value of course presupposes knowledge of the object but mere knowledge is not enough. Nothing is regarded as valueable just because one is emotionally inclined towards it. Similarly nothing is regarded as valueable which is an object only of desire (urge). An object becomes an object of value only when its desire joins with some bhav (emotion) and both of them join with its knowledge. When all the above three join together, then the object of desire becomes an end (sadhya). So in this sense value can be called as an end or an ideal.

The choice of an end or an ideal is not a dry logical exercise, it involves the sensitivity of the subject. Knowledge must commit oneself to a distinct praxis. Bhav and desire are required so that the subject identifies himself with the ideal and is possessed with the urge (not psychological but transcedental) to attain it and consequently gets transformed. This is the difference between axiological formulation and theoretical construction. Value is not an abstract ideal, it must press for its realization. It is an ideal to be aspired for, which shows the worth and desirability of the ideal.

Professor Pandey states that the concept of ideal implies ability, relevance, appreciability, its being high or excellent and subjects' attraction towards it. The ideal must have the ability to become the object of desire. Its relevance lies in its testing i.e.

its being flawless in comparison to other and opposite ends, which makes it higher or excellent. In its mental perception, it must be an object of appreciation. But mere appreciation is not enough, the subject must be attracted towards it, so that he can attain it and make it as a part of his being. In the spiritual quest, the self itself becomes an obnject of value and there is a search for its depth, height and truth. The value at this level is self-oriented and self is value-oriented.

Professor Pandey maintains that human life is multi-dimensional and every dimension has its own specific ends. There is nothing common among them. From this point of view it seems that life is divided into multiplicity of values like –bodily – social, intellectual-cultural and spiritual-transcendent. The clear picture of value for Professor Pandey is to be seen only in the spiritual –transcendent dimension. The discriminating ability (*vivek)* is the highest at this level. This is the process of self-realisation (Atam-khoj) where the intrinsicity of value is fully captured. At this level, the end is desirable purely for its own sake and not because of something else. One is ready to sacrifice even bodily-social, intellectual-cultural values for self-realisation.

At the ordinary level, the pluralities of values in the context of the above three dimensions appear to be conflicting but at the level of atman, they get harmonised and unified. Atman is the foundation of the embedded unity of disparate dimensions of value which satisfactorly encapsules less satisfactory value-profiles.

The attainment of the real nature of self is the end (sadhya) of the spiritual quest of value. It is to be sharply distinguished from the apparent self or ego. Imposition of external objects on the real self gives rise to ego. The latter gets

[illegible] opposition to other and opposite ends, which [illegible] or [illegible] perception, it must be an object of appreciation. For these [illegible] enough, the subject must be attracted towards it, so that he can [illegible] a part of his being. In the spiritual quest the self itself becomes [illegible] and there is a search for its depth, height and truth. The value of [illegible] and self is value-oriented.

[illegible] Pandey maintains that human life is multi-dimensional and each [illegible] has its own specific ends. There is nothing common to both them [illegible] of view it seems that life is divided into multiplicity of values like bodily [illegible] intellectual-cultural and spiritual transcendent. The [illegible] of value [illegible] Pandey is to be seen only in the spiritual transcendent dimension. The discriminating ability (viveka) is the highest at this level. [illegible] realisation (ātmabodha) where the intrinsicity of value is fully [illegible]. [illegible] the end is desirable purely for its own sake and [illegible] ready to sacrifice even bodily, social, intellectual, cultural [illegible] [illegible].

At the ordinary level, the pluralities of values in the [illegible] dimensions appear to be conflicting but at the level of [illegible] unified. Atman is the foundation of the [illegible] value which satisfactorily encompasses [illegible].

The attainment of the real nature of [illegible] quest of values. It is to be [illegible] imposition of external objects on the [illegible].

involved in the world of objects. To accept the ego as the source of value is selfishness, ignorance and the root of misunderstanding. Value is realised in abandoning selfishness and the process of abandoning culminates in the dissolution of ego. Value-quest is not *bhog* but is '*upasana'* in the words of Pandey.

Sensuousness is to be transcended for mental, mental is to be transcended for rational and rational is to be transcended for the real self *(atman)*. Knowledge for Pandey reveals that which is.Bliss (*ananda*) cannot be the object of knowledge, it is not to be known but to be felt. Only love-seeking (not pleasure-seeking) desire comes to realise the latent or real self.

The real self itself is the criterion of the realisation of value. The peace or tranquillity of consciousness(*Atmic shanty)* is the criterion of reliability. Thus self-realisation is the culmination and end of the value-journey. My value is not different from my own being. Value does not make me more informed or skilful but transforms the very being of the individual. The distinction between self and value gets fused and coalesced into uplifting spiritual experience. Objects and events are experienced in terms of the emerging ultimate meaning. The quest for value thus is the quest for one's authentic being entering the realm of freedom.

The above analysis reveals Pandey's deep philosophical insights into exploration of the value- quest without presupposing any ontology of self. He ends his reflections on the nature of value with the happy synthesis of subject and object, inner and outer, desire and knowledge, time and eternity. The transcendental ideals are to be realised within time, though they are not historically conditioned.

[illegible] objects. To accept the ego as the centre of value is [illegible] ignorance and the root of misunderstanding. Value is realised in [illegible] and the process of abandoning egocentrism in the liberation of [illegible] not being but becoming' in the words of [illegible]

[illegible] is to be transcended for mental, mental is to be transcended for [illegible] is to be transcended for the real self. Knowledge [illegible] that which is thus transcended cannot be the object of knowledge [illegible] known but to be felt. Only love-attachment pleasure seeking) being [illegible] the [illegible] or real self.

The real self itself is the exercise of the [illegible] tranquility of conscious [illegible] realisation is the culmination and end of the [illegible] from my own being. Value does not [illegible] the very being of the individual. [illegible] continued into uplifting spiritual experience [illegible] terms of the underlying ultimate meaning [illegible] one authentic being [illegible]

The above analysis [illegible] and location of the values [illegible] reflections on the nature of value [illegible] and order, beauty and knowledge [illegible] [illegible]

THE HISTORIOGRAPHY OF RELIGION AND THE VERITY OF RELIGIOUS EXPERIENCE

— Dr. Susmita Pande

Dr.GC Pande's veiws on religion deal not only with the philosophical and historical study of indian religions but also with the historiography of religion.

The historiography of religion involves the science of religion, comparative religion and the history of religion. Although the acadamic study of the science of religion depends on objective methods aimed at internationalizing the study of religion it is divorced from the traditioal study and experience of religions with the different of areas of faith. The problems related to the study of religion from the agnostic and rational point of view, the Marxist, sociological and logical-positivistic historiography, anti-essentialist historiography, evolutionary point of view treat religion either as accidental product of natural and social circumstances or as irrational and a state of low intellectual and cultural devolopment. Dr. Pande avers that the history of religion cannot be understood with out the assumption of a spiritual dimension in human nature and this spiritual dimension presupposes the idea of a supreme spirit. Whether such an idea is true or not is a metaphysical question beyound the ken of the historian. Even so the discussions of this question of truth lies within the history of ideas. The historian should also avoid a personal choice in such matters though he must avoid dogmatism. The various historiographies of religion undermine the religious faith or beliefs.Comte, Marx and freud regard religion as a pre-scientific illusion. Comte in his law of stages declared that while primitive thought was mythological and tried to explain all phenomenon in terms of God in the second stage everythingh was explained by metaphysical principles which vertually replaced the Gods. Modern thought is scientific or positivistic which finds explanation through observation. Durkheim had declared that man pictures god in the image of society. For Marx all religions and philosophy are super structural entities which are determind by a substructure of the forces of production. Religion for him becomes a strategy calculated to help the ruling class in exploiting the common people. Much of the

recent historiography of India tended to follow this approch. Hence Kosambi explains the Gita as a product of confusion and contradictions to reconcile people to the suffering of this world by devotion to god. *anityam asukhm lokam imam prapya bhajasva mama*. According to him *bhakti* was intended to reconcile the down trodden with their sheer lot. RS Sharma connected bhakti withthe feudal system. Loyalty and love towords one's social superior was sanctified by a religious overtone. Mira uses the typical feudal word cakara. Sumanto Banerji interprets the passages of Rāsa and Rādhā in the light of the theory of social connivance of the old ~~behaviour~~ social order by imposing Radha as a religious symbol of *dasi* in the times of Gaudiya Goswami's in the mediaeval times. However social explanation of bhakti also lead to ~~a~~ progressive social reforms of Kabir Nanak, Dadu etc.

Logical positivism believes that religions connot be regarded as cognitive. Verifiability and falsifiability are the criterion of cognitive meaning and value and whatever is not positive knowledge is not knowledge. The object of religious knowledge is strictly beyond verification or falsification and therefore is not knowledge.

The agnostic view of religions describes religion in its own terms as a social tradition of beliefs and practices with pronounced symbolic intention.

The antiessentialist view regards bhakti as a cultural phenomenon in which certain psychological attitudes, beliefs and modes of behaviour are invested with value. As a particular complex of images of sentiments and beliefs what goes under the name of *bhakti* is highly variable in its details and socio-historical causation.

The evolutionary theory believes that religions have developed from a primitive stage toa higher stage. In contrast to primitive religions Semetic higher religions show an uncompromising monotheism where god is a transcendent being who creates the universe and reveals the moral law through his prophets. Man's duty is to obey, serve and love god which leads to salvation after some time.

All the above approaches have been examined by Prof. Pande and have been found to be historically erroneous and hypothetical.

As far as positivistic sociological approach is concerned it presupposes that man and society are to studied in the manner in which the natural world has to be studied. It believes that external world is the model of reality and that sense experience is the primary mode of

expression. The appeal to empirical verifications is the most important in this theory. But a careful consideration of this theory shows that all these beliefs are of the nature of presuppositions. The distinction between human and natural reality has been carefuly shown by the existentialists as distinction between being in itself and being for itself. The identity of a conscious human being cannot determind by the observation of his behaviour. Similarly the marxists reduction of life of consiousness to the class struggle is a gross simplification, as man is neither a species being nor an economic being. He is essentally a free consciousness whose creativity produces culture. Marxism regards technology as belonging to substructure but technology arises from sciences and science itself rests on what Collingwood called absolute presuppositions. If religion has truth it would not be distinguishable from the general weltanchwang which is presupposed by Science. Hence religious beliefs would not be ideological but veridical and scientific. The particular explanations offered by Marxist historians of Indian life are too speculative to be acceptable to particular history. Thus the connection between pastoral nomadism and Vedic religion and the connection between Buddhist protest against animal sacrifices and the needs of agriculture is entirely speculative.

Some scholars have seen a wide gulf between the religions of sacrifice and *bhakti*. This perception is misguided as all sacrifices is really self sacrifice which involves antarayāga. Hence sacrifices are not more action.

The Connection between bhakti and feudalism is also unwarranted as the practice of bhakti did not depend on one's social condition. Yet it could transfigure social pscyche which could create further social change on its own.

Turning to liberal agnostic explanation it is really insufficient and half baked in the understanding of religions.

Another trend in the historiography of bhakti is the anti essentialist historiography. This view does not appreciate the real nature of bhakti or devotion as bhakti is not merely a cultural phenomenon or a social movement but an eternal spiritual verity which underlies them. Man is a spiritual being in the toils of finititude and mortality. This spiritual longing is fulfilled by the grace of the supreme spirit and bhakti is the willingness of man to surrender to his grace.

Dr Pande believes that Bhakti is the universal core of all religions.

The evolutionary view is also criticized by Dr. Pande who believes that spiritual intuition can be seen to be highly developed in the so called primitive religions also. The development or evolution is actually the development of philosophical ideas, the intuitive awareness of which can be present from hoary antiquity. The Vedic religion has been criticized by scholars as polytheistic, ritualistic and animistic.Dr. Pande has argeed that the different Vedic gods were regarded as the *adhisthatri saktis* of the different human activities. *Brahman* was the source of power behind them. This was the reason why there was an imperfect anthropomorphization of all the gods. Besides the spiritual truth was regarded as beyond the neumerical concept.

He quotes yask in favour of this view. एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति and महामाग्याद देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। The concept of monism is supreme in Indian religious which can be seen even in the religions where there are many gods eg. Vedic religions. The concept of monotheism does not prove the other gods false but they are regarded as manifestations of one supreme god as in the Gita.

The verity of religious experience –

The verity of religions and the assumption of a spiritual dimension in human nature and the defence of bhakti is a Question in answer to which it is usual to appeal to the authority of the scriptures or *sabda pramāṇa*. The scriptures are either believed to be the words of God or the intuitive experience of the seers. The authority thus for establishing the reality for the object of devotion or *bhakti* must be in the intuitive experience of *bhakti* itself and not the power of the human senses or reason which are plainly limited.

The Bhagavat had distinguished between Brahman, Paramatman and Bhagavan which are the objects of the experience of *Jnani, yogi* and the *bhakta* respectively Bhagavana or personal god can thus be *apprehended only by the intuitive experiences of devotional nature* and not by only Jnāna or only yoga. It follows therefore that the ultimate validations of the personal god rests on *Bhakti.*

Now Bhakti has been described as an emotive state of the mind and a flow of feeling the ultimate development of which is the beatific communion with deity i.e. a direct apprehension or cognition of the deity is a felt or moving experience In ordinary life the object of feeling does not need to be necessarily real. We may be frightened by a real or delusive snake. We may be fascinated by the beauty of a great painting or by what is really of

[illegible] so-called primitive [illegible] also [illegible] most philosophical notions, the intuitive awareness of [illegible]. The Vedic religion has been [illegible] by scholars [illegible] has argued that the [illegible] of the different human [illegible]. This was the [illegible] when there was an imperfect [illegible] the gods. [illegible] truth was [illegible] the [illegible]

[illegible] of this view [illegible] concept of [illegible] is supreme in Indian religious [illegible] where there are many gods e.g. Vedic religion. The concept of [illegible] the other gods [illegible] but they are [illegible] manifestations of one [illegible]

The [illegible] Experience

The [illegible] one and the assumption of a [illegible] and the determination of [illegible] a question [illegible] of the [illegible] or the [illegible] of the [illegible] object of [illegible] power [illegible]

The [illegible] distinguished [illegible] are the objects of the experience of [illegible] and can thus be apprehended only by [illegible] and not by [illegible] god [illegible]

[illegible] has been described as an [illegible] the ultimate development of which is [illegible] apprehension or cognition of the deity [illegible] object of feeling does not need to be [illegible]

an indifferent quality. To avoid these difficulties arising from a non cognitive nature of feeling it is usual among the acaryas to distinguish between the moments of *Jnana* and *bhakti*. Bhakti as service or work leads to jnana through the grace of god and that in turn to bhakti as the felt or loving communion and the enjoyment of the divine person. Even then connecting jnana with bhakti remains a problem. Sankara identified bhakti with karman. कर्मलक्षणा भक्ति or jnana ज्ञान लक्षणा भक्ति Ramanuja too identifies *bhakti* with *jnana* as continuous remembrance. Madhva had to regard *bhakti* as *jnana* with the distinction of Visesa Madhusudana saraswati identified *bhava* with the mental reflection of the real object of devotion.

This approach however not only identifies the objects of *jnana* and *bhakti* but also underplays their destinction as modes of apprehension In jnana the mind is characterised by passive receptivity (*vastu paratantrya*), neutrality (*tatasthya*) and un movedness (*Kathinya*) towards its object. In *bhava* on the other hand the object is constructed or coloured by imagination working under the force of feeling. That is why the immidiate object of feeling, its alambana is not as such the same as any real or external object. The felt object is imaginative or mental. *manomaya*, *vikalpita* while the perceived object is natural and external.

In fact if imagination adds nothing to the perceived object, there would be no occasion for any feeling to arise. Different subjects perceiving the same object may entertain different feelings or none.

Without the interference of personal memories conscious or unconscious feelings do not appear to be raised by the perceived object. To become the immidiate content of feeling the object of perception needs to be appropriated within a personal appropriated attitude. Unlike the content of perception the content of feeling includes not only an object but also a subject object relation and a conative attitude characteristic of it. Whereas objectivity is the core of perception the inclusion of subjectivity is essential to felt experience. This being so even when the two modes of apprehension are perfected as *jnana*, and *bhakti* they would not be identifiable. Their contents too would be different. The content of *bhakti* being coloured by subjectivity it would not be validated by jnana.

Object knowledge and felt experience are thus quite distinct. Object knowledge provides no justification for feeling nor does feeling provide any object knowledge. What kind of validation can we find for the reality of the personal god experienced in bhakti? Under lying

[illegible] activity arising from a non-cognitive nature of [illegible] distinguish between these moments of *jñāna* and [illegible] to *prema* through the grace of god and that in turn to [illegible] and the enjoyment of the divine person, Jīva also [illegible] problem. Sankara identified *bhakti* with *jñāna*, [illegible] other. Ramānuja too identified *bhakti* with *jñāna* as [illegible] had to regard *bhakti* as *jñāna* with the direction of [illegible] identified *bhāva* with the mental reflection of the real object.

[illegible] not only identifies the objects of *jñāna* and *bhakti* but also [illegible] modes of apprehension. In *jñāna* the mind is characterised by [illegible] (*paramārtha*), neutrality (*udāsīna*) and impassiveness (*ā...*) [illegible] on the other hand the object is constituted [illegible] under the content of feeling. That is why the immediate object of feeling [illegible] the same as any real or external object. The felt object being [illegible] while the perceived object is natural and external.

[illegible] adds nothing to the perceived object, there would be no [illegible]. Different subjects perceiving the same object can entertain different feelings.

[illegible] difference of personal attitudes [illegible] not [illegible] by the perceived object. To become the immediate content of feeling, the object of perception needs to be appropriated within a personal [illegible]. Unlike the content of perception the content of feeling [illegible] subject-object relation and a creative attitude characteristic of it. [illegible] how it can explain the inclusion of subjectivity [illegible] even when the two modes of apprehension are [illegible] be identifiable. Their contents [illegible] by subjectivity it would not be validated by them.

Object knowledge and felt experience [illegible] no justification for feeling nor does feeling provide any [illegible] validation can we find for the reality of the personal god [illegible]

this however there is a deeper question how do we come by the knowledge of a person at all? Perceptual knowledge reveals only natural bodies in space and time. The perceived movement of these bodies can in no way be distinguished as sentient behaviour and sentient notions unless such notions as of purpose, freedom, obligation, sentience, self or person are brought in. Now such notions are not part of the scheme of concepts which theoretical or scientific knowledge uses as the determinants of its object. They belong to the apprehension of the subject, self, or person. Without starting from such self awareners we cannot become aware of other selves or persons. Now self awareness is mediated by the awareness of an image of the self or what the self seeks or seeks to avoid. This image mediated attitudinal apprehension of the self is the matrix of all felt experience or experience of person or value. Feeling thus is the proper mode of experiencing the self, person or value. ~~Feeling thus is the proper mode of experiencing of self, person or value.~~If one excludes feeling the reality of these entities can never be validated. If preception and inference are the sole means of cognition persons would be nothing but constructs and images superimposed on natural phenomenon.

Feeling reveals the subject in a conative and valuational relationship to a content which images the self or what belongs to them. We not only the cognize ourselves in feeling but also others in a felt relationship. We recognise the character of a person through the content of his feeling which constitute the innermost revelation. There is no way which we can understand ourselves except through the content of our feelings.This can bedone through reflective scrutiny or creative imagination which seeks to create a felt object apropriate to the subject. Such a felt imaginative experience would constitute a moment of subjective self realization, a unique source of knowledge which is corrigible but self validating on account of its immidiacy.

In so far as God is the inner self of selves, the immanent universal ~~person or being~~ transcendent, the ideal person feeling would obviously be the way to knowing Him at first darkly as through an unpolished mirror. The knowledge of other person will pose a problem only if a real monadic plurality of persons is accepted in which case their knowledge would be an instructive desciphering of peaceful sign or cues in the light of felt self experience.

P.T.O

The Kathopanisad says दृश्यते तु अग्रया बुद्धया i.e. He is seen by one pointed intilligence. In Buddhism प्रज्ञा or संबोधि is the means of knowing परमार्थ or समाधि ज्ञान। In Vedanta it is said that besides श्रवण और मनन निदिध्यासन or the practice of ध्यान leads to truth.

आत्मा वाडरे श्रोतव्यः दृष्टव्यः निदिध्यासितव्यः A rṣi is one who sees the truth divectly ऋषयः साक्षात्कृत धर्माणः yasks interpretation of a rise is that a rsi is one who sees the dscent of god in his vision.

Dr. Radha krishnan, vivekanand Ram Mohan Roy, Shri Aravind all have emphasized personal intuition as the source of truth.

The Indian traditions of प्रस्थान भेद beliyes that different systems are variations of the same essential truth is diverse ways kaviraj ji has called it the synthetic gradations of truth. But the modern agnostic scholars and those who hold the evolutionary theory of religions ~~esp. the [illegible] philosophers of religions~~ do not accept this multiple character of truth they also object to ~~entuetions~~ and faith as sources of truth because of the fear that it would had to contradectory views.

Thus Dr. G.C. Pandes view of religions is like a kalaedoscopic view which accepts the different levels of spiritual realizations.

[illegible] great Lord is secretly one pointed intelligence

[illegible] knowing truth' [illegible] In [illegible]

[illegible] or the practice of sense' leads to truth.

[illegible] A person who sees the truth directly

[illegible] interpretation of a thing is that a person who sees the different

[illegible] Vivekanand Ram Mohan Roy, Shri Aurvind all have emphasized

[illegible] source of truth.

[illegible] the belief that different systems are variations of the

[illegible] justified if the synthetic conceptions of truth.

But [illegible] and those who hold the evolutionary theory of religion

[illegible] ultimate character of truth, they

[illegible] of truth as eternal whether they would lead to

cont[illegible]

[illegible] view of religion is that a [illegible] Pandit accepts

the different levels of spiritual realisation.

REFERENCES

1. भारतीय परम्परा के मूल स्वर (1982, द्वितीय संस्करण, नई दिल्ली)
2. Foundations of Indian Culture, 2 Vols. (1984, Books & Books, New Delhi, 2nd ed., Motilal Banarsidass)
3. An Approach to Indian Culture and Civilization (1985, Pub.B.H.U.)
4. भारतीय समाज, ऐतिहासिक और दार्शनिक विमर्श, दिल्ली, 1994.
5. Meaning and Process of Culture (1972, Agra, 2nd ed., Allahabad).
6. मूल्य मीमासा (1971, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर)।
7. भक्तिदर्शनविमर्शः सम्पूर्ण संस्कृत विश्वविघालय, वाराणसी, (1996)।
8. शंकराचार्य, विचार और संदर्भ (वत्सला निधि)।
9. एकम् सद् विप्रा बहुदा वदन्ति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविघालय, वाराणसी (1977).
10. Bharatiya Sanskriti – Dr. Susmita Pande, Dr. G.C. Pande.
11. Bhakti dhārā aur Tulsidas – Lectures of Prof. G.C. Pande, Tulsi Academi, Bhopal.
12. Durkhiem – Elementary forms of religious life.
13. Karl Marx – Das Capital (Hindi trans. Moscow).
    Marx and Engels – Selected works.
14. R.S. Sharma – Indian Feudalism, Social Changes in Early Medieval India.
15. D.D. Kosambi – The Culture and Civilization of Ancient India.
16. V.K. Thakur – The History of Indian Feudalism.
17. Joachim Wasch–Sociology of Religion.
18. Gibbon-Decline and fall of Roman Empire.
19. Dange – India from primitive communism to slavaery.
20. B.N.S. Yadav – Society and culture in India in Twelth Century.
21. Om Prakash – Conceptualisation and History.
22. G.C. Pande – Bharatiya Samaj.
23. The Science of Religion and the sociology of knowledge Ninian smart.
24. Samakalina Vislesanatmaka Dharmadarsana – Dr. Ved Prakash Sharma.
25. Dr. Radha Krishanan – The idealist view of life.

[illegible]FERENCES

[illegible] 2 Vols. (1984, Books & Books, New Delhi, 2nd ed.

[illegible] and Civilisation (1985, Pub. B.H.U.

[illegible] (1972, Agra, 2nd ed., Allahabad)

8. [illegible]

9. [illegible]

10. [illegible] Dr. Rajbali Pande, Tr. G.C.Pande

11. [illegible] Lectures of Prof. G.C. Pande, Hindi Academy, Prayag

12. [illegible]

13. [illegible] Capital (Hindi translation)

[illegible] Selected works

14. [illegible] Indian Feudalism Social Change [illegible]

15. [illegible] The Culture and Civilisation of Ancient India

16. [illegible] The History of Brahmanism

17. [illegible] Sociology of Religion

18. Gibbon, Decline and fall of Roman Empire

19. Dange, India from primitive communism to slavery

20. B.N.S. Yadav, Society and culture in Northern India in 12th century

21. G.C. Pande, Conceptualisation and History

22. G.C. Pande, Bharatiya Samaj

23. The essence of Religion and the sociology of [illegible]

24. Samskriti, Vishwa [illegible]

25. Dr. Rekha Kashikar, The [illegible]

4/3/03

PROFESSOR G.C.PANDE -
Some Salient Features with special reference to His Neo-Integralism in the context of Śūnyatā, Tattva, and Ekaḥ Sat.

Written by
Prof.G.C.Nayak, M.A.(Allahabad
Ph.D.(Bristol)

Professor G.C.Pande, with his encyclopedic knowledge and versality, is a renowned scholar who is an emient Indologist, Historian, and a philosopher of repute - all in one. But I don't think that this is all that is there to Professor Pande, possessing as he does a wonderfully multi-faceted personality reflected in many ways in his scholarly works too of multi-dimensional nature. He and his works cannot, I am afraid, be treated with satisfaction by a mere discussion of his attainments and a critical analysis of his numerous works. There will always remain a feeling of inadequacy, of having left something out which is of great importance, as there is a depth in him which is inexhaustible and unfathomable, even if to all outward purposes, he is so very straight-forward and unassuming. There is a spiritual depth, I mean to say, to which both his personality and thought point and to which his works and even his daily life draw our attention - a depth, I must admit, that is beyond the scope of our limited understanding. An element of depth in feeling therefore is needed on one's part, if at all one is interested to understand the man and his thoughts, in this particular case, alongwith one's

...P.2

intellectual acumen of course, if any. There is a definite call here to transcend the ordinary limits of our intellect, although intellectual approach in itself is never undermined or overlooked at any stage by Professor Pande himself.

Could a mere evoking of an element of depth in feeling by itself ~~by~~ be capable of giving us some additional knowledge ? I don't think so. But it appears to me that this can give us some insight into and an empathetic understanding perhaps of the man and his works, which would be otherwise denied to us if we were to concentrate only on an analysis on the intellectual plane. Hence at the outset, I make this plea deliberately so that at least some semblance of justice could be done to that transcendental aspect of Professor G.C.Pande, which is very likely to be ignored or undermined on account of what I would consider to be our intellectualist bias.

Because of a unique combination of spiritual depth with great intellectual acumen confronting us here and because of the inexhaustibility of the multi-dimensional and multifarious aspects of the man, his works, and his thought, I have no other alternative but to concentrate here only on certain limited aspects for discussion. Such a choice, while limiting my scope quite evidently of course,

is expected to give me a little foothold to go ahead.

What strikes me as the most significant feature of Pandeji's personality is his apparent indifference to honour, name and fame etc.that are well-known to be the last infirmity of the noble mind which is otherwise indifferent to all worldly enjoyments and prosperity. This makes him much more attractive and charming,from my point of view at least, for it makes him really extra-ordinary. In the Vaiṣṇava śāstras,a true Vaiṣṇava is supposed to be one who does not care for recognition,for whom 'pratiṣṭhā' is 'śūkarī viṣṭhā', and from this point of view, Pandeji can be regarded as a true Vaiṣṇava,of course. Only recently, however, I was somewhat atonished to find Garth Pearce(1) pointing out in one of his articles, how Al Pacino was "learning to live with fame at last," while Al Pacino himself admitted that he was "tired just about everying to escape from being burnt by fame" and that he had "never liked the recognition,the questions, the publicity".Sounding as it does to be so very genuine, I can only hope that it is not a sheer publicity stunt.

With due apology, and without meaning any comparision, I must say that I find at present Pandeji"learning to live with fame at last" - fame that has come to him uncalled for and is simply unavoidable, mainly because of his monumental works. The article of Garth pearce,in

any case I must admit, hes given me <u>some</u> understanding (I may be wrong, of course) of the significance of Pandeji's evident humility(one won't be able to recognise him, I swear, in a crowd or even in a group of scholars, unless one is out to search for and find him). It is perhaps this variety of genuine humility that was regarded "as the most difficult of all virtues to achieve" by T.S.Eliot(2), and the Vaiṣṇava tradition makes the most of this particular virtue in man, highlighted in the <u>Śikṣāṣṭakam</u> as "Tṛṇādapi sunīcena" etc. And this typical humility seems to be inbuilt in Pandeji's character; he is a great scholar no doubt, but his greatness as a scholar does not lie heavy on his shoulders.

Now coming to his contributions, we find that they are multi-faceted and numerious; in any case, it would be of very little use, I think, if only we start counting them on our fingers, referring to his works one by one. I would rather concentrate here only on some points, and in order to understand the importance of Professor Pande's contributions to these seminal ideas in Indian thought, I will be dealing first of all with the Buddhist anātma and śūnyatā and then consider if, at all, it can be integrated, with the Ātman of Vedānta, at least on the experiential level - a significant point made by Professor Pande promising to give a fresh direction in the field.

When we come to deal with the anātmavāda or no-self doctrine of Buddhism, we need to be cautious, rather a little extra cautious, in our understanding of it as a form of nihilism. If there is no self, there will be simply an end to all our transactions('jagadāndhya prasaṅgāt', as it has been aptly pointed out by the Vedāntins), not to speak of philosophical transaction of any sort for that matter. It is therefore obvious that the Buddhist theory of anātma could not be a no-self theory in ~~such~~ a crude sense nor should it be construed as such in any case. It is rather a denial of a permanent unchanging self-substance, over and above the five skandhas, at least in one of its characteristic aspect(3), while the vyāvahārika, practical, view of and the ordinary transaction with, the self remain~~s~~ unaffected as usual. It is evident from the usage of 'atma dīpo bhava'('attadīpa', attasaraṇa' etc.) in the early Buddhist literature available to us, in Mahāparinibbāṇa sutta for example, and also from the usage of 'Ātmā hi ātmano nāthaḥ' in the Dhammapada. There is, however, no implication here of a permanent unchanging self or of a separate ego-entity, as is popularly understood.

Hume's observations on the nature of self easily and naturally comes prominently to one's mind in this connection, specially where Hume observes, "For my part, when I enter most intimately

into what I call myself, I always stumble on some particular perception or other, of heat or cold, light or shade, love or hatred, pain or pleasure. I never can catch myself at any time without a perception, and never can observe anything but the perception ....I may venture to affirm of the rest of mankind, that they are nothing but a bundle or collection of different perceptions, which succeed each other with an inconceivable rapidity and are in a perpetual flux and movement". It has been stressed that "all the remaining Buddhist doctrines may, more or less, be found in other philosophic systems and religions, but the anattā doctrine has been clearly and unreservedly taught only by the Buddha. Whoever has not comprehened that in reality, there exists only this continually self-consuming process of arising and passing bodily and mental phenomena, and that there is no separate Ego-entity within or without this process, he will not be able to understand Buddhism"(4).

For a further sophisticated understanding of the no-self doctrine of Buddhism, we have to go deep into a proper assessment of the doctrine of Pratītya samutpāda which constitutes the cornerstone of the entire Buddhist edifice, and in the light of which alone the Buddhist anātma would make sense. In view of the subsequent development of Buddhism into different

Contd.P.7

schools with various ramifications, the same anātma of Buddhism has assumed different forms in different schools like vijñānavada and śūnyavāda, where again concepts such as ālayavijñāna, śūnya etc. have given rise to a lot of misinterpretations and misunderstandings. Nowhere, it is worth nothing, there is an implication of a permanent unchanging self (a kūṭasthanitya ātman, as it is regarded in Vedānta) in any of these schools (5), while at the same time it will be a gross misunderstanding, rather sheer injustice, to label any of them as nihilism and to look for an absurd annihilation or denial of our practical life (vyavahāra) in any of them.

Professor Pande, however, draws our attention to an important aspect which is easily ignored by those who make too much of the Buddhist theory of impermanence. There are sayings of the Buddha himself, Pandeji points out to us, from which it becomes clear that "the Vijñāna or consciousness was not regarded simply as a particular and transient empirical phenomenon, but also as the original and pure consciousness which would be eternal and infinite on liberation. It is the empirical and finite Vijñāna that is impermanent, not the Vijñana in its original or ultimate condition. As the doctrine of Vijñānavāda developed, many varieties and tiers of Vijñāna were discovered"(6). Professor Pande points out further at another place that

Contd.P.8

"Vijñaptimātratā is non-empirical, non-dual consciousness beyond the scope of particularities or conceptual thought," and "since the vijñaptimātratā is identified with Tathatā and the Dharmakāya it must be deemed timeless"(7). This is noteworthy and revealing, and it only confirms the multidimensional aspects of the Buddha and Buddhavacana, as well as of the further developments of the same into different schools with multiple ramifications and staggering varieties. Hiriyanna (8) was right in pointing out that within the fold of Buddhism itself diverse philosophical schools had developed at different times. Pandeji has referred to a theory of pure consciousness within the Buddhist framework transceding the dualism of the subject and the object and also the phenomenal plurality. The Tathāgatagarbha is declared as ādi-viśuddha, śāśvata, śiva, sarva sattva-dehāntargata and nirvikalpa-nirābhāsa, which brings it very near to the Ātman/Brahman of the Upaniṣads and, as has been pointed out by Pandeji, " it is clearly reminiscent of the Ātmavāda"(9). The Lankāvatāra sūtra distinguishes it, of course, from the Ātman of the Tīrthikas or non-Buddhists, as 'Atman' leads to eternalism, because of its clinging to affirmation; this is a typically Buddhist approach to the doctrine of Ātman (Ātma vāda).

Contd.P.9.

Now coming to the śūnyavāda or the Mādhyamika school of thought, it is important to bear in mind that here śūnyatā is identified with pratītya samutpāda itself, and consequently with essencelessness or niḥsvabhāvatā. For the Mādhyamikas, śūnyatā as niḥsvabhāvatā is the ultimate reality, just as vijñāna is the ultimate reality for the Vijñānavadins, and śūnyatā itself is regarded here as the summumbonum, the highest good or the paramārtha. Pratītyasamutpāda, taught by the Buddha, is described in negative terminology by Nāgārjuna as 'anirodhamanutpādamanucchedamaśāśvatam, anekārthamanānārthamanāgamamanirgamam'. And this is the tattva, that is, the exact or the real nature of the case, according to him. Pratītyasamutpāda which is the same as śūnyatā, being thus the tattva or the true significance of the concepts as also of the things, one cannot meaningfully talk of its origination, destruction, etc. And when this is realised, there is freedom from essentialist thought-construction and craving of the mind, and that is why tattva is said to be 'aparapratyayam śāntam prepancairaprapncitam' in Nāgārjuna's *Kārikā* under 'Ātmaparīkṣā' prakaraṇa.

One important consequence of viewing pratītyasamutpāda as a logical theory of interdependence (parasparāpekṣā) of concepts, as is done in Candrakīrti's *Prasannapadā*, is that it is identified with śūnyatā which, in its turn, is identified with niḥsvabhāvatā(essencelessness) and also with the Madhyamapratipad(middle path), thus making the entire Buddhist thought appear as one systematic and harmonious whole with a central message of its own, which, to be

precise enough, is not a message but a paradigm of philosophical activity. Buddhist anātma is to be understood in this light, at least in one of its most characteristic aspect of śūnyatā as niḥsvabhāvatā or essencelessness. Both ātmā and anātma are to be understood in terms of pratītya samutpāda, as referring to the essencelessness of these concepts, and that is why Nāgārjuna in his 'Ātma Parīkṣā' prakaraṇa of Mūla Madhyama Kārikā(Chapter 18.6) clearly points out, "Ātmetyapi prajñapitam anātmetyapi deśitam, Buddhairnātma na cānatmā kaścidityapi deśitam". The Buddha's affirmation or denial of self, as the case may be, needs to be understood in different contexts as avoiding the extremes of metaphysical commitments and the dogmatic views of śāśvatavāda (eternalism) on the one hand and ucchedavāda (nihilism) on the other(10).

The attainment of paramārtha, the Summumbonum, in this specific sense only constitutes an ~~essential~~ important feature of nirvāṇa. It is only when one realises the śūnyatā or essencelessness of the concepts and things, when one understands how concepts donot have any fixed immutable essence or svabhāva of their own, that one comes to realise nirvāṇa in the Madhyamika framework, nirvāṇa that is characterised as 'sarvakalpanā-kṣaya rūpa' and 'prapancopaśama'.

Contd.P.15

What then are the various implications of this nirvāṇa which is free from all thought-constructions ? Freedom from all sorts of metaphysical vagaries is the ideal set before us by the Mādhyamikas. One concept leads us to another, one idea leads to the other, and this is alright in its sphere. But metaphysicians make an illegitimate use of and a rigidly exclusive demand on these concepts, thereby falling into the trap of confusion and inconsistencies. Philosophical insight consists in avoiding these extreme metaphysical positions through an understanding of these concepts as 'śūnya' or 'niḥsvabhāva'. The philosopher, like a good shepherd, checks the metaphysical vagaries from taking the upper hand. That all sorts of metaphysical speculations are to be consistently avoided is clear from th following statement of the Buddha - 'Astīti nāstīti ca kalpanāvatāmevaṃ carantāna na duḥkha śāmyati' i.e. those who speculate in terms of existence and non-existence will never realise the cessation of suffering. Professor G.C. Pande has very rightly observed, "Buddha declared his position to be different from both eternalism and annihilationism"(11). Similarity in insight is very much evident in this regard when we find Professor D.P. Chattopadhyaya also pointing out, "Both affirmation and denial of any position are two equally distorted ways of theorisation. Buddha's is not a theory, not a position"(12). Candarkīrti points to the contending metaphysical theories available in his time, e.g. those of Jaimini, Kaṇāda, Kapila, the Vaibhāṣikas, the Sautrāntikas and the Yogācāras etc. which, according to

him, are not conducive to the cessation of misery. This shows that freedom from contending metaphysical theories is one of the significant features of 'nirvāṇa' or philosophical enlightment here. But this is possible through a realisation that there is no essence to hang upon or to cling to in our ordinary dicourse which is merely conventionally useful.

Mādhyamika thinking presents to us a model of philosophical analysis resulting in an enlightment regarding the nature of concepts as also of things as essenceless(niḥsvabhāva). It is neither nihilism nor is it absolutism, as popularly understood, and one who falls into the trap of any such "ism" is incurable, according to Nāgārjuna. "Śūnyatā sarvadṛṣṭīnām proktā niḥsaraṇam jinaiḥ, Yeṣām tu śūnyatā dṛṣṭistān-asādhyān vabhāṣira", says Nāgārjuna very explicitly in one of his Kārikās. The difference with regard to such ontological commitments is at the root of all other differences between Vedānta and Mādhyamika Śūnyatā Philosophy, and the corresponding differences between nirvāṇa and mokṣa too. However, the difference here is more at the conceptual level rather than being at any tāttvika level, at the level of the tattva or the Reality, according to Professor Pande. There is no difference in the ultimate realisation. The difference, wherever there is any, could be on account of contextual dissimilarities and differences

in the historical background as well as development, on this view ; little fundamental difference is expected to be confronted at the experiential plane. This is a significant contribution of Pfofessor Pande not only to Buddhism and Vedānta in particular, but to Indian thought as a whole and to the world-culture in general.

The idea is developed fully in his later treatises like Ekaṁ Sad viprā bahudhā vadanti, but it has always been there as the main theme of his typically integral approach to the world of thought in general and Indian thought in particular. The fundamental Reality being the same, the difference lies only in different ways of articulation by great teachers, necessiatated by the demands of circumstances, according to Pandeji. "Tattad yuga pravṛttibhedād upadeśyānām vāsanābhedācca mahapuruṣadeśanā api bhejire nānātvam". "Maulikāni tattvāni sarvatra tulyāni, vikalpitāni rūḍhāni ca bhinnāni"(13). This is not only a typically Indian way of looking at the Reality, the fundamental experience, and the way any such experience is articulated, which has come down to us from the hoary past when the Ṛg Vedic seer declared from his experience that the one and the same Reality is called by different names(Ekaṁ Sad viprā bahudhā vadanti) but it has been more or less corroborated by the subsequent seers and scholars too of different generations one after the other, barring a few exceptions of course.

But even these exceptions have also been taken into the main fold by an integral approach which is so very characteristic of our cultural heritage. Professor Pande's philosophical position, which I would regard as a typical variety of Neo-Integralism, is a veritably mature and a ripe fruit belonging to that heritage; it is "nigama kalpatarorgalitaṃ phalaṃ", so to say, if I may be permitted to take a line from the Śrīmad Bhāgavata, that great text supposed to be the akṛtrima Bhāsya (natural commentary) on the Brahmasūtra..

It is in this background that one can appreciate what Pandeji has to say about both Buddhism and the Vedāntic tradition. He admits that "Brāhmaṇical authors have often failed to appreciate the true meaning of śūnyatā", but "it is equally true that the Buddhists have in general not taken Ātman in that absolutist or idealistic sense which belongs to it in some Upaniṣadic texts, Gauḍapāda, and Śaṅkara. The differences in this case relate not so much to the conception of ultimate reality as to the correct description of the phenomenal. It is in actuality more a controversy about the nature than the existence of the self"(14). Pandeji with his deep insight also further points out that the Anātmavāda developed mainly with the practical motive to "deal a death blow to the source of the deepest worldly attachment"(15) i.e. the reality of the Ego. It is the false idea of the ultimate

reality of the Ego that is the cause of desire. Thus it is that the realisation of Nairātmya or the insubstentiality of the Ego leads to vāsanākṣaya or the destruction of vāsanā, as is pointed out by Dharmakīrti. Candrakīrti declares that the purpose of śūnyatā is emancipation from Karma and kleśa (16).

The middle doctrine beyond Ātman and Anātman, is, however, emphasized by the Mādhyamikas, which, according to Professor Pande, is the correct interpretation of Buddha's silence. "The correct interpretation of the silence", according to him, "appears to be that Buddha regarded the true state of affairs as falling beyond word and thought. In ultimate reality distinctions disappear; hence predication is impossible with respect to it"(17). Here Pandeji, as is expected, finds a parallel in the dialogue between Bādhva and Bāṣkali referred to by Śaṅkara in his commentary on the Brahmasūtra, 3.2.17. This points to the typically integral approach of Pande to our tradition to which Vedānta and Buddhism both equally belong.

This is so very true of, and presents before us such an appropriate picture of, the multi-faceted Indian thought and culture. The integral approach seems to be inbuilt in the very structure of theorising here to such as extent that despite

vehement criticisms advanced against each other, it is at the same time candidly acknowledged that ultimately it is an exercise in search of the ultimate reality which really matters, not mere criticism of others' views or position. Here one would be reminded of another serious philosopher-scholar of the recent days, Acharya Pattabhirama Sastri, who points out that even the Mīmāṁsakas had taken resort to this integral approach which needs to be highlighted in our search for the nature of Reality that ultimately matters, even if we may be engaged in criticising the opposite stand point from time to time in order to explain our position. He goes to the extent of pointing out that even if one position gets refuted by forceful logical arguments, it need not be assumed that position is wrong or the critic himself is an omniscient being. What is important, according to him, is what he calls "Tattad dārśanika vastu-tattva parijñāna", knowledge of the respective philosophical truths of different systems of philosophy, for which one should aspire, through an integrated approach (samanvayātmaka pantha)(18).

Pandeji is of firm conviction that what divides the two different philosophical traditions like Advaita and Mādhyamika is "the fact that they belong to two different streams of spiritual culture

appealing to historically divided revelatory tradition or Āgama" "but" all such traditions are the historical variations of the one and eternal Revelation which must be universal in its superhuman essence" (19). This points to what I would regard as a typical form of Neo-Integralism in Professor Pande's approach to Reality as well as systems of thought. One may wonder if the concept of 'superhuman essence' would be applicable every where, whether, for example, the Mādhyamika Śūnyatā and the Ātman of Śaṅkara would equally point to some such 'superhuman essence'. In any case, at the innermost, the deepest, and the highest plane, all differences vanish, according to Professor Pande, or to quote his own words, "Maulikāni tattvāni sarvatra tulyāni". In that case, there would be no difference at the fundamental level, between the realisation of Śūnyatā and that of the Advaita tattva, except only on a verbal plane, of course. Śūnyata would in that case point to that ekaṁ sat, one ultimate Reality, which is regarded as the non-dual Ātman in the Advaita framework. The Ātman in the context of Advaita is certainly not the empirical self or ego, it is beyond jñātā-jñeya, pramātā-prameya, dichotomy while being immanent everywhere and Śūnyatā is not the same as void or a mere transcendent Absolute transcending our empirical world in which we live, move and have our being. (That is why, Nāgārjunna pointed out that there is no distinction between Saṁsāra and Nirvāṇa).

Contd.P.18

In that case, Ātman and Śūnyatā may be seen to have little fundamental difference, in spite of the fact that belonging, as they do, to two different streams or traditions with their respective variations, one may smack of eternalism of some sort while the other tends to steer clear of the extremes of both eternalism (śāśvatavāda) and annihilationism (uccheda vāda). "Buddha", we are told by Pandeji, "did affirm a reality which is infinite, eternal and beyond thought and speech. It is this reality the attainment of which constitutes the summum bonum of life and the end of saṁsāra (20). This is highly illuminating as it is thought-provoking, standing in need of further corroboration through an understanding of one's own and a mutual understanding of each other's experience at the higher level. The ingenuity and rare insight with which Śaṅkara and Buddhism are brought together in the integral and all-encompassing vision of Professor Pande are note worthy, and once one gets acquainted with this vision, one cannot but be goaded to rethink and reorient his ideas, in order to see if something very important and significant has not been missing all the while in one's conceptual framework with a normal tendency to emphasize the difference between these two great systems and traditions of Indian thought. "For both Śaṅkara and Buddhism" says Professor Pande, "the emancipating vision of infinite reality is obscured by egoistic attachment. The Buddhists do not call this reality the self because

Contd.P.19

they look upon the self as the egoistic principle. Śaṅkara calls it the self but divests it of all individuality and limitation. For both the end of the journey is liberation from individuality and absorption in eternity through knowledge (21). Pandeji admits that "all the systems agree in seeking detachment from egoistic life", but at the same time points out that "it is only Śaṅkara and Buddhism who regard the very individuality of the empirical self as ultimately unreal(22). It is because of this that Śaṅkara's Ātmavāda and Buddhist Anātmavāda are brought close to each other in his conceptual framework and their relationship, according to him, "can hardly be regarded as one of total opposition"(23).

It gives a fresh impetus to rethink of Śaṅkara and Buddhism with an integral vision instead of taking them as opposite systems of thought clashing with each other under the fixed labels of Ātmavāda and Anātmavāda, and this undoubtedly is an important contribution to our philosophic understanding. It seems to open for us a new vista also for further exploration into the exact nature and implication of what is known as Revelation.

This by itself points to the inexhaustive richness of human experience and of the numerous interpretations put on those very experiences. And this is what the concept of Bhūmā in the Upaniṣads stands for, 'Yo vai Bhūmā tat sukham, nālpe sukhamasti', which is highlighted in Professor Pande's ~~xx~~ typically integral

Contd.P.20

approach to the different philosophical theories like Ātmavāda, Anātmavāda, Vijñānavāda, Śūnyavāda etc. culminating in the ultimate realisation of the 'Ekaṁ Sat' of the Vedic seer. The problem nodoubt is how to get at the ultimate without any interpretation whatsoever and xxxxx whether the historical variations in traditions do not enter into the very structure of our experience(24), even at the deepest level. At that level, however where ' Ekaṁ Sat ' is realised, it is to be admitted that the human intellect with all its dissecting apparatus is already transcended with "the emancipating vision of infinite reality" in Professor Pande's terminology. In the words of the Upaniṣads, "Tamātmasthaṃ yēnupaśyanti dhīrā steṣām sukhaṃ śāśvataṃ netareṣāṃ"(25).

The following observations of Professor Pande are specially worth mentioning at the end and need our serious consideration, as they are very much characteristic of his neo-integral approach. "Different philosophical schools" says Pandeji, "are different traditions of learning, interpretation and criticism, they have no strict connection with spiritual or revealed truth; or, rather, that they represent different logically possible interpretations. Attempts have been made to schematise them also, to see the deeper unity of transcedental reference in them. Buddha's Upāya-kauśalya, Jaina Syād-vāda, Vedantic prasthānabheda, illustrate such attitudes.

ContdpP.21.

Gauḍapāda boldly cut across the difference of Vedānta and Mahāyāna "(26). This typical approach is indeed a bold one, to say the least, in the history of intellectual as well as spiritual enterprise, an approach that certainly deserves to be explored further in depth.

REFERENCE

1. Cf. Garth Pearce, 'to hell and back', The Sunday Times Oct. 20, 2002.
2. Cf. T.S. Eliot, Selected Essays (London, 1932, 1969), Chapter on 'Shakespeare and the Stoicism of Seneca' P.130, "Humility is the most difficult of all virtues to achieve, nothing dies harder than the desire to think/well of oneself". This could be the reason why Ācārya Śaṅkara at the very outset of his Saṭpadī Stotram prays for the eradication of conceit or 'avinaya', as he calls it.
3. Cf. Milinda Panha - The Questions of King Milinda.
4. Cf. Nyantiloka, Buddhist Dictionary.
5. Cf. T.R.V. Murti, The Central Philosophy of Buddhism (London, 1955), p.26, "The entire development of Buddhist philosophy and religion is proof of the correctness of our nairātmya interpretation of Buddhism. There is no Buddhist school of thought which did not deny the ātman".
6. G.C. Pande, Studies in Mahāyāna (Sarnath, 1993), pp. 103-104.
7. G.C. Pande, Life and Thought of Śaṅkarācārya (Delhi, 1994) p.267.
8. Cf. M. Hiriyanna, Outlines of Indian Philosophy (Delhi, 1983) p.198, "All the different shades of philosophical theory-realistic and idealistic are found within Buddhism itself; and we have, so to

Contd.P.22.

speak, philosophy repeated twice over in India-once in the several Hindu systems and again in the different schools of Buddhism".

9. Pande, Studies in Mahāyāna, P.105.

10. Cf. Samādhirāja Sūtra, 9.27, "Astīti nāstīti ubhēpi antā, śuddhi aśuddhīti imēpi antā, tasmādubhe anta vivarjayitvā madhyēpi sthānam na karoti paṇḍitaḥ". Also cf. Nāgārjuna, Mūla Madhyama Kārikā, 15.10, "Astīti śaśvatagraho nāstītyucheda darśanam, tasmādastitva nāstitve nāśrīyeta vicakṣaṇaḥ".

11. Cf. G.C.Pande, Life and Thought of Śaṅkarācārya (Delhi, 1994), p.264.

12. D.P.Chattopadhyaya, Knowledge, Freedom and Language (Delhi, 1989), p.271.

13. G.C.Pande, Ekaṁ Sad Viprā Bahudhā Vadanti (Varanasi, 1997) p.40.

14. Cf.G.C.Pande, Studies in the origins of Buddhism (Delhi, 1971) p.500.

15. Ibid., p.503.

16. Madhyamika Kārikā Vṛtti of Candrakīrti, "Atha kiṁ punaḥ śūnyatāyām prayojanam taduktameva... Karmakleśakṣaya mokṣaḥ", as quoted in Ibid. p.504.

17. Pande, Ibid., p.505.

18. Cf. The Editorial Introduction in Shabara Bhāsya(ed), Acharya Pattabhirama Sastri 'Padmabhushan' (N.Delhi, 1984), p.41, "Sarvōpidārśanikaḥ svīyaparamparāprāpta panthānamāśritya gacchan paramatakhaṇḍanēpi vyāprto bhavati. Tadidam khaṇḍanam na bhedabuddhi jananāya kintu sva pratipādya viṣayagata prāsastya pratipādanāya iti nahi nindānyāyōvabodhayati.

Contd.P.23.

Pravalaistarkaiḥ pramāṇaiśca khaṇḍane kṛtepi taddarśanam khaṇḍitamiti na pariganyate. Ataḥ khaṇḍane matim parityajya tattad dārśanika-vastutattvaparijñāne yatitavyam mānavaiḥ sudhibhiḥ. Vadavivādagoṣṭhyām vāvadūkena kenacana anyasmin parajitepi na tena darśanasya nyūnatā siddhyati, nāpi svasya sarvajñatvam sādhitam bhavati. Ayameva samanvayātmakaḥ panthā mīmāṁsakairāśritaḥ".

19. Pande, Studies in Mahāyāna, p.160.

20. G.C.Pande, Life and Thought of Śaṅkarācārya, (Delhi, 1994) p.264.

21. Ibid.,

22. Ibid.

23. Ibid., p.265.

24. Cf. J.N.Mohanty, Essays on Indian Philosophy, Tradition and Modern (Oxford University Press, 1993), p.2, "In the texture of Philosophy, as in the texture of all experience, the historical and the supra-historical are inextricably woven together".

25. Śvetāśvatara Upaniṣad, 6.12.

26. Prof. G.C.Pande, Studies in Mahāyāna (Sarnath, 1993), P.161. It is interesting to note, how Pandeji refers in this context to Dara Shikoh who "discovered a basic unity behind technicalities and convention in Hinduism and Islam", and also to Ramakrishna Paramahamsa who "personally attested to the truth of the systems of worship in different religions".

PROFESSOR G.C. PANDE'S PHILOSOPHY OF HISTORY AND CULTURE

Professor Om Prakash
Department of Ancient History
University of Allahabad

Besides being a scholar of philosophy Prof. Pande is also a practicing historian. His love for both philosophy and history emerges from his empathic response to the original voice of the great Indian tradition he belongs to. This makes him to view history and culture as born out of the value seeking of a people or nation and reducing history to mere representation of the processes that quickens the concrete form by which a culture is known. Unlike most historians his approach is not from form to inspiration but from inspiration to form. It is only with reference to their informing inspiration that that the forms that are consistent with the original voices of Indian tradition of value seeking can be distinguished from those that are inconsistent, contingent or symbiotic with it. Having a concrete form and being housed on Indian soil alone is not sufficient, in the view of Prof. Pande, to make an artifact of culture on Indian soil to belong to Indian culture, unless its inspiration too is Indian. He is, in fact, looking for the identity mark of Indian culture in the inspirational genesis of it.

This is what makes Prof. Pande skeptical about the value of what he calls 'text-free' archaeology of the prehistoric, protohistoric and chalcolithic India as also about the historiography based on ideological and social science models. Archaeological cultures of these phases may be a welcome addition to the repertoire of cultural artifacts on Indian soil but they cannot form a part of Indian culture unless they are shown to be inspirationally compatible with the traditional value seeking of the nation. Linguistic researches converging on the non-Indian origin of Aryans are likewise suspect because they replicate the modern conquest of America and India by Europeans and its aftermath on the imagined encounter of Aryans with India in the remote past without sufficient grounds. Referring to the social and cultural consequences of such faulty constructions and attribution of arbitrarily assigned physical features of Aryans to the speakers of the Indo-European languages in India as against those of Negritos, Austroloids and Mongoloids, he recalls the characterization of Indian politics as a politics of changing conquerors by historians from James Mill to Vincent Smith, leading to the unfounded assumptions of inborn inferiority and stagnation of Indians advocated by Lord Curzon and Nirad Chaudhari attributing them to climatic conditions. No racial features, according to him, can be inferred from what language a particular group of people may be speaking. He also views race and culture as unrelated concepts, as race is derived from biological heredity while culture is not a biological but educational phenomenon. Similarly, all the indigenous and foreign cultural traditions, monuments and artifacts running counter to or concurrently with the national mainstream represented by Indian tradition and its original voice are to be distinguished as supplementary, subsidiary, tributary or opposed to but tolerated by the inherent generosity of Indian culture. Indian culture, as he sees it, is not a sheer assortment of diverse inspirations and artifacts of

cultures synthesized into a whole but it has a distinct identity and a voice of its own (Pande, G.C., 2001, 13-17).

Prof. Pande exhibits a streak of implicit disbelief in history conceived as a fact-based critique of the faith-based or even superstition-based Indian tradition rooted in the matrix of multiple religion and religiosity. He appears to be suggestively upholding the traditional Indian position in respect of the worthlessness of all that is transitory and perishable and the futility of even an attempt to preserve in the form of an authentic record. He often says that keeping faithful record of transitory things is a wont of Western tradition and not that of Indian. A westerner likes to keep a copy of letters written even to his wife. He makes this tendency of not keeping authentic record of transitory things of past by Indian tradition as the ground to deny the possibility of writing a data-based reliable history of social and economic reality as it obtained in the ancient past of India. Such an attempt, according to him, is bound to be full of broad generalizations and surmises based on tenuous grounds or constructions closely following the patterns of imported sociological, anthroplogical and ideological models made to rest on a few picked and chosen bits of evidence (Pande, G.C., 1998). Anthropological models, he thinks, are formulated on the basis of surveys and studies of modern primitive communities in different parts of the world, which did not catch up with normal communities because they have been suffering for a long time from subnormal growth or stagnation. How can the primitive but normal and vibrant communities of the ancient Indian past, be understood in the light of their stagnant and stunted counterparts in other parts of the world, he asks. Ancient Indian social and economic history can, therefore, consist of an account of norms and institutions alone, which may be gleaned from the available corpus of dharmasastra, arthasastra and Purana literature. Presumably, on account of this approach to ancient Indian social and economic history that the works of his two stalwart pupils, Prof. B.N.S. Yadava and Prof. Lallanji Gopal appeared a little disappointing to him (Prakash, Om, 2001, 36-45). These works drifted to fact-amassing exercises in support of the trends and tendencies of social and economic life of early medieval India discovered and detected by them while digging deep into all kinds of sources for relevant information. They also compared and contrasted the normative prescriptions with the factual state of things and institutions as actually obtaining in reality as far as it could be authentically known. Surprizingly, these works dialectically paved the way for the socio-economic constructions of the Marxist counterpoint of Prof. Pande's aforesaid idea of early Indian social and economic history, represented by the works of Prof. R.S. Sharma and D.N. Jha who, in turn, finds Yadava's work as conceptually (but in fact ideologically) inadequate and ambiguous (Prakash, Om, 2001,38-39).

Prof. Pande also pioneered research in urban history by assigning 'City and City Life in Ancient India' as a topic of D.Phil. dissertation to one of his disciples, Prof. U.N. Roy and himself started the study of population in ancient Indian by writing a small paper on the subject. This shows Prof. Pande's early concern for fact and data-based study of newer and untouched aspects of India's past as a professional historian. But these did not take him far enough in that direction. Prof. Roy's work could not come up to the level of conceptualizing urbanization as a current or force of early Indian social and economic

history, which the Marxist historians were to develop later. But its contribution at the fact-grubbing level, including gleanings from art and literature was not a small achievement in those days of pioneering research in uncharted directions and fields. Scholars such as Pran Nath and Josiah Russel developed further the study of population but it could never rise to the level of full-fledged historical study of the rise and fall of population graph in ancient India along with a detailed study of their causes both natural and human, including managerial intervention at different levels, if any. These lines Prof. Pande did not pursue any further.

In the beginning of his career as a historian Prof. Pande appears to have chosen the field of religious history, including the study of philosophy. He preferred to investigate origins of Buddhism under the guidance of the broadminded renowned Vedic scholar and philologist Prof. K. Chattopadhyaya of the Sanskrit Department of Allahabad University. According to Prof. Chattopadhyaya (as cited by Prof. Pande), "for a proper study of the Vedas, it is desirable to apply both the traditional as well as well modern Western modes of interpretation"(Pande,G.C., 2001, IX) Under traditional method are put the ritualistic interpretations of Sayana and others in which the cultural data figures incidentally and the esoteric interpretation of Dayanand, Aurobindo and Madhusudan Ojha bringing out the meaning of theological, metaphysical and spiritual mysteries of the Vedas. The Western mode of Vedic interpretation has been understood as historical and comparative (Ibid.). The reason why Prof. Pande chose origins of Buddhism for working with such a clear-headed Vedic scholar instead of a Vedic theme emerges from Prof. Pande's own understanding of character and composition of Indian tradition. Indian tradition as a whole, as stated by him, is not like an unbroken sequence of words in a sentence but is an aggregate of intermediary traditions. That is to say, Buddhism, Jainism and, for the matter of that, any other religious tradition occupying an intermediate space in it forms a part and parcel of Indian tradition. But the question arises if Buddhism is an intermediary tradition of Indian tradition, why was it rejected and exterminated on the Indian soil whereas other intermediary traditions were not? This question, however, would not have bothered Prof. Pande in those early days because he was concentrating on the origins of Buddhism and not on its rejection and extermination. Any way, in his analysis of the origins of Buddhism its genesis has been looked upon only as an intermediary episode happening well within the overarching horizons of the Vedic tradition already in the process of reincarnating itself as Indian tradition. Once born in its own niche within the Indian tradition, its spirit should always be there, although the physical and transitory manifestation of an intermediary tradition as a religious institution serving its followers might have been intentionally or incidentally liquidated or allowed to disintegrate subject to its posing a serious threat to the physical and transitory manifestation of the host at any particular time. This, however, is a question of power relation among the physical and transitory manifestations of the intermediary and host traditions in which Prof. Pande is not interested. Conceptually, the whole shall always remain the whole despite the addition or subtraction of the physical manifestation of an intermediary tradition as per the law of Nature. Later, at a mature stage, he views the Vedic tradition as an embodiment of unitive vision whereas the Sramanic tradition, including both Jainism and Buddhism are taken to symbolize negation. From these dialectically related antitheses are shown as emerging a number of syntheses described as

classical cross currents, viz. the Mahayana, the Vedanta and the monotheistic trends. In this broad frame are sought to be achieved the reconstruction of "Indian culture, not as museum-model from the scrap heap of time but as tradition of value-seeking expressing itself in concepts and symbols, as perpetual theme for hermeneutic commentary. The history as well as the internal dialectics of the tradition is sought to be brought out by noticing the interaction of theory, practice and experience as also ever dissatisfied seeking for expressing the imponderable seeking symbolically. *Sadhana, vidya* and *kala* constitute the three interacting levels of the cultural process of *sanskrti* in the original sense" (Pande, G.C., 1990, IX-X). At the root of this dialectical process, which is virtually the historical process for Prof. Pande lies the presupposition *manopubamgama dhamma*, i.e. all phenomena presupposes mind. One can visualize how closely the above formulation approximates the historically brought about reality of German unification hermeneutically rationalized by Hegel as a dialectical expression of the self-consciousness of that nation.

An upholder of this empathic approach to tradition with readiness to adjust with the historical and comparative approach, described as Western, Prof. Pande stops focusing on intermediary traditions signifying negation or antithesis in the dialectical process of history and shifts his attention to the host tradition in its recollected form as worked out by the activities and philosophy of Sankaracharya. He dispels misunderstandings about his philosophy and personality and highlights his seminal contribution to Indian tradition and culture in the following words:

"In fact, Sankar's *brahmavada* is not the pseudo-*sunyavada,* his *atmavda* does not ignore humanism, nor is his theory of disinterested action (*naiskarmya*) is a different name of that of inaction (*akarmanyata*). His philosophy can be envisioned in its true form in the image of his own life. The form of Hinduism got built in medieval times and refined in modern times to become a vast and perennial source of humanistic cultural inspiration on the basis of his acts and thought as a sharp student and scholar, affectionate son and teacher, a great self-realized man selflessly engaged in the act of redeeming the world, a man of ceaseless efforts and knowledge, a *yogin* and a devotee. Vedanta (the philosophy propounded by him) is the national *dharma* of India and a universal inspiration. If there is an unprecedented blend of spirituality and rationality in it,which turns it into a philosophical *dharma*, credit for this should be given to Sankara after the seers of the Upanishads" (Pande, G.C., 1992, 116).

From there he finally strides back to Vedic tradition, which, he thinks, is and shall always remain at the root of Indian tradition despite all the successive transformations and reincarnations it might have undergone in the past or which it shall be undergoing in future. His philosophy of history appears to take a new turn at this point. It appears to advocate the blurring of distinction between human and superhuman usually considered to be the basic requirement of history since the days of Herodotus. His argument in this respect runs as follows:

"The historicity of Vedic *rishis*, cannot be viewed by detaching it from the Puranic imagination/ conception of them and it is not necessary to understand this Puranic

conception in the perspective of anthropological concepts. In the narratives about gods and cosmogony in Puranic legends are symbolically intertwined the lore about men and graphic discourses of superhuman mysteries, in the legends about dynasties have been presented the heroic deeds as metamorphosed into folk memory. As the connecting link between the two (superhuman and human spheres), the genealogical accounts of *rishis* extend into their mysterious, gloriously contributive and memory-based factual dimensions. If, on the one hand, these genealogies consisted of the family-tree of real teachers, originators and bearers of sectarian traditions, the memory of their progenitors are found covered by the mist of the memories and imaginations of the too remote past. In all the cultures and spiritual traditions of the world, the need of intermediary agency between gods and man has been conceded. *Rishis* too are the harbingers superhuman knowledge and mercy to man like *siddhas, Buddhas,* prophets and incarnations. Because of their being the seers and propagators of primordial Divine knowledge, the *gotras* originated by them cannot be understood as a merely human and historical lineages. If the personality of the *gotra*-propagating *rishis* goes beyond human history, all the *rishi* families of these respective *gotras* should necessarily be accepted as historical"(Pande, G.C., 2001, 9-10).

This argument has been used to deny the common assumption among historians regarding the *gotra*-propagating *rishis* as eponymous or totemic ancestors of the family lineages tracing their descent from them or counting themselves among those belonging to a particular *gotra.*

This philosophy of history is more in accord with the connotation of *itihasa* of the Vedic tradition than with the modern discipline of history. This kind of traditional narrative is indistinguishable from such mythical and legendary accounts as frequently make the human and superhuman spheres run into each other, show the human and divine characters interacting with each other in diverse ways and bother little about the objective concerns and constraints of time and space. Rather, they tend to create their own time and space as they freely create characters to the requirements of the narrative. If crossing the limits of human history is once made the basis of establishing the historicity of a person or event then all the Bodhisatvas of *Jataka* stories and all sets of twenty four *tirthankaras* of past, present and future ages with all the corresponding *meru* mountains and *bhuvanakosas* will have to be declared historical. There can be no end to such credulity-based constructions. Such a philosophy of history, in fact, emerges from the basic assumption that source of all knowledge and values, all the actions and inactions of the human world and all seeking and achievements of human culture is essentially superhuman and/ or ideal. The processes and media helpful in bridging the gulf between the human and superhuman domains can never be unreal and unhistorical. That memory howsoever faint, misty or laden with mythical or mystical experience of the Divine or the Spiritual order is after all a memory and should be honored as a valid source of history appears to be the line of thinking behind such a philosophy of history. But it may be pointed out that such a memory may be good for representation such as in art /myth/ fiction or for liturgical reenactments over the ages, such as in Ram Lila, Moharram or sad celebrations of the holocaust by the Jews (Dean, C.J., 2002, 239-249). Such cherished memories- happy or sad- go a long way to nourish and perpetuate tradition, being, in turn,

a byproduct of traditional conditioning as also of experience- religious, spiritual or traumatic. Emotive or experiential aspects of human life undoubtedly overlap with the superhuman domain and can very well be made an area of the operation of *siddhas*, *Buddhas*, prophets and incarnations. Memory pressed into service of the concerns of this area constitutes its liturgical or representational use. But such a use of memory is not the same as the use of memory in history. By any stretch of imagination the liturgical or representational can not be proclaimed as historical, despite both of them being based on memory. Memory preserved in its representational and liturgical form is essentially free and floating and lacks the coherence and time and space fixture of its record-bound form. History is not representation or liturgy as a novel, myth, work of art or symbolism thereof, repeated enactments of an event, tradition religious rite or spiritual experience is. History is a harmonious construction based on record or on memory made to approximate the qualities of record-committed memory (Kansteiner, Wulf, 2002,179-197).

If history is far from representation and liturgy in its make up, it is also not to be logically derived, without historically admissible evidence, from the requirements of a model. Models do not willfully or logically determine the construction of history as the plan and elevation given by an architect determine the construction of a building. Historical evidence is not the building material to be secured and applied as per the requirement of the model by the historian. Prof. Pande's philosophy of history has made a singular contribution by rejecting the use of ideological, anthropological and sociological models as scaffoldings of history. He has also done well to call into question the established textbooks on Indian history and the UNESCO *History of Mankind* describing the Aryans as invaders conquering the Indian aborigines and pushing them to lower social status and regarding the *Rigveda* as a historical record of racial/communal struggle between Aryans and non-Aryans, respectively, simply because these have been the views held by a number of historians for a long time (Pande,G.C., 2001, 16-17). History does not go by the authority or likes and dislikes of the great authors but by solid researches and investigations. A position taken for granted can always be re-opened if there is adequate reason to do it. The rejection of the social and cultural role of the conquerors of India in modern times as the only inspiration of progress in an otherwise stagnant nature of Indian people too is a welcome feature (Ibid.). But this rejection does not automatically rule out the role of native forces and circumstances thrusting stagnation upon overwhelming number of Indian people nor make the assumption undeniably entailed that they were in fact necessarily progressive in spite of being pushed to stagnation and subhuman depths. History is not created by unproved assumptions howsoever they may be required by a favored or rejected theory of history, society or culture. What is natural does not constitute the domain of history it takes care of only what is man-made and what concerns man-in-the-world. Nature figures only as a let or hindrance in an historical account. The role of the supernatural is also more or less the same.

History, according to Prof. Pande, is both causal and essential. Causal history is supposed to deal with 'interconnected sequences of causally determined public events' and nexus of social, economic and political relationships emanating from man the maker (*hom fabre*). It consisted of 'recorded or publicly attested action, of conversion and

struggle, martyrdom and conquest leading to the expansion and growth in historical time of a society remembering the past and looking ahead to a future.' Essential history, on the other hand, is taken to be immanent in a tradition of symbols of inward spiritual ascent of man, a perennial spiritual outlook. Time is said to move up and down in spirals cyclically around an inner ascent and descent (Pande, G,C, 1985, 19-20).

Culture, according to Prof. Pande, is both historical and representational at the same time, even though he does not draw a distinction between historical and representational. He identifies culture with the world of symbols created to express a revelation or intuition of value that subsists within the social tradition into which the world of symbols is embedded as the expressive aspect of the ideal context of its consciousness (Pande, G.C., 1985, 15). Value thus represents the gestalt and the basic identity of a culture and originates transcendentally into the esoteric experience of the sublime undergone by a few specially enlightened individuals called *rishis*, prophets, Buddhas, *síddhas*, nabis or *avataras* on whom the Divine or Spiritual revelation bestows itself. It is they who bring it to the *vaikharí* or spoken level. That is to say, as the vehicle of revelation they become virtual representations of it later extended, supplemented and interpreted by a tradition in such a way as to bring the mundane and vegetative aspects of life in line with it. As a perpetuating factor tradition becomes a sacrosanct and fundamental source of value consciousness and/or value seeking in the material world, of which history is an inherent process. The identity of a group of people is tradition specific (Pande, G.C., 1982, 9). History has thus an already assigned task in the Divine or Spiritual scheme of things and stands subordinated to culture which, though existing in the material world, has as its ultimate source, the non-material/ the Spiritual / the Devine. The essential and the contingent are the two aspects of a culture. The function of history should be, according to Prof. Pande, to reconstruct, propagate and preserve the former rather than the latter. In other words, the modern discipline called history only authenticates the tradition and narrates the story of its origin and perpetuation across time. Culture has thus been taken as primarily representational and historical in an essential and non-contingent sense.

This philosophy of culture may be viewed in the light of the following remark of Ashish Rajyadhyaksha in the context of the premature death of the filmmaker John Abraham and the sculptor K.P. Krishnakumar (and with the latter that of Indian Radical Painters' and Sculptors Association) the two exceptionally talented artists of Kerala in 1980 in utter economic, existential and political desperation:

"They may or may not have subscribed to the common view of several CPI (ML) groups that the Naxalite movements were a continuation of the nationalist independence struggle but the consequences of such a view were clearly applied to them. In effectively assigning to the nation's nationalist bourgeoisie a colonial identity, which therefore provided no useful precedents to the practice, the Kerala Radicals' vanguardism.... (assumed) the highly contradictory responsibilities of having to 'introduce history into a land that knew only memory'" (Spivak, Gayatri, 1987, 243).

Introducing history in a land of memory has been conceived in this passage as combining the intellectual tradition of left utopia with personal memory materialized as highly individuated allegorical artistic creations. It was seen as a radical vanguardism - a tendency emanating from the Naxalite movements considered as a continuation of the nationalist independence struggle. While providing the exalted position to its practitioners to reject all identities, it also paradoxically rendered the condition of the exiled so unbearable as to push them to suicide. Memory-based national allegories formulated as literary and artistic creations are necessarily representational and tend to generate their counterparts, the ethnographic allegories questioning the national by local identities. Historicist arguments often do the job of diluting these contending representational identities into the mainstream of a developing human or global civilization conceived on the basis of memory committed to record in contrast to that which is free and floating. This is why the entire Enlightenment tradition, of which historicism is a part, values like universalism, emancipation, national identity, liberty, equality, fraternity, constitutionalism, essentialism, humanism, etc., held a promise to those who were marginalized and pushed to inhuman disabilities and injustice by the cult of pre-modern representational identities. But with the emergence of the dialectics of capitalist and communist or rightist and leftist approaches to the seeking and realization of these values and their hardening into rival ideologies pushed the world to the horrors of the second world war. From there emerged existentialist ideologies and mass movements based on them, focusing on individual's alienation, anomy and dehumanization, on the one hand, and the totalitarian regimes behind the iron curtain with no less totalitarian responses from their liberal counterparts freezing the world into chills and rigors attended by feverish armament race of the cold war. Winning the cold war by exposing the closed totalitarian regime of USSR to the successful maneuvers of economy, proxy war and emerging information technology made the world unipolar, politics liberal and economy privatized and Global. All this was proclaimed as heralding the dawn of a new age called Postmodern, with postmodernism as its ideology. This ideology decried all the Enlightenment values, deconstructed totalitarianism, cultural identity and politics of mass action, including historicism as a promise of emancipation. This age, however, is not without contradictions. Denying cultural identity it is tending to promote cultural imperialism and proclaiming privatization it is subjecting the Global economy to a remote control by the powers presiding over the destinies of the unipolar world. Historicism has been elevated to encompass all history and thinkers like Hayden White and Francis Fukuyama are proclaiming the end of history in a bid to throw the baby along with the bath water. I don't see any reason why polemics directed against historicism should be allowed to pass for self-styled epitaphs of history.

The deconstruction of historicism advertised as 'End of History' created a vacuum, and to fill that is often looked upon as a "hermeneutic task to work out a mode of displacement and exegesis; to go beyond the historicist argument and into an ethical imaginary - an ethics that does not become a constraining law or institutional decree"(Kapur, Geeta, 2000, 344) The void is also viewed as a secular space to be filled by humanly constructed, independent histories that are fundamentally knowable but not through a grand theory or systematic totalization. Such histories would pave the way for regarding the world as amenable to investigation and interrogation, as Edward Said puts

it (Said, Sdward,1994, 377). But the concept of 'the secular' or the secular nation, including the way the people involved in Indian freedom struggle and the founding fathers of Indian Constitution knew it, is not as self-evident in India as it is to Edward Said and others. Anand Patwardhan's films, particularly the *Father, Son and the Holy War* work for the *unmaking* of secular India projecting 'women as the lean survivors of an unholy war raging in the streets of urban India'(Kapur, Geeta, 2000,344). The secular in the Indian context has been narrowed to become an antonym to the communal and further to include only the communalism between Indian Hindus and Muslims, as if these religious denominations are homogeneous social groups. With this distorted meaning 'the communal' is made to overlook the traditionally sanctioned marginalisation and imposition of even subhuman disabilities on a number of Hindu communities and the women within Hindu denomination and also within Muslim denomination. Marginalisation and disabilities imposed on certain communities within Muslim denomination is twofold, as conversion to Islam could not remove all the inherited discrimination meted out to those erstwhile Hindu communities.

Prof. Pande's above philosophy of culture seeks to fill the void created by the displacement of the historicist argument in a non-secular way, which has always the danger of being branded as communal. " The great question is", writes Prof. Pande, "Were the nationalists mistaken in their estimate of the potential of India? Is that section of our contemporary intelligentsia correct which assumes that the nly road to progress for India lies in her resolutely turning away from the past? Can any people really disown their past except through a long and toal imposition from above? In any case, has India any alternative except to develop in the light of her own genius and tradition?" (Pande. G.C., 1985, 5-6) Steering himself clear of what is contingent and emphasizing the essential in Indian tradition, as has been shown above, he appears to affirm historical commitment to national selfhood (always rooted in that essential), the remote beginnings of which are, according to him, necessarily representational rather than historical. But there are also representational dilemmas of postcoloniality and a need, as pointed out by Homi Bhabha, to valorize 'the other' and renaming the postmodern from the position of the postcolonial (Bhabha, Homi K., 1994, 3). Though once condemned as celebration of migrancy as exile and of vagrancy as diaspora, the discourse of valorizing 'the other' now represents the ambivalent, restless and interrogative immigrant intelligentsia of the third world lodged within the first world and reviewing and assessing from that vantage point the discourses of the rooted intelligentsia of the country and finding it as a subjectivity characterized by an 'inwardness, stillness and negative praxis – the narcissistic, deformative othering of self ' (Bhabha, Homi K., 1994, 241). Shall this inquiry of the floating intelligentsia be tamed and co-opted to the discourses of rooted intelligentsia of which Prof. Pande's philosophy of culture is one or shall it view the latter as too credulous and traditional?

Another problem with this philosophy of culture is posed by the questions raised by the subaltern concerns emanating from the margins of modernity as well as traditionality. The representational character of this philosophy ruling out the contingent on the level of material reality holds no promise other than the empty ideals of humanity and emancipation to the subaltern sections of Indian society. In Indian tradition there is a

disjunction between high-sounding ideals enshrining the values of humanism, emancipation and essential unity of all beings and the prescribed *dharmas* sanctioning the practice of untouchability, social discrimination and all sorts of disabilities imposed on women, Sudras and *antyajas.* The ideal of emancipation likewise does not liberate man or any of his classes from social, economic and mental bondage but his soul. The promised liberation (*moksha*) if secured while living, is only a non-sharable intuitive experience, and if achieved after death, is a matter of credulous belief. The conduct of the gods, the *rishis*, the Enlightened and the powerful are not to be questioned or imitated is another doctrine sanctioned by tradition, which, in effect, leaves everything that matters in the material life of man to the unruly power relations obtaining among the powerful.

Indian tradition regards the material body of an individual, including the world of its vegetative subsistence, the prison of the soul, which gets liberated by securing release from this bondage. The postmodern proposition, as sounded by Foucault, regards the soul as the prison of the body (Foucault: 1977, 30). The mirror opposite character of the two positions is more apparent than real. In fact, the high sounding ideals are so empty of the material implication that they hardly create any sensitivity against the sufferings and subhuman existence of the untouchables, women and other subalterns burdened with all sorts of traditionally sanctioned disabilities. Needless to say, these high sounding ideals of humanity and emancipation never rose beyond the level of a rhetoric and turn volt face vis a vis the reality of social life. That is why they tend to support and oppose in the same breath the postmodern propositions of gross consumerism and materiality. The disjunction between norms and facts, the ideal and the real and the spiritual and the material in life and the unequivocal doctrine of the total worthlessness of the latter members of these opposites, makes the unholy marriage between such high ideals and the equally low and negative record of their translation in practice possible. Nalini Malani's painting entitled 'Love Deception and intrigue' 1985-86 illustrates this disjunction and the unholy union best. The painting is an expression of the subjection of subaltern subjectivity to the strange union of the rhetoric of love and its volt face - deception and intrigue - on the plane of stark social and historical reality. There is an antidotal complementarity between the traditional Indian and postmodern adumbrations of culture, knowledge and power. Focus on social and historical reality is taboo with both and needs to be deconstructed for letting the spiritual and metaphysical rule, in the first case, and consumerism as undefined Globally operating power, in the second.

To conclude, Prof. Pande's philosophy of history and culture may be appreciated as a monument of the empathic understanding of the traditional Indian approach to life as rhetorically elaborated on the level of time-honored norms and values in their characteristic breadth of vision, spiritual essentialism and the rhetoric of magnanimity. The record of its seeking need not be bothered about much. It hardly matters even if this seeking does not square up with reality as it actually came about, for norms or *dharma*, and their seeking too are eternal. They are not necessarily confined to a segment of time and space and therefore defy all attempts at evaluation. History as an authentic record of the past relevant to specifically situate a time-and-space-bound present of a people and culture thus stands basically deconstructed in favor of the traditional meaning of *Itihasa* as *puravritta, gatha or udaharana* illustrating and describing the seeking attempted in the

past, real or imaginary, but embedded in the traditional memory and represented by its surviving relics along with its impact on outside world. This view has done well to balance the aggressive and, at times, vengeful materialist and historicist approach to Indian history and culture with a contemptuous disregard for tradition. But in the process of making this valuable contribution, it has deconstructed history and made it conform to the traditionally held meaning of it. History reduced to tradition is, to my mind, as bad as history reduced to historicism. The material is as essential to man and his culture as the spiritual. Reducing one into the other or vice versa is definitely against the grain of history. The truly historical approach is to rise above these binaries instead of rejoicing in securing the victory of one over the other by taking resort to constructs supported by innumerable juggleries and jargons.

References

2002 Dean, Carolyn, J., "History and Holocaust Representation", *History and Theory*, 41.
2002 Kansteiner, Wulf, "Finding Meaning in Memory: A Methodological Critique", *History and Theory*, 41.
2001 Pande, G.C., *Vaidika Samskriti* (in Hindi), Loka Bharti, Allahaabad.
2001 Prakash, Om, "B.N.S. Yadava as a Pioneer of Allahabad School of Social History" in *Puratattva, Journal of the Department of ancient IndianHistory*, No.1.
2000 Kapur, Geeta, *When was Modernism*, Tulika Books, New Delhi.
1998 Pandey, G.C., Unpublished but Recorded Inaugural Address for the Seminar on "Social Reality: Constitutional, Social Sciences and Historical Perspective" jointly organized by the Department of Ancient History, Allahabad Museum and Culture Department of U.P. Government.
1994 Bhabha Homi K., *The Location of Culture*, Routledge, London.
1994 Said, Edward, *Cultural Imperialism*, Verso, London.
1992 *Sankaracharya Vichar aur Sandarbha*, Hirananda Sastri Smarak Lectures, New Delhi.
1990 Pande G.C., *Foundation of Indian Culture Spiritual Vision and Symbolic forms of in Ancient India*, Motilal banarasidass, Delhi.
1987 Spivak, Gayatri, "A Lietrary Representation of the Subaltern: A Woman's Text in the Third World" in In Other Worlds: Essays in Cultural Politics, Methuen, New York.
1985 Pande, G.C., *An Approach to Indian Civilization*, BHU,Varanasi.
1982 Pande, G.C., *Bharatiya Paramapara ke Mulasvara*, Vatsalanidhi Laectures, New Delhi.
1977 Foucault, Michel, *Discipline and Punish: The Birth of Prison*, Pantheon, New York.



Understanding Society
(Thoughts of Prof. G.C. Pande)

4/3/03

Sibesh Bhattacharya

Indian Institute of Advanced Study

Simla

1

Social history of India has long been an active field of study. And lately, under the impact of India's 'developmental' quest and official patronage, socio-economic history has become one of the most coveted areas of academic interest and research. It may therefore appear somewhat surprising that despite a steady flow of works on the economic and social history, one rarely encounters instances of efforts at understanding the conceptual universe that lay behind the scheme of Indian social arrangement. Prof. Pande is a rare exception to this general apathy. His *Bharatiya Samaj: Tattvik Aur Aitihasik Vivechan*[1] comprising the annual Govind Ballabh Pant Memorial Lectures delivered in 1991 at Govind Ballabh Pant Social Science Institute, Allahabad, contains his latest and most elaborate statement on the nature of Indian society. Coming from a professional historian, the book inevitably partakes of the character of historical account. But it is much more than a conventional historical narrative. The historical account is woven into a matrix that constitutes the real project, the wider pursuit of the book. This pursuit is an excursion to understand what makes up a society, what relation society bears to culture and what history is all about. *Bharatiya Samaj* thus is a companion volume of another of his seminal work, *The Meaning and Process of Culture*[2]. It is as much, or perhaps more so, a work on philosophy of society as a historical study of Indian society. The present essay is an endeavor to travel along with Prof. Pande in this excursion. And the essay is based principally on the *Bharatiya Samaj*.

The accepted theoretical domain within which the current social science disciplines operate constitutes the background against which Prof. Pande develops his own thesis. Put differently, it may be said that the prevailing theoretical universe of social sciences represents the *Purvapaksha* of Prof. Pande's argument. It is therefore necessary to take note of the salient features of the prevailing social science scenario.

2

With its phenomenal progress and the innumerable material advantages that have followed in its wake, particularly for the last two centuries, science has established a hegemonic discourse that has overflowed into practically all disciplines. Next to the natural sciences, the study of various aspects of society has been influenced most by this development. And around this discourse and its methodology a class of disciplines, usually grouped under the label of social or behavioral sciences, have come into being and have come to occupy an unchallenged position in our contemporary understanding and study of society. This development has totally displaced, in fact, outlawed, the traditional understandings of society and the grounds of those understandings. It is not 'social scientists' alone, but historians and philosophers too share the perception. The traditional views of society in the contemporary academic dispensation have relevance only as historical evidence, a part of the belief systems of bygone peoples and ages. They are regarded as totally bereft of any contemporary relevance as an alternative basis of social organization or even as alternative tools of analysis for understanding social reality. Prof. Pande's work is a plea for the intellectual and academic reconsideration of the traditional understandings.[3]

There are distinct shades of opinions and schools of thought within social sciences. Nevertheless, the present day social sciences have certain cardinal common

features. The nature of society is regarded as 'factual', i.e., a society is a product of certain constituent facts. To understand a society one has just to grasp these facts and their interrelationships and the basis of the interrelationships. And the basis of these interrelationships is again viewed as 'factual' in character --- 'interests' being their central ingredient. There are of course a varieties of opinion as to how the multiplicity of interests, often conflicting in character, gets articulated in social setup. But there is hardly any difference of opinion on the point that a society essentially is a matrix of interests. It is thus natural that the prevalent social science views the societal facts as value-neutral. In other words, as material for study, social facts are considered as value-neutral and as amenable to empirical observation in the same way as is done in the natural science disciplines.

It is true that many social scientists include mental and psychological factors like will, desire, motive, etc. But they regard the mental and the psychological world only as extensions or reflections of the external aspects of society and as tied in an indissoluble manner with them. And often these are projected and studied as physical entities pure and simple. Society is also sometimes looked upon as a biological entity responding to the law of evolution. It is well known that the Marxist interpretation discerns an unalterable evolutionary path that every society has to chart. Within this interpretation, however, the notion that a society is a baggage of interests remains. Irrespective of mechanistic or organic formulations of the nature of society, on the point that society is essentially a manifestation of matter and materiality there is hardly any disagreement.

The current social science premise seems to be a reversal of the Cartesian formulation, 'I think, therefore I am'. It seems to be an elaboration of the belief, 'I am, therefore I think'. In other words, it is generally accepted that the human thinking is the expression of human selfhood. And more importantly, it is believed that the social relations, social roles and social motives embodying material interests define the human selfhood. Thus even when social facts are regarded as meaningful in the context of

human ideas and aspirations, they are interpreted in a material cause-and-effect relationship. In such interpretations want and necessity posited on a material plane are the key concepts and tools of analysis. And the underlying assertion is that social facts make sense only in the context of these concepts. Society in the current predominant social science perception is viewed as an artifact and that it can be understood best on that premise.

3

The suitability of social science mode for an understanding of society raises several issues and there are grounds for misgivings about the validity and utility of the effort to attribute the character of scientific knowledge to the knowledge of society. These misgivings spring from the fact that man constitutes the object which is studied in social science. Moreover, human behavior is not only enormously more complex than the behavior of a 'falling stone', but man is also essentially different from a material body. Here, i.e., in the differing perception of the essential nature of man, lies the dividing line between the contemporary social science views and those of Prof. Pande. However, before we take up this crucial issue, it would be useful to consider why Prof. Pande thinks that even within their accepted perception and methodology social scientists have failed, and would continue to fail, in approximating their proffered scientific goals.

To appreciate this point it is necessary to comprehend the distinctive nature of scientific knowledge. Although an extensive discipline called philosophy of science has developed around the issue of the nature of science, Prof. Pande thinks that this inquiry would eventually get submerged in some of the perennial philosophical questions instead of elucidating the nature of science as a discipline. In some ways, science has always been an area of man's quest of knowledge. But its present characteristics are a recent development and have been bestowed by the modern Western civilization. To understand

the nature of science as a discipline one should turn towards the history of these developments. The following are some of these characteristic developments. The first notable feature is the application of experimental methodology. Secondly, the use of more and more refined instruments in scientific studies has vastly expanded the area and range of observation. And this has created the feeling that everything falls within the scope of empirical observation and that empiricism is the only viable source of knowledge. Thirdly, the methods of measurement have been achieving a progressive sophistication and importance. Fourthly, in interpreting the data collected from the progressively refined measurement techniques, there has been a corresponding and progressive development in mathematics and statistics. The application of these mathematical and statistical concepts has been another notable feature of scientific development. This symbiotic relationship between the progress in natural science and mathematics has allowed the former to achieve a degree of precision that has made it take a giant leap forward distancing itself from the commonsense knowledge of practical utility of yore derived from observation.

Despite these developments, however, science still continues essentially to be a refined and theoretically formulated form of 'practical knowledge'. It is the infallibility at the 'practical' level that continues to be the touchstone of science. The test of scientificity lies not so much in internal logical consistency of arguments as in its demonstrability. Its locus therefore remains anchored to the universe of sense perception. This, in fact, represents the very heart of the characteristics of scientific knowledge. And scientific conclusions are validated or invalidated on the basis of their experimental demonstrability. This gives science its power of prediction and practical usefulness and which in their turn have given science its irresistible attraction and popularity.

There is of course certain amount of similarities between the knowledge of society and the knowledge of the natural world. Both forms of knowledge are objective in character and are comprehensible in cause-effect terms. Both forms of knowledge require validation by proof (*Pramana*).[4] Both forms of knowledge are therefore dependent on perception (*Pratyaksa*). It is an awareness of a reality that mainly lies outside the

subjective self of the knower (*Jnata*, *Vishayi*). Moreover, even though man constitutes the real object of study in social science giving social science its distinctive character, it can not be regarded that man is a supernatural or supra-natural entity and that human distinctiveness makes man above the law of nature.[5] It is thus clear that the scientific character of the knowledge of society is not being disputed by positioning it in the realm of the esoteric. It is important to remember this, for in Prof. Pande's formulation of the nature of society the spiritual core of man has been assigned an important role. We will come back to this point later as it is one of the key points of departure between him and the prevalent principles of social science. But let us first take note of some of the inadequacies of social science in following its own charted path before positing an alternative one.

Even after the adoption of scientific methodology, experimentation and predictability are generally absent in social science. Psychology, econometrics, demography, etc., share to a certain extent the experimental methodology and predictability of natural science. But the distance these disciplines have still to cover to catch up with the natural science remains not only a very long one but also appears unattainable. For example, the predictability in econometrics and demography can operate within a very limited area and the experimental methodology in psychology remains confined actually to the biological aspects of man. Neither the methodologies of social science and natural science are genuinely comparable, nor the laws in natural science and the laws in social science are. "Clearly the social science methodology is neither hypothetico-deductive, nor experimental, nor its laws are equations of measurable functions, nor can these laws become the basis verifiable predictions."[6]

4

Inapplicability of natural science methodology to social science in toto had been noted right from the time of the genesis of social sciences. But this did not inhibit the positivist enthusiasm or confidence. It has been generally asserted that the natural science

methodology can be profitably applied to social sciences with such adjustments as will take care of the human factor. Moreover, there has also been an undercurrent of hope that with its progressive advancement, scientific methodology would be eventually able to triumph over the difficulties created by the human factor. In short, no genuinely alternative methodology has been advocated. In this respect Prof. Pande's views mark a radical departure from the commonly trodden path of contemporary social science. He thinks that emulation of natural science is not likely to yield much vital knowledge beyond some external and peripheral aspects --- aspects that have 'materiality'. Space, time, attribute, function, causality, etc., all belong to the domain of empirical reality and they comprise a substantial part of human world. It is not that these aspects have no role in the making of the knowledge of society, but these roles are secondary and are not the true representatives of the human distinctiveness.[7] Prof. Pande argues that knowledge of society can not be had without understanding what man is or the distinctive trait that distinguishes man from nature and from other creatures. Society as a human formation can be fathomed only in the light of that. This equipment is essential for knowledge of society.

Differences in subject matter and availability of tools interpose a qualitative difference in the kinds of knowledge of natural and human worlds. Same amount of precision and invariability are not present in the knowledge of society as in that of natural world. There is also another significant difference between the two. It is the role of language. All knowledge, whether of the natural world or of the human, is mediated by language. Essentially, there are two kinds of knowledge of the objective world, the direct perceptional (*Pratyaksha*) and the secondary imaged (*Vikalpatmaka*). The *Vikalpatmaka* knowledge is textured in symbols. Perceptional knowledge is dependent on sensory encounter (*Sakshatkara*) with objective phenomena. But it yields knowledge of only a very limited time and space specific object. Perceptional knowledge requires the anchor of the secondary knowledge to achieve awareness and articulation (*Sphutatva*). The popular notion is that scientific knowledge is predominantly perceptional. In reality, however, inference and deduction (*Anumana*) too play a major role in it. To articulate the

encountered experiences and to bring out the universals underlying them and systematize them into a body of laws are the real aims of scientific study. Obviously in these, language plays an important role. But language plays a far wider and complex role in social science. Language has a dual role in the constitution of the knowledge of society -- - language is a part of the social formation on the one hand and a tool of knowledge formation on the other. An appreciation of the function of language as a repository of the mind of a society is a must for an understanding of the society. And this can not be done by a merely external analysis; it requires an empathetic identification with the mental universe of the society under study.[8] Unfortunately, even when the mental world is taken into account in social sciences, the ideas and their expressions are looked upon as some kind of 'physical facts' and their 'value' contents are practically ignored. This according to Prof. Pande is a serious deficiency of social science attitude. Thus the adoption of the methodology of science would continue to impose restrictive or distorted perspectives on understandings of society.

5

In contrast to the current scientific or social scientific view of man, the traditional view may be counterpoised.[9] It is noteworthy that before the present age of 'scientism' had gained hegemonic authority, other methods and sources of knowledge were not only prevalent, but enjoyed greater prestige and authority. It may be remarked here that in delineating the traditional perception, Prof. Pande relies mainly on the Indian. However, it also needs to be noted that all old traditions, including the Indian, are practically unanimous in differing from the materialistic concept that regards matter as the fundamental entity in the world. Man, in the traditional view, is not primarily a manifestation of materiality. It therefore follows that the pursuit of material ends alone does not reflect the whole of human aspirations and man's quest for fulfillment. Want and interest represent the physical and biological needs of men; these by themselves are incapable of expressing the deeper human urges that spring from the core of their being.

The social organizations or social formations are not analyzable in terms of conflict, tension and convergence of interests alone.

It is not that the material needs are of no consequence. *Artha* and *Kama* are important pursuits (*Purushartha*) in life, but they are not ends in themselves. Not by bread alone has been a common refrain in all religious traditions. The futile chase of achieving fulfillment and perfection in the ever widening and elusive horizons of economic development, not withstanding the theoretical possibility of equitable distribution of power and pelf, is writ large in the very foundational principle of economics -- 'wants are unlimited'. The simple truth is that there is an innate sense of inadequacy, a pervasive feeling of insecurity, which characterizes the very fact of human existence. Although a substantial part of the efforts that constitute 'modernity' is directed towards making man forget this very fact, the project can not be said to have succeeded. This pervasive sense comes from an instinctive awareness that life rests in the shadow of death. There is an enduring sense of suffering (*Duhkhabodha*) that afflicts human being. This is the real import of the famous Buddhist assertion '*Sarvam Duhkham Duhkham*'. The awareness of the limitation of the earthly existence infuses an omnipresent pallor of sadness to human life from which man seeks release. To transcend this limitation, to achieve immortality and limitlessness, have been the deepest yearnings of man. The attainment of this state has been given various names like *Isvaraprapti, Amritatva, Mukti, Moksha, Nirvana*, etc. Till scientism had swamped all discourse, this was considered as the final goal of human life and the only durable meaning of all human endeavors.

The vision of this life without afflictions of limitations is occult in nature, and so is the praxis prescribed for attaining it. The transmission of this transcendental vision to the temporal world is effected through the mediation of extraordinary human beings like prophets, seers, etc. It is an act of bringing on to the earth and the temporal world what is divine and timeless. It is like accomplishing the descent of the Ganga from the heavens to the earth by Bhagiratha. The transmission of this vision and the process of its dissemination play key roles in the making of a society because they provide the foundational stuff for its genesis and development. Moreover, it is this vision, and not the

external form, which continues to be the vital part of a society. It is the philosophy of life, the *Philosophia Perennis*, which creates and nurtures the tradition or the *Agama* that sustains a society.[10] The *Agama* or the tradition provides the nourishment for sustaining the life of a society as well as the bond that keeps it together. The tradition also gives the society its personality and its identity.

There can not be a society without a sense of a society. It is this consciousness, which may be called 'social consciousness' (*Samajik Bodh*) that brings a society into being. The social consciousness crystallizes around a philosophy of life that is wider than the mere struggle of existence at the physical and material level for livelihood and gratification of senses (*Artha* and *Kama*). The awareness or knowledge of the self (*Atmabodha*) is the fountainhead from which the social consciousness flows. The consciousness of the self has several layers. At least two of them, the physical and psychological, are recognized in modern science too.[11] Indian philosophical systems have consistently been asserting that there is a deeper layer called *Atman* and that it is the same as the universal self.[12] The self-awareness (*Atmabodha*) is thus to be understood in the sense of the famous saying 'know thyself' (*Atmanam Viddhi*). The transcendental vision of the meaning of human life centers on this notion and the social consciousness arises from a collective acceptance of this notion. Thus it is not the convergence of material interests that constitutes the kernel of a society but a philosophy about the meaning of life. The social consciousness thus is an embodiment of the traditions of value that a society builds and inherits. It may be said that the characteristic feature of the social consciousness is that it knits the individual's sense of belonging, his sense of the past and continuity, his idea of duties and obligations, his beliefs and aspirations into a relatively more durable, yet somewhat invisible, system of regulations. It may be described as the omniscient and ever-present conscience (*Antaryami Atma*) of the society that keeps on guiding the individuals about their ideals, their rights and duties and defines the area of fulfillment in a life of activity and work.[13] It is the inherited traditions that demarcate one society from another. And the traditions form around the *Agama*.

Agama in its original form is not articulated as a system; its earliest expression takes place in poetic or mythological utterances. In its original form it gives complex utterance to the mystical apprehension of truth in iridescent symbolical idioms.[14] In fact, *Agama* in its original form, that is *Amnaya*, is *Sanatana* (timeless, ahistorical) and is *Avyakta* (unmanifest). And since the utterances of the seers and prophets are symbolic expressions of supra-sensual truths, they do not remain untouched by interpretative endeavors. These utterances should not be confused with full-scale or systematic expositions --- they are utterances quivering with suggestive symbols. They thus remain objects of contemplation and interpretation.[15] This gives rise to a body of statements and assertions that grow into a tradition. Culture is but another name of this tradition and society is the physical frame of culture. A society gets its individuality from the culture it carries. A human society is distinguishable from, say, a herd of cattle by the fact that the former is characterized by *Dharma*. The animals too are sometimes seen forming groups, but that does not entitle them to be given the name of a society. Even biological kinship (*Samaja*, i.e., of equal birth) and herd-behavior do not constitute a society; humanness is its essential attribute. And the distinctive mark of humanness is *Dharma*. It is the possession of *Dharma* that distinguishes humans from animals. "*Ahara* (eating), *Nidra* (sleep), *Bhaya* (fear), *Maithuna* (sex) men share with animals; it is *Dharma* which is the special bit of extra that men have. Bereft of *Dharma* men are but animals." [16] *Dharma* at the personal level signifies the ultimate truth, the goal of life, the knowledge of the self (*Atmabodha*), the dictate of conscience (*Viveka-buddhi*), etc. But its social countenance takes the form of a set of regulations (*Achara, Vyavahara*) enshrining a set of values that a society generates from its *Agama*. A society thus also is a configuration of values.

In contrast to the modern social science concept, the traditional Indian view of society is based on its notion of human self. According to this notion man is not a rational animal but is the *Atma* in its worldly sojourn (*Sansara*) and that he can derive his idea of right and wrong (*Hita, Ahita*) from transcendental knowledge or from the *Agama*. In the modern empiricist outlook there is no proof of the existence of any transcendental truth and man, as a creature of nature, on the basis of rationally worked out laws raises social organization. This social organization can, and does, undergo changes according to the

changes in the knowledge-state of man. In the traditional Indian outlook man bound in the ties of natural appetites can find fulfillment by following the guidance of eternal truth (*Sanatana Satya*) or *Dharma*. *Dharma* is the transcendental knowledge as articulated to the temporal world by the seers and saints (*Arshya prajna*). Therefore a conflict between the demands of *Dharma* on the one hand and the pulls of the natural appetites on the other is inevitable. The social organization arises from this conflict between the ideal and interests.[17] A social organization thus can not be understood or interpreted by divorcing it from its 'ideal' backdrop.

A society is also a texture of relationships. Unlike the natural world, the relationships in the social domain do not remain constant.. These relationships pertain to two areas: (1) *Artha*, which relates to material life and includes economic and political aspects, (2) *Dharma*, which relates to the ideal life and includes ethical and spiritual. There are both civilizational and cultural elements in a society. Science and technology, art and literature, language and law, are elements of civilization. Culture is the spiritual and the ethical values that characterize these elements of civilization and which functions as the internal thread knitting them. Thus culture is the philosophy of life of a society that regulates, or aspires to regulate, the relations of interests. The culture emanates from the society's view of *Dharma* rooted in its *Agama*. The elements of civilization are culture-neutrals and thus can effortlessly extend to various societies. Culture remains bound to a particular society in the sense that same culture can not produce distinct societies. In fact culture and society are coterminous. The extension of a culture would automatically lead to the extension of the concerned society. It is culture that gives the society its distinctive personality and identity.[18]

Culture, civilization and state are distinct entities embodying successively narrower concepts. Culture reflects the original universal consciousness (*Maulika Drishti*) which assumes distinct forms (*Rupa Bheda*) from distinct forms of interpretations (*Vyakhya Bheda*). Civilization embodies the organizational setup for meeting practical ends. It acquires distinctiveness of character from situational and technological differences. Like a sheath, however, it protects and nourishes the culture.

Just as in legal systems the interests of state and the ends of justice gets intermeshed, similarly in the social systems the elements of culture and civilization get intermeshed. It is well known that state is the political organization of society.[19]

If culture is regarded as the configuration of a system of values, then the area in which a value system operate s should determine the geographical dimension of the corresponding culture. In the spread of culture language and art play key roles. In ancient times, e.g., Sanskrit and Indian art had spread to Central Asia and South East Asia. These areas were parts of Indian culture and hence of Indian society. However, in matters of customs and practices and in organizational aspects these areas differed from the Indian mainland. But the customs and practices along with the organizational aspects, as we have seen, are elements of civilization and not of culture. Thus a society as a cultural unit may contain within its bounds more than one civilization or civilizational components.

6

One of the highly interesting aspects of Prof. Pande's formulation is the interrelationship of value, culture, society and civilization. Normally, culture is regarded as the product of a society and society is considered to be the primary or the original phenomenon and culture as a kind of secondary creation of the society. This view looks upon society as the cause and culture as its effect. Prof. Pande inverses this relationship. Culture is not created by society; it is the other way round. It is culture that brings society into being. It thus follows that a society is not a natural organism. It is not a biological entity that is endowed with an innate life force as in Spengler's theory. A society is also

not just a human group engaged in the task of production and distribution. Any collection of human beings does not automatically qualify it to be designated as a society. It is only when a human group develops a philosophy of life based on a system of values, it becomes a society. The philosophy of life based on a system of values constitutes a culture, which in its turn calls the society into existence. It must be added that in Prof. Pande's view the values are essentially moral values. Neither culture nor society is a given. They are created. Borrowing Vico's terminology culture and society can be counted as *factum*.

An attractive dimension of Prof. Pande's formulation is its liberal spirit. Since culture is a vision of life of moral and spiritual fulfillment expressed through a tradition embodying a system of values, any number of communities may embrace it. A society in Prof. Pande's formulation does not have to be a monolith. It does not demand an all-encompassing conformity; it only asks for sharing a certain core values and not for conversions. While a society's cultural personality, in this formulation, will wear a degree of distinctiveness and a certain amount of individuation, it leaves ample free space for the existence of plurality of customs, conducts and organizational diversities. Thus a society as a vehicle of a culture can contain within its fold a number of political communities and civilizations. Such a liberal concept appears particularly attractive and relevant in the context of the present state of world with its rising tides of narrow ethnicism. Moreover, in his theory there is nothing that would negate the possibility of the growth of a global culture based on a uniform system of values derived from the spiritual and moral essence of man. It is here that the value of a traditional culture, especially Indian culture, lies.

---

[1] Published in 1994 under the auspices of G.B. Pant Social Science Institute, Allahabad by National publishing House, Daryaganj, Newdelhi

[2] *The Meaning and Process of Culture*, Second Edition, Allahabad 1989

[3] It is of course easy to brand this as obscurantism and 'hang' it by giving it such a name. But in the intellectual arena prejudice should not normally be allowed to prejudge an issue before giving due hearing to the case.

[4] *Bharatiya Samaj*, p.8

[5] *ibid.*

[6] *Bharatiya Samaj*, p.6

[7] *Bharatiya Samaj*, pp. 10,28

[8] *Bharatiya Samaj*, pp.9-10

[9] The view about the nature of the fundamental constituent of the world appears to be undergoing some fundamental change in the current scientific perception. It appears that the notion of inert material substance is changing and is veering to the traditional oriental notion of conscious substance as the fundamental entity.

[10] All thinkers recognize the importance of ideology. In fact science in its form as scientism is fast becoming an ideology and is trying to supplant all older beliefs.

[11] *Bharatiya Samaj*, p.23

[12] *Atma* of course can not be an object of direct perception; it can not be shown as a cow can be by 'taking it by horns', *Bharatiya Samaj*, p.24.

[13] *Bharatiya Samaj*, p.12

[14] *Bharatiya Samaj*, p.23

[15] *Bharatiya Samaj*, p. 23

[16] *Bharatiya Samaj*, p. 28

[17] *Bharatiya Samaj*, p. 29

[18] *Bharatiya Samaj*, pp. 36-39

[19] *Bharatiya Samaj*, p. 39

The Concept of Ṛta as Expounded by G.C.Pande: A Critical Evaluation

R.R.Pandey

Among philsophical speculations the first phase is dominated essentially by cosmology. In the Greek Philosophy the problem of all philosophers from Thales to Anaxagoras was, what is the nature of that- first principle from which all things have issued? Thales asserted that the ultimate principle is water, Anaximander indefinite matter, Anaximenes air the Pythagoras Number, the Eleatics being, Heraclitus fire, Empedocles the four elements, Democritus atoms , and so on.

The question as to how this universe came into being seems to have been raised by our Indian Ṛṣies in the following manner:

What was the tree, what wood in sooth produced it,

From which they fashioned out the earth in the heaven. 1

In the earlier stage every God is looked upon as the creator of the universe. Sometimes, the world is presented as a

general architectural art. In the Ṛgveda, God Vishṇu is shown as having measured out the three worlds with his three steps:

I will proclaim the mighty deeds of Vishṇu of him who measured out the earthly spaces. 2

The oft quoted lines in the connection are as follows.

The real is one, the learned call it by various names Agni, Yama and Mātariśvan. 3

Man begins by looking outwards upon the external world and not looking within his own self. Here is a demand which is an explanation of nature and it is dominant cosmological approach. The problems of man, of life, of human destiny, of ethics are treated scantly or not at all. It is not till the time of sophists that the Greek spirit turns inwards upon itself. 4

The moment man is born he is confronted with a bewildering mass of phenomenal world. He is the 'subject' and the entire universe is his object. The polarity between 'subject' and 'object', 'Ahaṁ' and 'Idaṁ', 'Self and and not-Self ' is very obvious.

All philosophy is a critical enquiry about these two fundamental concepts and their mutual relationship and ultimately its culmination into transcendental unity. In the philosophical enquiry when emphasis is on the concept self- it is Ȧtmavidyā. When the emphasis is on its counterpart i.e. not-self and its origin and exposition- it is cosmology. G.C. Pande holds that the Vedic conceptual structure is a beautiful conceptual edifice made out of the fabrics of Ȧtmavidyā and Sṛṣti Vidya. In the beginning the Sṛṣti Vidyā dominated but in the later part of the Vedic era Srsti Vidya was replaced by Ȧtmavidyā. Upniṣads declare : Ātmā va'sre Draṣtavyaḥ. In the earlier Vedic era the concept of Ṛta dominated, Vedic deities were divine forces connected with Ṛta. As a matter of fact Ṛta, Satya and Devatā are three dimensions of one Absolute Reality; Self on the one hand transcended the concepts of Devatā and became the very Absolute itself: Again, Ātmā, Brahma, on the other hand

Devatā- creation, Havi and Yājaka are non different with the Absolute.

Brahmārpaṇaṁ ... brahmakarm Brahmakarmasamādhinā. 2.24

Man was very much associated with Yajna. In the later Vedic era deities were replaced by the concept of Brahman, Ṛta by the concept of Dharma and Puruṣa by the concept of Ātman. Yajna was replaced by Upāsanā culminating into Jnāna. Thus Parāvidyā was identified with Brahmavidyā. The prevedic era was dominated by four concepts Ṛta and Devatā; Puruṣa and Yajna while in the later Vedic era the concepts of Brahma, Ātmā, Upāsanā, Jnāna and Dharma became prominent. 5

The concept of Rta is the fundamental concept of Vedic cosmology. Etymology of Ṛta is from the root Ṛ which means motion, thus Ṛta means motion and its path. Ṛta has been associated with Satya from the very beginning. In the Avesta the Iranian form of Ṛta is As'a which is used for Satya and Dharma. In the old Persian, it is like Arta thus Ṛta has been

interpreted- joining completely . In this way Ṛta means- complete binding i-e, controller or sustaining rule; 6

Rivers flow due to Ṛta the sun has unfolded the creation. 7

Big warriors fear Ṛta. 8

Following Ṛta Sarama got cows. 9

Adityas, those who follow Ṛta their paths are fine.10

In these illustrations Ṛta symbolises good, truth and right.

In the beginning of creation there was Ṛta and Satya. Ṛta and Satya were born out of severe penance then was born night, then tidy ocean. The Saṁvatsara came out of tidy ocean. The presiding deity of magical world created night and day. He created matter the sun and the moon, as usual. He also installed the sky and Earth, Antariksa and the Sun. 11

Here it has been told that Ṛta is associated with Satya, and these both were born out of creative penance but, this is a previous stage than the explicit creation and implicit nature. It is suggestive of night and ocean Avyakta or mūla Prakriti only then time emerges. In the context of creation or manifestation,

it is the concept of time which is the first determining factor. The process of time is coming down from previous Kalpas. Even after that the manifestation of the world complex has occurred many times. In this way the emergence of Ṛta and Satya is prior to the emergence of the manifest world and unmanifest Avyakta. They should be taken under the ontological intelligence or primal intelligence of creator under the creative penance, which could be compared with Platonic Ideas or Aristolean formal causes. Ṛta is the original controlling and sustaining force of the first creator and as the ideal of created things, only they are real. The world of Ṛta is the Transcendant world and that is why it has been termed as the Paramavyoma.12.

The location of Ṛta is Paramavyoma, transcendental world, it is the primal element of creation, it is the controller and ideal of the creations. Ṛta is the invariable managing and sustaining principle of various elements and events of the manifest universe. The concept of Ṛta or Dharma could be

compared with the archetypes or natural laws of the western thought. Things get their validation by following it as ideal of the world following it motion or function becomes meaningful. Locus of morals and human conduct consists in following Ṛta. Ṛta is the essence of worship or sacrifice by exploring its meaning. Thus Ṛta has three chief forms, natural laws, moral or rules of human conduct and rules of worship. Combined three they are immanent in the human universe as well as natural world and made every-thing relevant.

In modern context - above concept appears fallacious because in it there is overlapping of substantial, legal and conceptual elements. Earth, Water etc.- substances are real and they operate under the rule of cause- effect. Such rules are insentient and many. On the other hand which action is good and which one is bad, what is duty and what is non-duty etc depend on does. Imperatives are different from the rules of causation. Source of causation is unknown but it operates, its operation is necessary, ethical rules are known but they lack

necessity. But the rules of inference are different from above mentioned rules of causation and morals. The concept Ṛta synthesises above mentioned rules of three categories. 13

Ṛta is thus associated with both, one and many, immanence and transcendence. Thus Ṛta connotes substance, reality and motion, rightness of morals and the ideal of world creation all the three aspects. Ṛta and divinities are related invariably. Deities have been referred as Ṛta Vrata. Ṛta is the very normal will of deities.

Let us examine the evidence of Ṛta and its utility. According to some scholars, natural events often repeat, it is because of repetitions Ṛta is inferred. 14

The motion of the sun, the moon and stars, cycle of day and night, season, cycle of birth; growth, birth and death - indicate that the human and natural operations are controlled by some higher rule. Similarities of various kinds among a variety of things, their repetitions and regular relationship lead to conceive rules effect - cause. It appears that the concept of

Ṛta is the most possible imagination as a concept of general controlling agency. In a way in the history of knowledge and science, the concept of Ṛta is the early vibration of the concept of rule. As a matter of fact the fundamental proof of the concept Ṛta is the intuition of Ṛsies which became for others as authority. Finally natural events, human activities and ritual activities are definite and interrelated. The method of rituals are useful to human beings as such they are the symbolic expression of Ṛta. 15

In the form of natural law the exposition of Rta is the subject of physics. That the exposition of Ṛta in the same way is the subject of veda or not. This question is natural. A majority of view holds that the subject matter for exposition of the Veda is Ātma Vijnāna of Puruṣa Vijnāna and not that of Prakriti Vijnāna. In general Veda has transcendental objective and its spiritual means, and not that of physics which deals with things of utility. It also appears quite rational physics succeeds only by adopting perception and not that of Ārsa Jnaña. Historically the

development of science could be expounded. Mimāṁsā tradition holds that the subject matter of Veda for discussion could be Adrṣta, because worldly and known things could be known through other means of knowledge, we do not need Veda at all.

The effect-cause rule in the fields of Science is not supported to be an essential rule. Logical rules are supposed to be tautology. Ethical rules are simply tradition, we do not find any known and logical foundation of Ṛta. Concept of rule is the natural truth in the human intellect. This natural realization appears to be the concept of Ṛta. This concept is the fundamental for the investigation of evidence. Without this even logical operation is not possible. Both Mimāṁasā combined together the subject matter of the Veda is Dharma and Brahman' Athāto Dharmajijnāsā' 1.1.1. Athāto Brahma Jijnāsā. 1.1.1. Dharma is the transcendental means for the realization of good. Brahman is the ultimate good and ultimate

realily - Parama Nishsreyasa and Paramātmā. The realization of both transcends all known worldly objects.

According to the new commentators the concept of Ṛta could be the illustration of first vibration of scientific and ethical intellect. While according to traditional view Ṛta and Satya are identical with Dharma and Brahman. According to the first view the natural science of Veda could be the science of that time, while according to the second view whatever natural science is found in the Veda is the simple translation of public mind.

Various interpretations of the Veda well discussed by G.C.Pande from the point of view of history of ideas is being kept aside here. He concludes that Ṛta is the fundamental principle of the universe, its spiritual, social, transnatural and transsacrificial aspects have been sometimes discussed in obvious or secret form in the Veda. Its transdivine scientific aspect is still covered with secret. On the one hand it is called myth, on the other hand it is called the metaphysical science.

Let me critically examine G.C.Pande's exposition about the concept of Ṛta. It is impossible to read G.C.Pande's writings packed as they are with serious and subtle thought without being conscious that one is in contact with a mind of a very fine penetration and profound spirituality. In his exposition G.C.Pande has adopted both methods comparative as well as that of history of ideas. As the polarity between 'Subject and Object', 'Ahaṁ and Idaṁ' Tat and Tavm is obvious and Pande is very much right when he says that in the beginning Sṛṣṭi Vidyā dominated, whether it is Indian Philosophy or Greek Philosophy and the concept of Ṛta is the fundamental concept of Vedic cosmology. And it is equally true that 'Ṛtam' and 'Satyam' are parallel concepts of the early Vedic cosmology. 'Ṛtam' ca 'Satyaṁ' ca (Ṛgveda, 10.190,1) their parallel journey as the two fundamental concepts of Vedic cosmology and Ātma Vidyā continues till their culmination into 'Pūrva-Mimāmsā- Athāto Dharma Jijnāsā. 'Athato-Brahmjijnāsā'. Never before a depth study into the history of these two fundamental concepts

how the two are distinguished.?

has been done when finally concept Ṛta is replaced by Dharma' and the concept 'Satya' is replaced by Brahman, and the concept 'Dharma' is the means to realise Brahman.

Then Pande's comparison of the concept of Ṛta' with 'Platonic Idea' is full of suggestions. There is no exaggeration in the dictum that entire western wisdom is footnotes on Platonic thought. According to Plato dialectic is the crown of knowledge and knowledge is the crown of life. All other spiritual activities have value only in so for as they lead up to the knowledge of idea. 16

Further Pande compares the concept Ṛta with the formal cause of Aristotle. Aristotle's formal cause is the concept or Plato's idea. I wonder if there or such hints in any history of either Indian Philosophy or Greek Philosophy.

I simply wonder why Pande failed and did not compare the concept of Nous as expounded by Anaxagoras. There appears to be plan and purpose in the world. How can design, order, harmony and beauty be brought about by blind forces acting

upon chaotic matter? The plan and purpose of world suggest a world controlling Nous and it reminds the first aphorism of Brahmasūtra ; Janmādyasyayatah. (1.1.2)

Like Platonic Idea Rta is the first principle of the Universe. Again, like Platonic Idea Ṛta is Universal. Further, like Platonic Idea the locus of Ṛta is transcendental world. Then again like Platonic Idea Ṛta could be apprehended by reason alone Aristotle's observation is very pertinent when he says that Platonic theory of Ideas fails to explain the world of things.

Further the dichotomy between reason and sense, thought and thing could not be resolved by Plato and this inconsistency prevailed throughout the succeeding western philosophical tradition. But the above mentioned dichotomy between subject and object, self and not self is resolved by Advaitins when they identify self with Brahman: Ayaṁ ātmā Brahma.

Reference:-

1. Ṛgveda, x.81.4 (Griffith)
2. Ṛgveda, 1.153.1 (Macdonell)
3. Ibid, 1.164.46 (Griffith)
4. Stace, W.T. A Critical History of Greek Philosophy. Macmillan and Co. Ltd; London, 1953, P.24
5. Pande, G.C. Vaidika Sanskriti; Lokabharati; Allahabad, 2001, P.66
6. Ibid, P.66
7. Ṛgveda, 1.105.12
8. Ibid, 8.86.5
9. Ibid, 5.43.7
10. Ibid, 1.41.4
11. Ibid, 10.190.1.3
12. Pande, G.C. Vaidika Sanskriti, P.66-67
13. Ibid, P.68
14. Ibid, P.68
15. Ibid, P.68
16. Stace, W.T. A Critical History of Greek Philosophy, P.204.

Abstract 4/3/03

प्रो0 गोविन्द चन्द्र पाण्डे के दर्शन में मूल तत्त्व की अवधारणाः एक अध्ययन।

लालन प्रसाद सिंह
भारतीय उच्य अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला 171005

प्रो0 गोविन्द चन्द्र पाण्डे मूलतः एक दार्शनिक हैं। वे एक बीज गर्भित व्यक्तित्व एवं आधुनिक आर्ष परम्परा के पुरोधा है। इतिहासकार, साहित्यकार, भाषा वैज्ञानिक आदि उनके दार्शनिक व्यक्तित्व के विभिन्न आयाम हैं। उनके दर्शन एवं चिंतन का मूलाधार उनकी मूल तत्व की अवधारणा है। उनके अनुसार मूल तत्व चिन्मय एवं शाश्वत सत्य है। शांकर वेदान्त में उसे सच्चिदानन्द, काश्मीरीय शैव दर्शन में उसे परम शिव एवं महायान बौद्ध दर्शन में उसे बोधि चित्त कहते है। वह बौद्धिक दृष्टि से अज्ञात एवं अज्ञेय है। यह ज्ञान प्रत्ययात्मक तार्किक ज्ञान के परे साक्षात्कारात्मक ज्ञान है। प्रो0 पाण्डे के अनुसार 'एकः सदविप्रा वहुधा वदन्ति' भारतीय दार्शनिक सांस्कृतिक परम्परा का मूल उत्स है। यह सार्वभौम असम्प्रदायिक एवं संश्लेषनात्मक भावधारा है। इस तरह उनके चिन्तन में धर्म, दर्शन, योग एवं तंत्र एक ही अर्थ के विभिन्न नाम है। माया, मल, आभास एवं अविद्या नित्या एवं अविनाभावी है। प्रकाश एवं विमर्श, प्रज्ञा एवं उपाय, शून्यता एवं करूणा एक ही मूल तत्व के एकात्मकता बोधक है। प्रो0 पाण्डे के अनुसार मूल तत्व प्रज्ञोपाय एवं शिवशक्तित्यात्मक है। परिदृश्यमान जगत् उसी अव्यक्त की व्यक्त अभिव्यक्ति है। मूल तत्त्व बौद्धिक दृष्टिकोण से अज्ञात एवं अज्ञेय है। वह आध्यात्मिक अनुभूति का विषय है बौद्धिक विमर्श का नहीं। इस आध्यात्मिक अनुभूति को ब्रह्मात्म विज्ञान कहते हैं। यह निर्विकल्प अखण्ड ज्ञान अभिप्रेत है। पराविद्या, आत्मविद्या, ब्रह्म विज्ञान एवं सद्विद्या मूल अर्थ में पर्यायवाची है। मूल तत्त्व का ज्ञान साक्षारात्मक एवं

अद्वय के साथ–साथ प्रपञ्चात्मक नामरूप का एवं उनके तिरस्कार का अधिष्ठान भी है।

प्रो0 पाण्डे के दर्शन में तंत्र, योग, वेदान्त, काश्मीरीय शैव दर्शन तथा बौद्ध महायान दर्शन का अपूर्व समन्वय एवं समायोजन है। उनकी विचारधारा पर पाश्चात्य दर्शन का प्रभाव अवश्य है परन्तु उन्होंने पाश्चात्य बौद्धिक दार्शनिक परम्परा का आध्यात्मिक विश्लेषण किया है। उनके दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप आध्यात्मिक तथा रहस्यवादी है। प्रस्तुत शोध पत्र का मुख्य उदेश्य प्रो0 पाण्डे के मूल तत्व की अवधारणा का विश्लेषण, परीक्षण एवं मूल्यांकन करना है ताकि उनकी दार्शनिक विचारधारा की मौलिकता एवं रचनात्मकता उजागर की जा सके।

ॐ

प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डे द्वारा प्रणीत 'वैदिक संस्कृति': - एक अनुशीलन

- डॉ. शशिप्रभा कुमार
ज.ने.यू. नई दिल्ली

सर्वप्रथम मैं भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् एवं इसके पदाधिकारियों की आभारी हूँ कि उन्होंने भारतीय संस्कृति, इतिहास एवं दर्शन के मूर्धन्य मनीषी, विचक्षण व्याख्याता एवं अनवद्य कृती प्रो. पाण्डे के चिन्तन एवं लेखन को आधार बनाकर इस राष्ट्रीय संगोष्ठी की परिकल्पना की। यद्यपि प्रो. पाण्डे के वर्चस्वी चिन्तन को किसी प्रमाण की परिधि पर्यवेक्षणीय नहीं, न ही उनके यशस्वी लेखन को समालोचना की सीमा सन्तरणीय है और न ही उनके प्रतिष्ठित प्रकाशन को मुझ जैसे किसी सामान्य अध्येता की प्रतिक्रिया अपेक्षणीय है, तथापि भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् के इस कृत्य की प्रशंसा करनी होगी जिसके अन्तर्गत हम पाठकों को प्रो. पाण्डे की विचारभूमि में गहनतया प्रविष्ट होने का सुअवसर सुलभ हो सका।

प्रो. पाण्डे का समग्र कृतित्व इतना व्यापक, विविध एवं बहुमुखी है कि प्रथमतः यह निश्चय करना ही दुष्कर था कि मैं उनकी किस कृति पर अपना वक्तव्य प्रस्तुत करूँ किन्तु जब मैंने उनकी 'वैदिक संस्कृति' को विवेच्य बनाया तो उसके पीछे निम्न दो कारण प्रमुख रहे —

(क) भारतीय दर्शन की एवं विशेषतः वैदिक दर्शन की छात्रा होने के नाते मेरी अपनी सहज अभिरुचि

(ख) इस कृति का फलक प्रो. पाण्डे के चिन्तन एवं लेखन के ~~[illegible]~~ सात पक्षों की ओर इंगित करने में सक्षम है जिनके आलोक में उनके 'सप्तरश्मि' कृतित्व की एक रुचिर आभा प्रस्फुटित हो उठी है। उस ~~[illegible]~~ एक संक्षिप्त रेखाङ्कन करने का प्रयास प्रस्तुत प्रपत्र का प्रति

'वैदिक संस्कृति' ग्रन्थ हाथ में लेते ही उसका नव्य-भव्य आकार-प्रकार लेखक की सहज सौन्दर्यानुस्यूत अभिवृत्ति को रूपायित करता प्रतीत होता है। जब मैंने इस ग्रन्थ को पढ़ना आरम्भ किया तो दो सप्ताह तक अन्य समस्त अध्ययन-लेखन स्थगित कर इसमें तल्लीन हो गई। विभिन्न पाश्चात्य एवं पौरस्त्य पद्धतियों से परिष्कृत तथा प्राचीन और अर्वाचीन सन्दर्भों से संवलित प्रो. पाण्डे की चिन्तनधारा इस ग्रन्थ में सहज स्रोतस्विनी सी प्रवाहित होती प्रतीत होती है। जैसा कि ग्रन्थ के शीर्षक से ही स्पष्ट है तथा स्वयं प्रो. पाण्डे ने अन्यत्र कहा भी है- "इसमें वेदों की रचना-तिथि, आर्य जाति का प्रश्न, वेदों के अनुवाद की विधि, वैदिक देवताओं का स्वरूप, यज्ञ का वास्तविक अर्थ, उपनिषदों की एकवाक्यता, भौतिक और आध्यात्मिक पक्षों का सम्बन्ध और वैदिक युग में विज्ञान का विकास - इन सभी विषयों पर विचार किया गया है।"

वस्तुतः वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में अद्यावधि प्रायः दो सर्वथा एकान्तिक दृष्टियाँ उपलब्ध होती हैं—

(क) ऐतिहासिक - जिसमें वेद के मूल मर्म एवं परिप्रेक्ष्य की सर्वथा उपेक्षा की गई।

(ख) आध्यात्मिक - जिसमें आधुनिक एवं तुलनात्मक बोध-दृष्टि का कथमपि अनुपालन नहीं किया गया।

उल्लेखनीय है कि इस दृष्टि से प्रो. पाण्डे की उक्त कृति वैदिक अध्ययन के सन्दर्भ में एक सर्वथा अभिनव एवं अपूर्व अध्याय है जिसमें इन दोनों ही पद्धतियों का सन्तुलित एवं सार्थक समन्वय हुआ है। "वैदिक संस्कृति न केवल पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों का आलोचनात्मक रूप से संश्लेषण करती है बल्कि वेदों के गहनतर स्तर की पड़ताल करती है और दिखाती है कि किस प्रकार वैदिक काव्य को अर्थपूर्ण ढंग से अनूदित किया जाता है।"

"भारत की मूल, (सनातन,) शास्त्रीय परम्परा में गहरी पैठ और अधुनातन तुलनात्मक प्रविधियों की पूर्ण पहचान प्रो. पाण्डे के लेखन को ऐसी सशक्त सार्थकता प्रदान करती है जो अतुलनीय है। प्रतिभा एवं पाण्डित्य तथा अन्तर्दृष्टि एवं बहुलता का मणिकाञ्चन संयोग उनके कृतित्व में सर्वत्र अनुस्यूत है। वैदिक वाङ्‌मय में वर्णित 'श्रोत्रिय'(3) आचार्य की परिकल्पना मानो उनमें मूर्तिमती हो उठी है; समग्र श्रुत या अधीत ज्ञान को उन्होंने न केवल अद्‌भुत रीति से आत्मसात् किया है अपितु उसका बोध, आचरण एवं प्रचार करते हुए अपनी विद्या को अर्थवती बनाया है -

अधीतिबोधाचरणप्रचारैः दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः। (4)

भारतीय संस्कृति की अन्तर्निहित अजस्र ऊर्जस्विता के अनन्य आराधक प्रो. पाण्डे अपनी कीर्तिकरी कृति 'वैदिक संस्कृति' के आमुख में अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए स्वयं कहते हैं — "मेरा प्रयास नवीनतम सामग्री, तत्त्वार्थ-जिज्ञासा और सर्वाङ्गीणता की दृष्टि से ग्रन्थ की रचना का है क्योंकि संस्कृति का स्वरूप जीवन और विचारों के विभिन्न पक्षों में अन्तर्निहित अव्यक्त सूत्रों को पहचानने से ही पता चलता है। इस संरचना-संवयन या त्सुज़ामेनहांग (Zusammenhang) में ही एक समग्र दृष्टि, मूल्य-परिप्रेक्ष्य या आधारीय विचार-संस्थान के रूप में संस्कृति का मौलिक स्वरूप प्रतिभासित होता है। वैदिक संस्कृति को परिभाषित करनेवाला यह ऋत-सत्यात्मक सूत्र क्या है और किस प्रकार वह एक ऐतिहासिक युग की सभ्यता में प्रकाशित हुआ एवं परम्परा का उत्स बना, इसी को व्यक्त करना इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य है।"(5)

ॐ

स्पष्टतः लेखक का उक्त आत्म-निवेदन लेखकीय स्तर पर उनकी मूल मान्यता एवं सम्यक् दृष्टि का सूचक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पुरातत्त्व, इतिहास, दर्शन एवं संस्कृति — विषयों पर आपकी परिमार्जित प्रज्ञा इस कृति को शास्त्रीयता का आधार प्रदान करती है तो आपकी सहज काव्यप्रतिभा एवं बहुभाषाविज्ञता इसमें काव्य की कमनीयता का आधान करती है। इस पृष्ठभूमि में 'वैदिक संस्कृति' ग्रन्थ में प्रो॰ पाण्डे के कृतित्व की निम्न सात छवियाँ मुखरित होती हैं —

(i) <u>इतिहासकार, पुरातत्त्ववेत्ता</u>

पारम्परिक भारतीय मनीषा वेदों को शाश्वत, नित्य एवं अपौरुषेय ज्ञान स्वीकार करती रही है जिसका प्रत्यक्षतः तार्किक अनुशीलन एवं इदमित्थंतया ऐतिहासिक परिशीलन सम्भव नहीं है। प्राचीन काल से इस विषय पर प्रभूत आलोडन-विलोडन होता रहा है किन्तु अद्यावधि कोई सुनिश्चित निष्कर्ष निर्णीत नहीं हो सका। प्रो॰ पाण्डे ने अपनी गहन पारम्परिक वैदुषी एवं व्यापक ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर जो सन्तुलित सन्मति व्यक्त की है, वह इस दृष्टि से अतीव महत्त्वपूर्ण एवं उद्धरणीय है —

इस प्रकार वेद न स्थूल वैखरीरूप शब्दमात्र हैं न स्वयम्भू ज्ञानमात्र। वे ज्ञान-विज्ञान को व्यक्त करनेवाली विपुल ग्रन्थराशि हैं जो किसी रहस्यात्मक अर्थ में नित्य या अनादि, अपौरुषेय या ईश्वरकृत मानी जाने पर भी उपपत्तितः अलौकिक प्रेरणा और अन्तर्ज्ञान से अनुप्राणित मनीषियों की रचनायें हैं जो एक सुदीर्घ युग की ज्ञान-साधना प्रकट करती हैं।

वे न केवल भारतीय परम्परा के मूलाधार हैं अपितु मानवीय इतिहास मात्र में मानवीय आत्मोपलब्धि और विमर्श के ऐसे प्राचीनतम दस्तावेज़ हैं जिनकी भाषा और विचार आज भी हमारे लिए सर्वथा अजनबी नहीं है। यदि इतिहास का मूल अर्थ बाह्य और परोक्ष घटनाओं का कार्यकारणात्मक अनुमान न होकर मानवीय चेतना के अभिलेखों की आत्मजिज्ञासा से प्रेरित परीक्षा है,(6) तो वेद का परिशीलन आद्य मानवीय इतिहास का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय हो सकता है जिसकी तुलना मिस्र एवं मेसोपोटामिया के अलावा हिब्रू जाति और चीन की प्राचीनतम अभिलेखित सामग्री से ही हो सकती है।(7)"

"वस्तुतः एक मूल आर्यभाषा, जाति और संस्कृति की कल्पना कर उसके प्रसार को आक्रमण, संघर्ष और विजय का इतिहास समझना और इस इतिहास के दस्तावेज के रूप में वेदों को समझना न सिर्फ अप्रमाणित कल्पनायें हैं बल्कि वैदिक इतिहास को एक भ्रामक परिप्रेक्ष्य में रखना है।(8)" - - - - - - - - "दूसरी ओर वेदों को नित्य, अभ्रान्त और सम्पूर्ण ज्ञान का प्रतिपादक स्वीकार करना एक पारम्परिक वैदिक धारणा मात्र है, इतिहासकार के लिए स्वीकार्य सत्य नहीं। सभी धर्मों के मूल में किसी न किसी प्रकार का लोकोत्तर आर्षज्ञान प्रतीत होता है पर उसके प्रकाशक नाना नबी, ऋषि, मुनि, सन्त आदि नाना युगों में उन युगों की भाषा और सन्दर्भ में अपने विशिष्ट ज्ञान का उपदेश देते रहे हैं। इस प्रकार वेदों में भी लोकोत्तर ज्ञान और लौकिक धारणाओं को सन्दर्भ-सापेक्ष वाक्यों में गुम्फित मानना चाहिए।(9)"

जैसा कि स्पष्ट है, उक्त उद्धरणों में प्रो. पाण्डे की सन्तुलित दृष्टि और परम्परा-बोध एवं ऐतिहासिक शोधवृत्ति का समन्वित संप्रयोग अवभासित होता है। इसी भाँति वेदों के रचयिता, रचनाकाल और आर्यों की खोजविषयक उनके अन्य विचार भी इतिहासवेत्ता की पैनी पकड़ और तत्त्वचिन्तक की गहरी पैठ के परिचायक हैं।

(ii) संस्कृति - संव्याख्याता

व्यवसाय से प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के अध्यापक के रूप में सुपरिचित प्रो. पाण्डे भारतीय संस्कृति के सुलझे हुए व्याख्याता के रूप में सर्वत्र समादृत। आपकी 'फाउण्डेशन्स आफ इण्डियन कल्चर' नामक द्विभागी कृति विश्व-क्षितिज पर सुप्रतिष्ठित हो चुकी है (*)। आपकी धारणा है कि संस्कृति समाज की आत्मचेतना का प्रतिबिम्ब होती है, अनेकशः आपने अपने इसी मन्तव्य को मुखरित किया है — "संस्कृति समाज की पहचान है और प्राण भी। --- --- यह ध्यातव्य है कि जहाँ प्राकृतिक पदार्थ चेतना मात्र की अपेक्षा करते हैं, सांस्कृतिक पदार्थ आत्मचेतना की अपेक्षा करते हैं। यह प्रकृति और संस्कृति का अन्तर है। प्रकृति नैसर्गिक मानव-चेतना के लिए प्रदत्तवत् होती है। संस्कृति उसके आत्मबोध की कृति होती है। इस आत्मबोध में स्वगत अभाव और उसके पूरक साध्य की प्रतीति से मानव-चेतना एक अनन्त पर्येषणा अथवा साधना की ओर झुकी रहती है।(1)"

(*) इस ग्रन्थ के विषय में आपने अपनी संस्कृतिसम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है - "इस ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति को मात्र भौगोलिक और जातीय घटकों के आधार पर ऐतिहासिक स से उत्पन्न सामग्री के रूप में नहीं लिया गया है बल्कि उसे सनातन सत्य की खोज की परम्परा के रूप में माना गया है। इस प्रकार संस्कृति इतिहास में अपूर्ण रूप से अभिव्यक्त सनातनविद्या से अभिन्न है। सनातन विद्या अखण्ड और अनन्त होते हुए भी अपनी व्यंजक ऐतिहासिक परम्परा के कारण नाना विभक्त रूपों में मिलती है। इसके अतिरिक्त सनातन और तात्का आध्यात्मिक और आधिभौतिक गवेषणाओं के सम्मिश्रण के कारण संस्कृति में नानास्तरीय सम्मिश्रण मिलता है। संस्कृति के मौलिक तत्त्व और स्थायी संरचना को उसकी ऐतिहासिक विकृतियों से अलग रखना आवश्यक है। संस्कृति का तात्त्विक बोध उसके ऐतिहासिक ज्ञान से असम्पृक्त न होते हुए भी उससे अभिन्न नहीं है।(2)" इतिहास और संस्कृति का तथा सनातन और अधुनातन का ऐसा संश्लिष्ट किन्तु सुस्पष्ट विवेचन प्रो. पाण्डे की महनीय विशेषता है। उनका विचार है कि संस्कृति आदर्शों का समुच्चय है अवश्य, किन्तु जब वे आदर्श जीवन में अवतरित होकर इतिहास का रूप धारण करते हैं, तभी संस्कृति सजीव होती है और [illegible]

"संस्कृति आत्मचेतना की एक वृत्ति है जिसे मूल्यान्वेषी कह सकते हैं। मूल्य आत्मसत्य का अवभास है जो कि नाना उपाधियों के माध्यम से नाना भूमियों में व्यक्त होता है। महापुरुषों के प्रातिभ दर्शन से मूल्योपलब्धि सांकेतिक रूप में परम्परा का अंग बनती है। मानव चेतना ही मूलतः ऐतिहासिक है, वही एकमात्र सत्ता है जो प्रतिक्षण अनुभव और क्रिया से बनती और बदलती है। समस्त सांस्कृतिक विश्व इतिहास में पिरोया हुआ है[12]"

उक्त उद्धरणों के सन्दर्भ में देखा जाये तो वैदिक संस्कृति वैदिक समाज और इतिहास की आत्मचेतना की अभिव्यक्ति मानी जानी चाहिए और लेखक ने प्रस्तुत कृति में सर्वत्र इसी दृष्टि को प्रकट किया है।

(iii) भाषाविद् एवं अनुवादक

प्रो॰ पाण्डे की अनेकभाषाभिज्ञता सुविदित है – संस्कृत, पालि, हिन्दी, अंग्रेजी, फ्रैंच, जर्मन, बुद्ध-चीनी, ग्रीक, लैटिन और फारसी आदि विविध भाषाओं का आपको व्यावहारिक या आरम्भिक ज्ञान है। आपके लेखन की त्रिवेणी तीन भाषाओं में तरंगित हुई है – संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेज़ी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा संस्कृति की संवाहिका होती है, अतः भाषिक ज्ञान संस्कृति की अन्तरात्मा को पकड़ने में सहायक होता है। स्वयं प्रो॰ पाण्डे का अभिमत है कि "जैसे प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष से आरम्भ होता है, ऐसे ही संस्कृति का ज्ञान भाषाप्रधान संकेतों और प्रतीकों के ज्ञान से आरम्भ होता है। अपने को समझने के प्रयास में हम अपनी संस्कृति को समझते हैं और इस प्रक्रिया में हमारा अन्तरालाप और आत्मविमर्श सांस्कृतिक भाषा और परम्परा से जुड़ जाता है[13]" इस पृष्ठभूमि में देखा जाये तो स्पष्ट होगा कि विविध भाषाओं एवं उनके प्रतीकों का व्यापक बोध प्रो॰ पाण्डे की सांस्कृतिक समझ को इतना गहन एवं विकसित बना गया है कि आपने जितनी अन्तरङ्गता से वैदिक संस्कृति का विवेचन किया है, उतनी ही अभिज्ञता

से बौद्ध दर्शन का विशदीकरण किया है। आपकी इसी भाविक
शाब्दता का प्रतिफलन है कि वैदिक संस्कृति के अन्तर्गत
सूक्तों का अनुवाद (14) इतना प्रभावी बन पड़ा है, उदाहरणार्थ
स्थालीपुलाकन्याय से निम्न दो अनुवाद द्रष्टव्य हैं —

(क) हे सुन्दराधर! आनन्दित हो आनन्दप्रद
स्तुतियों से, हे विश्वजनीन!
साथ आओ इन सवनों में॥ (15)

(ख) देवताओं का कल्याणकारी अनुग्रह
सरलता चाहनेवाले देवताओं का वरदान
हमारी ओर मुड़े
हम देवताओं का सख्य पायें (16)
देवता हमें दीर्घ जीवन के लिए आयु दें॥

(iv) कवि

वैदिक संस्कृति के प्रणेता एवं वैदिक सूक्तों के प्रामा
अनुवादकर्ता प्रो॰ पाण्डे मात्र भाषा के बाह्य कलेवर के पारखी
ही नहीं, अपितु उसकी अन्तरात्मा के सहृदय संवेत्ता भी हैं
स्वयं मौलिक कविता करनेवाले प्रतिभासम्पन्न कवि भी हैं। प्राचीन
अलंकारशास्त्री भामह का निम्न कथन सर्वथा सटीक है कि पाण्डि
तो गुरुजनों के उपदेश से कोई भी अर्जित कर सकता
है किन्तु कवित्व तो जन्मजात प्रतिभा का फल है और
वह विरले जनों को ही सुलभ होता है —

~~गुरुपदेशादध्येतुं पाण्डित्यं सर्वे भी सुकर नुभान~~ शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः॥ (17)

कहना न होगा कि प्रो॰ पाण्डे उन
दुर्लभ जनों की श्रेणी में हैं जिन्हें काव्यत्व का यह वरदान
दैवी अनुग्रह से सहज रूप में उपलब्ध हुआ है। इसीलिए
'वैदिक संस्कृति' ग्रन्थ के अनुवाद-अंश के आरम्भ में ही वे वेद के काव्यत्व का
प्रतिपादन करते हैं और इस दिव्य काव्य का सरस भावानुवाद
प्रस्तुत करते हैं जिसमें यत्र-तत्र उनकी सहृदयता एवं सहज
काव्यप्रतिभा प्रस्फुटित हो उठती है, तद्यथा —

जो तुम्हारा मन दूर वैवस्वत यम को चला गया।
उसे लौटाता हूँ यहाँ बसने, जीने के लिए॥

जो तुम्हारा मन दूर आकाश, पृथ्वी को चला गया।
उसे लौटाता हूँ यहाँ बसने, जीने के लिए॥ (18)

तथा –

वही तुम आज पास
जिस तुम्हारे आने पर हम लौटते घर
जैसे पंछी वृक्ष में घोंसलों को॥

घर गये ग्रामवासी
पैरवाले, पंखवाले
लौटे श्येन भी लालची॥

भगा दो वृकी को, वृक को
चोर को भी, तरंगीणी।
सुख से हो सकें पार॥

रंगों का चितेरा गाढ़े
काला प्रकट तम। (19)
ऋण सा हटाओ, उषा॥

(*) स्वयं प्रो. पाण्डे के शब्दों में – "I have tried to render Vedic poetry into Hindi, seeking to capture its transcendental vision of life expressed through metaphor of natural forms and a theory of multiple correspondences." (19-A)

~~समाजशास्त्री~~ स्पष्टतः ऋचाओं के उक्त अनुवाद स्वतन्त्र रीति से पढ़े जाने पर मात्र अनुवाद प्रतीत नहीं होते, क्योंकि उनमें कवि-हृदय का स्पन्द है, भावना का स्पर्श है और लेखनी का लालित्य है। (*) 'आर्षकाव्य की धारा' शीर्षक के अन्तर्गत प्रो. पाण्डे ने ऋग्वेद के जितने भी सूक्तों का भावानुवाद किया है, उन सबमें उनके कवि-रूप की छवि झलकती है।

(v) समाजशास्त्री

जैसा कि पूर्वोक्त है, प्रो. पाण्डे के मतानुसार संस्कृति समाज की आत्मचेतना का प्रतिबिम्ब होती है, अतः वैदिक संस्कृति का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने अपने इस मन्तव्य को प्रमाणित किया है। यही कारण है कि उन्होंने पूर्ववैदिक समाज की आध्यात्मिकता एवं उत्तरवैदिक समाज की कर्मकाण्डपरक चेतना – इन दोनों का विशदीकरण पूर्ण निष्ठा और मार्मिकता

ॐ

के साथ किया है। निम्न दो उद्धरण द्रष्टव्य हैं —

"संस्कार, आश्रम और वर्ण नामतः और लक्षणतः उतने प्राचीन नहीं हैं जितने वे वस्तुतः थे। उदाहरण के लिए ऋक्संहिता में चारों वर्णों का एकत्र नाम उल्लेख होने पर भी वर्ण शब्द का वहाँ प्रयोग नहीं है। ब्रह्म, क्षत्र और विशः का अनेकधा उल्लेख होते हुए भी उनके लिए वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं ~~है~~ किया गया है तो भी परवर्ती जाति की अवधारणा से उसे मुक्त कर उसका प्रयोग समाज के प्रधान अंगभूत वर्ग के लिए किया जा सकता है और इससे मूलभूत वैदिक समाज-विभाजन की दृष्टि स्पष्ट होती है। ऐसे ही यद्यपि चातुराश्रम्य का समुचित विकास सूत्रों में मिलता है, यह अनुमान भ्रान्त नहीं है कि पहले दो आश्रम प्राचीन वैदिक युग से प्रचलित थे और तीसरा उत्तरवैदिक काल में स्पष्ट-तया मिलता है। इसी प्रकार संस्कारों की व्यवस्था और लक्षण सूत्र-कालिक होते हुए भी तदात्मक प्रथायें प्राचीन हैं। संस्कार आदि के लक्षण परवर्ती होते हुए भी विकास की शर्तों के अन्दर प्राचीन सामाजिक लक्ष्यों का निर्देश करने में समर्थ हैं।"[20]

तथा - "इस विवरण में यह ध्यान देने योग्य है कि यज्ञार्थक कर्मों के वास्तविक देश-काल से उनके वे देश-काल भिन्न हैं जिनमें उनका होना माना जाता है जैसे कि जो प्रत्यक्ष रूप से अध्वर्यु गाड़ी की ओर जाता है और उसपर चढ़ता है, अप्रत्यक्ष रूप से वह अन्तरिक्ष मार्ग से जाता है और त्रिलोक के ऊपर द्युलोक तक चढ़ता है। प्रत्यक्ष रूप से वह धान उठाता है। परोक्ष रूप से वह देवताओं की प्रेरणा से कार्य करता है। यह कहना चाहिए कि जो प्रत्यक्ष घटित है उसका वास्तविक अर्थ परोक्ष है। कहा गया है कि परोक्षप्रिया देवाः। यह सांकेतिकता और परोक्षता ही आजकल की भाषा में कर्मकाण्ड का मिथ्याकल्पनात्मक पक्ष है। वस्तुतः यह उसका परोक्ष आधिदैविक और आध्यात्मिक पक्ष है। प्रत्यक्ष में घटना छोटी सी है - पुरोडाश के लिए गाड़ी से अध्वर्यु कुछ अनाज लाता है किन्तु कल्पना यह है कि वह देवताओं के देवलोक के अनन्त भण्डार या भूमा से सामग्री लाता है।"[21]

~~[struck-out word]~~ सन्दर्भों के आधार पर प्रो. पाण्डे ने अपनी समाजविषयक दृष्टि एवं वैदिक चिन्तन की उस परिकल्पना को ही पर ... कहना न होगा कि उक्त एवं अन्य अनेक ऐसे

विज्ञान धर्म-विज्ञान है, मात्र समुदायों-विज्ञान नहीं है।

(vi) शोधकर्त्ता

प्रो. पाण्डे की सभी समालोचनात्मक कृतियों की भाँति 'वैदिक संस्कृति' में भी शोध-सन्दर्भों की विपुलता एवं शोध-पद्धति का प्रचुर प्रयोग उपलब्ध होता है। काल, भाषा एवं विषय - इतने व्याप फलक को लक्ष्य कर लिखी गई प्रस्तुत कृति के प्रत्येक अध्याय के अन्त में समेकित सन्दर्भ-सामग्री का यदि एकत्र सन्निवेश किया जाये तो विदित होगा कि तत्सम्बद्ध पक्षों पर प्रकाशन-समय तक उपलब्ध कोई भी स्रोत अनुल्लिखित न रहा होगा। इस आधार पर निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में विश्वकोश की भाँति उपादेय सिद्ध होगा; साथ ही इस दिशा में भावी शोधकर्ताओं के लिए यह कृति अपनी विपुल सन्दर्भ-राशि के कारण एक मानक ग्रन्थ सिद्ध होगी, इसमें सन्देह नहीं। ग्रन्थ की प्रामाणिकता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि किसी भी विवादास्पद विषय पर लेखक सभी सम्बन्धित बिन्दुओं/पक्षों को तटस्थ रूप से सन्दर्भसहित उपस्थापित करने के पश्चात् ही अपने कथ्य को प्रस्तुत करता है। उल्लेखनीय है कि आज की विद्वत्परम्परा में अपनी महनीय प्रतिष्ठा के कारण प्रो. पाण्डे का वचन स्वयं आप्तवचन की श्रेणी में ही आयेगा, किन्तु वे कहीं भी इस स्थिति का अनावश्यक लाभ लेने को उद्यत नहीं हैं। एक विनीत शोधकर्ता की भाँति सर्वत्र प्रामाणिकता की परीक्षा ही उनका एकमात्र ध्येय रहता है और अपनी वैयक्तिक प्रतिबद्धता को वे कभी इसमें आड़े नहीं आने देते। इस दृष्टि से वैदिक संस्कृति के प्रथम अध्याय में वेदों के रचना-काल के विषय में संकलित विविध विप्रतिपत्तियाँ एवं अलग परिशिष्ट रूप में संलग्न द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत आर्यों की भाषाशास्त्रीय खोज तथा संस्कृत भाषा की सर्वप्राचीनता आदि स्थल अनुसन्धेय हैं। (२१-A)

ॐ

(vii) दार्शनिक एवं चिन्तक

'वैदिक संस्कृति' के आधार पर प्रो. पाण्डे के कृतित्व की पूर्वोक्त छह छटाओं का आकलन करने के पश्चात् कहा जा सकता है कि इन सबमें अन्तर्निहित वैचारिक तारतम्य का जो तत्त्व है, वस्तुतः वही उनके लेखकीय गौरव का श्लाघ्यतम पक्ष है। तदनुसार उनकी चिन्तन-भूमि के विवि(ध) आयामों में एक केन्द्रीय बिन्दु है - भारतीय ~~मनीषा~~ प्रज्ञा एवं परम्परा के प्रति एक सहज प्रतिबद्धता जो कथमपि अस्वाभाविक, एकांगी या पक्षपातपूर्ण नहीं है। पुरातन पद्धति से शास्त्राभ्यास में प्रशिक्षित प्रो. पाण्डे अधुनातन शोध-विधाओं में भी पारंगत हैं, आपने पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दोनों परम्पराओं (का) तलस्पर्शी वैदुष्य अधिगत किया है। किन्तु कारयित्री एवं भावयित्री दोनों प्रकार की प्रतिभाओं के ~~[illegible]~~ पुञ्ज प्रो. पाण्डे का बहुआयामी व्यक्तित्व जिस एक अन्तःसूत्र में सम्प्रोत है, वह है उनकी गहन दार्शनिक अभिवृत्ति।

विवेच्य कृति 'वैदिक संस्कृति' में उनकी इस दार्शनिक दृष्टि से साक्षात्कार मुख्यतः निम्न स्थलों पर होता है —

(क) वेदों की मात्र ऐतिहासिक व्याख्या करनेवाले विद्वत्समाज में 'आर्य' और 'दास' का जो तथाकथित विरोध स्वीकृत एवं प्रचारित है, उस सम्बन्ध में स्वयं इतिहासकार प्रो. पाण्डे का दार्शनिक मन्तव्य उद्धरणीय है — "आर्य का मौलिक या नैरुक्तिक अर्थ जो रहा हो, उसका (रू)ढ़ अर्थ समाज में ऊँची स्थिति और प्रतिष्ठा दिखाता है। वह किसी जनसमुदाय का नाम, प्रजातीय या जनजातीय नहीं प्रतीत होता। अतः 'आर्य' और 'दास' के परस्पर विभाग से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि दास आर्येतर प्रजातियों की सामान्य आख्या थी।" - - -

22

"वेद में दास और देव का संघर्ष पौराणिक देवासुर-संग्राम का ही रूपान्तर है। यह संघर्ष मानवजातियों के बीच संघर्ष नहीं है। [illegible]

आदि कहना असुरों की सुविदित यज्ञ-विरोधिता के अनुरूप है। देवता ज्योतिर्मय हैं, इसलिए दास कृष्णवर्ण हैं। आर्य और दास का भेद धार्मिक और अधार्मिक का विरोध है। 'इन्द्र ने आर्य के लिए ज्योति प्रकट की, दास को गिरा दिया' यहाँ सायण के अनुसार आर्य का अर्थ है 'कर्म का अनुष्ठान करने वाले लोग'। स्पष्ट ही दास कर्महीन जन हैं, उनका गिरना विस्मयजनक नहीं है। यह सही है कि दास का वर्ण के रूप में उल्लेख करते हुए उसे नीचे फेंका हुआ बताया गया है, पर यहाँ सामाजिक अभिप्रेत न होकर पृथ्वी के नीचे के लोग से तात्पर्य है जहाँ आसुरिक शक्तियों का सहज निवास है। 'उभा वर्णा ब्राह्मिण्यः पुपोष' में 'आर्य' और 'दास' वर्ण अभिप्रेत नहीं हैं बल्कि दो भिन्न जीवनविधा अपनाये समुदाय अभिप्रेत हैं। कभी स्वामी या व्रतचारी के रूप में देवता भी आर्य कहे गये हैं, जैसे-इन्द्र के लिए कहा गया- 'यथावंश नयति दासमार्यः'। कभी आर्य मनुष्य मात्र के लिए प्रयुक्त है और मानवीय एवं आसुरिक शक्तियों का समुचित उल्लेख आर्य और दास ~~शत्रु~~ शत्रुओं के रूप में मिलता है, यथा- दासा च वृत्रा हतमार्याणि। यहाँ आर्य और आर्येतर जातियों के मानवीय विरोधी अभिप्रेत नहीं हैं, ~~अपितु~~ बल्कि मानवीय और अमानवीय शत्रु अभिप्रेत हैं।" - - - - -

"इस कल्पना का कोई पुष्ट आधार नहीं है कि प्रजातीय सम्मिश्रण सिर्फ भारतीय प्रदेशों की विशेषता थी जिनपर एक विशुद्ध आर्य जाति आक्रमण कर छा गयी। इस प्रकार की कल्पना का आधार यह विश्वास है कि एक भाषाभाषी समुदाय एक विशुद्ध प्रजातीय समुदाय भी है जो स्वयं असिद्ध ही नहीं बल्कि विदित तथ्यों के विरुद्ध है। इस सन्दर्भ में यह विशेष रूप से स्मरणीय है कि भारतीय पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर आर्य और आर्येतरीय समुदायों को अलग नहीं पहचाना जा सकता।"(22)

वस्तुतः वैदिक वाङ्मय में आपाततः प्रतीयमान विसंगतियों और विरोधाभासों का सार्थक ~~का~~ एवं युक्तिसंगत व्याख्यान तथा समाधान उसमें अन्तर्निहित तात्त्विक सूत्रों को समझे बिना सम्भव नहीं है ~~और~~ और प्रो. पाण्डे की सूक्ष्म दार्शनिक दृष्टि ने सर्वत्र ऐसे स्थलों का सप्रमाण विवेचन कर अपनी कृति को एक स्थायी सन्दर्भ-ग्रन्थ का गौरव प्रदान किया है।

(ख) पूर्व वैदिक युग की आध्यात्मिकता का वर्णन करते समय वैदिक संस्कृति के लेखक ने वैदिक 'देवता' तत्त्व का स्वरूप-निरूपण किया है, उसमें स्पष्टतः उनकी दार्शनिक मननशीलता अभिव्यक्त होती है, तद्यथा- "यह निस्सन्देह है कि देवताओं को शुभ, ज्योतिर्मय, अमर, अतिमानवीय शक्तियाँ माना ज था। वे प्रकृति और मानव-जीवन के विविध क्षेत्रों की अध्यक्षता करती हैं और उपासना से प्रसन्न होकर मानव-हित का संपादन करती हैं। उनक नाम और रूप से बहुत्व उनमें किसी प्रकार का विरोध या संघर्ष आपादित नहीं करता। उनमें एक समष्टिगत सहकारिता एवं तात्त्विक एकता अनेकत्र उल्लेख मिलता है। आधुनिक पाश्चिमी विद्वान् यह मानते हैं कि प्र में वैदिक देवता नाना ही माने जाते थे और उनकी कल्पना प्राकृतिक शक्ति को देखकर एवं भाषा की लाक्षणिक शक्ति से उत्पन्न हुई। यह प्राकृत बहुदेववाद ही कालान्तर में विचार के विकास से एकदेववाद में परि हुआ। किन्तु यह धारणा भारतीय देववाद की मौलिक विशेषता की अनदेखी करती है जो कि देवता को तत्त्वतः एक, किन्तु नाम-रूप अनेक मानती है। अनेकता में अन्तर्निहित एकता का भान इस दृष्टि की विशेषता है। इसने नाना जातियों और सम्प्रदायों में प्रतिष्ठित देवताओं की उपासना को एक सार्वभौम धर्म में समन्वित करना संभव बनाया। स्वधर्म-निष्ठा और विश्वजनीन बन्धुता दोनों इस प्रकार अविरोधी बन जाती हैं।" - - - - - -

"यदि केवल उपलब्ध संहिता-पाठ के अनुसार वैदिक ध को समझने का प्रयास किया जाये तो यह निस्सन्देह है कि इस एकरसता के स्थान पर उच्चावच अभिप्राय और सन्दर्भों की मिल मिलती है। अतएव व्याख्याकारों के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि अपने मत के समर्थन के लिए मूल सामग्री को अनुकूल चयन के आधार पर स्थापित करें और परवर्ती सन्दर्भों से उसे समर्थि करें"। (*)

उक्त उद्धरणों के सन्दर्भ में देखा जाये तो स्पष्ट होता कि प्रो. पाण्डे यहाँ इसी दार्शनिक मान्यता का प्रतिपादन कर रहे हैं जिसके अनुसार भारतीय चिन्तन द्वितत्त्वीय या बहुतत्त्वीय नहीं, अपितु अन्ततः एकतत्त्वीय है। द्वित्व या बहुत्व का निषेध नहीं, अतिक्रमण है। बहुत्व से द्वित्व एवं एकत्व ही यहाँ प्रतिपाद्य पद्धति

(*) "ऐसे ही देवता एक हैं अथवा अनेक, इसमें भी मौलिक एकत्व को ना स्वीकृत नानात्व के साथ समन्वित किया जा सकता है जैसे एक ही मनुष्यता अनेक मनुष्यों में प्रकट होती है और अनेक मनुष्य फिर एक राष्ट्र

23

(ग) 'ऋत' का वैदिक सम्प्रत्यय गहन वैचारिक विकास की सम्भावनाओं से समेकित है। वैदिक चिन्तन में ऋत के अनेकानेक अर्थ एवं अवधारणायें मिलती हैं- उन सबका सूत्रात्मक रूप में संकेत करते हुए प्रो. पाण्डे ने पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन से उसकी तुलना भी की है और उसकी तार्किक रीति से परीक्षा भी की है — "वैदिक सृष्टिविद्या का मूलाधार ऋत की अवधारणा है।- - - - व्यक्त जगत् में नाना पदार्थ और घटनायें जिस एक अदृश्य महासूत्र से व्यवस्थित हैं, वही ऋत है। पाश्चिमी चिन्तन में आर्केटाइप या लेक्स नातुरालिस 'प्राकृतिक नियम की कल्पना ऋत या धर्म की कल्पना से तुलनीय है।- - - - - - - प्रकृति का नियम, आचार-व्यवहार का नियम और अनुष्ठान का नियम, ये तीन ऋत के मुख्य रूप हैं। तीनों मिलकर प्राकृतिक और मानवीय जगत् को व्याप्त करते हैं और उसे एक नियत, व्यवस्थित और सार्थक इकाई बनाते हैं।"

"आधुनिक दृष्टि से इस प्रकार का चिन्तन सदोष है क्योंकि इसमें द्रव्यगत, विधिगत और ज्ञानगत तत्वों का सम्प्लव देखने में मिलता है।- - - - इस प्रकार कारक, विधायक और अनुमापक हेतुओं के व्यापार अलग-अलग प्रकार के हैं। इनसे सम्बद्ध नियम भी प्राकृतिक, वैज्ञानिक, नैतिक-विधिक और तार्किक स्तरों के होने के कारण परस्पर विविक्त हैं।"

"यह आधुनिक धारणा प्राचीन ऋत और धर्म की अवधारणाओं से संगत नहीं है। ऋत में कारकता, ज्ञापकता और विधायकता तीनों ही संगृहीत हैं।"

"आध्यात्मिक सत्य और संस्कारिक विधि के रूप में ऋत वेदों में प्रतिपादित और अनुष्ठानों में रूपान्वित है। प्राकृतिक नियमों के रूप में ऋत भौतिकविज्ञान का प्रतिपाद्य है। किन्तु उस रूप में ऋत का प्रतिपादन वेद में है अथवा नहीं, यह प्रश्न स्वाभाविक है। अधिसंख्य मत यही है कि वेद का प्रतिपाद्य पुरुष-विज्ञान या आत्मविज्ञान है न कि प्रकृतिविज्ञान। प्रकृति-विज्ञान के साध्य लक्ष्य-सापेक्ष और अनैकान्तिक होते हैं जबकि आत्मविज्ञान परमार्थ का साधक होता है।"[24]

कहना न होगा कि वैदिक चिन्तन के विकास में ऋत की परिकल्पना अतीव केन्द्रीय बिन्दु रही है- तदनुसार प्राकृतिक घटनायें, मानवीय कर्म और अलौकिक कर्म - ये सभी अन्तः [illegible]

15 (घ) ~~प्रतिबोधावदितम्~~ उल्लेखनीय है कि 'वैदिक संस्कृति' नामक ग्रन्थ एक अध्याय 'उपनिषदों का परिशीलन' विषय पर आधारित भी सर्वविदित है कि उपनिषद् भारतीय तत्त्वचिन्तन और आस्तिक के मूल स्रोत हैं, अतः उनका निरूपण करते समय लेखक की दार्शनिक अभिवृत्ति और भी मुखर हो उठी है तथा इस प्रक्रि में औपनिषदिक सर्वात्मवाद और साक्षी चैतन्य आदि बिन्दुओं उनकी लेखनी निम्न रीति से प्रकाश डालती है —

"सर्वात्मत्व- विज्ञान से सब मोह और शोक उत्तीर्ण हो जाते यही वास्तविक समता की अनुभूति है। एक आत्मा की अनुभूति जग की सब अनुभूतियों को छोड़कर निविड एकान्त में मन के उपराम होने पर ही नहीं होती प्रत्युत जागतिक जीवन के बीच में भी होती है। यह एकत्व की अनुभूति जीवन में मुक्त अवस्था में भेद -प्रतीति के साथ विद्यमान रहती है।"

"आत्मज्ञान एक शाश्वत समस्या है। ज्ञान विषय का होता है, आत्मा विषय से भिन्न विषयी है। इसलिए जिसका ज्ञान होता है, वह आत्मा नहीं होती है, किन्तु यह प्रश्न उठता है कि आत्मा क्या सर्वथा अज्ञात है तो वह विचार या उपलब्धि का विषय कैसे बन सकता है? आत्मा के विषय में ये दो विरुद्ध विप्रतिपत्तियाँ बनी रहती हैं। एक ओर तो आत्मा को किसी विषय के साथ विषयरूप में समझना, दूसरी ओर आत्मा को नितान्त अज्ञात मानना। आत्मा अप्रमेय है, साथ ही वह समस्त प्रमाण- व्यवहार की पूर्वापेक्षा है। - - - - - आत्मा विज्ञान का विषय नहीं है क्योंकि वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है और प्रत्यक्ष का विषय न होने के कारण वह अनुमान का भी विषय नहीं - - - - इस प्रकार विषय के रूप में आत्मा को अवधारित करने प्रयत्न आत्मसत्ता के विलोप में पर्यवसित होता है।"

"विषयों की सत्ता प्रत्ययों से सिद्ध होती है और प्रत्ययों की प्रत्ययदर्शी साक्षी पर निर्भर करती है। इस अनिवार्य, अनपोह्य, प्राकृसिद्ध प्रत्य साक्षी का ज्ञान विषय के ज्ञान के समान नहीं होता किन्तु अज्ञान का विषय नहीं होता क्योंकि वह अज्ञान का भी साक्षी है। प्रतिबोधाविदित पद विशेष रूप से आलोचनीय है। इसका अर्थ है प्रत्येक बोध में विदित हम नील देखते हैं, पीत देखते हैं, मधुर या तिक्त, शत्रु या मित्र जानते हैं। इन सभी में हमारा अपना ज्ञान पहले विद्यमान रहता है। प्रतिबोध का एक और अर्थ भी सम्भाव्य है, वह है- प्रत्यग्बोध अर्थात् आन्तरिकबोध, बाह्य विषयों से हटकर अपनी ओर मुड़ती हुई चेतना।"[25]

स्पष्टतः उक्त विवेचन में प्रो॰ पाण्डे की दार्शनिक ~~[illegible]~~ दृष्टि एवं वैचा सर्वथा [illegible] है।

(3) [struck] यहाँ यह निर्देश करना नितान्त अपरिहार्य है कि विवेच्य कृति 'वैदिक संस्कृति' का अन्तिम अध्याय उपसंहार रूप है; यद्यपि उसका शीर्षक 'वैदिक विज्ञान' है, किन्तु वस्तुतः वहाँ विज्ञान का अभिप्राय मूल वैदिक दृष्टि से ही है तथा उसको विशद करने की प्रक्रिया में स्व. प्रो. पाण्डे की तात्त्विक दृष्टि ही निरूपित हुई है, तद्यथा —

"यह सुविदित है कि वेद शब्द का अर्थ ही ज्ञान या विद्या है। यह ज्ञान या विद्या वेदों में एक अखण्ड रूप से प्रतिपादित है। उसे लोकोत्तर साक्षात्कारमूलक अभ्रान्त और सम्पूर्ण सत्य माना जाता है। इस ज्ञान के विधिपक्ष से लौकिक अभ्युदय या कामनापूर्ति अदृष्ट हेतुओं के द्वारा होती है और उसके पारमार्थिक पक्ष को हृदयंगम करने से मुक्ति होती है।" - - - - -

" वैदिक विज्ञान को मूल रूप से सृष्टिविद्या या कौसमोलॉजी कहा जा सकता है। प्रसिद्ध ~~[struck]~~ वैज्ञानिक एवं दार्शनिक व्हाइटहैड ने कहा है कि चिन्तन का प्रत्येक युग अपनी एक निराली सृष्टि-ज्ञानात्मक धारणा पर प्रतिष्ठित होता है। भौतिकी के प्रसिद्ध ज्ञाता बौम ने इसका समर्थन किया है। उनका कहना है कि प्रत्येक युग में एक आधारभूत दृष्टि रहती है जो यह निर्धारित करती है कि मूल पदार्थों का क्या स्वरूप है और वे किन नियमों के द्वारा व्यवस्थित होते हैं। मूल तत्त्व और उनकी मौलिक व्यवस्था ही सृष्टिप्रक्रिया का आधार है। बौम ने ~~प्राचीन~~ आधुनिक और प्राचीन दृष्टियों का यह भेद बताया है कि आधुनिक दृष्टि सब पदार्थों को विखण्डित और विश्लेषित करती हुई उन्हें देश, काल और गति के नियमों से यन्त्रवत् संहत मानती है। प्राचीन दृष्टि एक जगद्व्यापी अखण्ड व्यवस्था को खोजती थी।" - -

" वैदिक दृष्टि सृष्टि के मूलतत्त्व को खोजती हुई अपने प्राचीन युग में ही इस निष्कर्ष पर पहुँची थी कि देव शक्तियाँ ही विश्व की मूल विधायक शक्तियाँ हैं और ऋत ही मूल व्यवस्था है। देवशक्ति ज्योतिः स्वरूप है। एक ही ज्योति बाहरी जगत और मानवीय सत्ता में अनुस्यूत है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की समानरूपता एक महत्त्वपूर्ण वैदिक चिन्तन का सूत्र था।" (26)

(पिण्ड-ब्रह्माण्डविषयक) वैदिक विज्ञान के इस मूल सूत्र को समझ लेने पर निश्चय ही वैदिक चिन्तन का मर्म हृदयङ्गम हो सकता है क्योंकि वही वैदिक संस्कृति का मूलाधार है और वही वैदिक दर्शन का सर्वप्रमुख सिद्धान्त है। प्रो. पाण्डे ने अपनी

कृति में यत्र-तत्र इस बिन्दु को अभिव्यक्ति दी है – उन स्थलों का संकेत न तो इस सीमित प्रस्तुति में संभव है और न ही अपेक्षित। ~~अतः कुछ~~ उसके लिए तो जिज्ञासु को स्वयं उनकी रचना से ~~साक्ष~~ अपरोक्ष संवाद स्थापित करना होगा। अतः उक्त स्वल्प संकेत-सूत्रों के आधार पर यदि मैं यहाँ उपस्थित एवं अनुपस्थित पाठक-वर्ग तक प्रो. पाण्डे की 'वैदिक संस्कृति' का मूल स्वर संप्रेषित करने एवं उनकी उत्कण्ठा को उद्बुद्ध करने में, यत्किंचित् सफल हो सकी हूँ तो स्वयं को 'कृतकृत्य' समझूँगी। यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी अनिवार्य है कि मैंने यथासम्भव स्वयं को पृष्ठभूमि में रखते हुए यह प्रयास किया है कि प्रो. पाण्डे के शब्दों को ही माध्यम बनाकर उनके चिन्तन को प्रस्तुत करूं। इसलिए एक रेखाचित्र की सहायता से मैंने ~~केवल एक~~ उनकी केवल एक कृति का ~~केवल~~ दिग्दर्शन मात्र निदर्शन के रूप में किया है – उनका चिन्तन इतना गहन एवं लेखन इतना व्यापक है कि उसे एक लघु प्रपत्र में समेटना मेरी ~~सीमित~~ स्वल्प सामर्थ्य से परे है।

अन्त में, प्रो. पाण्डे के ही शब्दों में उनकी रचनाधर्मिता के मूल मन्तव्य को व्यक्त करना चाहूँगी —

"I have tried for more than half a century to discover the original forms of Indian tradition that have over time been distorted by stereotypes and Western misconstructions. These original forms of

insights and imaginations are of perennial significance. Their strength is evident in the way they have continued to be re-interpreted and re-expressed anew, inspiring original thought and creative imagination in every age." (27)

अर्थात् "विगत आधी शताब्दी से भी अधिक समय से मैंने भारतीय परम्परा के उन मौलिक रूपों को खोजने का प्रयास किया है जो कालावधि में से ~~विह्वल~~ तथा पाश्चात्य दुर्व्याख्याओं से दूषित हो चुके हैं। अन्तर्दृष्टि एवं प्रातिभ ज्ञान के ये मूल तत्व आत्यन्तिक महत्त्व के हैं। उनकी ~~शक्ति~~ सामर्थ्य इसी से सिद्ध है कि प्रत्येक युग में उनकी ~~पुनः~~ पौनःपुन्येन नूतन व्याख्यायें और अभिव्यक्तियें होती रही हैं तथा उन्होंने मौलिक चिन्तन एवं रचनात्मक कल्पनाओं को सतत प्रेरित किया है।"

ॐ

सन्दर्भ एवं टिप्पणीयाँ

(1) पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, जिज्ञासा और रचनायें, इलाहाबाद संग्रहालय, इलाहाबाद, नैमित्तिक निबन्ध-14, पृ. 17

(2) 'गोविन्दचन्द्र पाण्डे', साहित्य अकादमी, नई दिल्ली द्वारा महत्तर सदस्यता प्रदान किये जाने के अवसर पर प्रकाशित एवं वितरित परिचय

(3) मुण्डक उपनिषद्, 3/2/10

(4) श्रीहर्ष, नैषधचरितम्,

(5) पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, वैदिक संस्कृति, लोकभारती, इलाहाबाद, 2001, पृ. IX

(6) पाण्डे, गोविन्दचन्द्र (सं.) उपन्यास और इतिहास दृष्टि, (इलाहाबाद संग्रहालय, 1994), पृ. 35

(7) ~~वही~~ वै. सं., पृ. 7

(8) वही, पृ. 18

(9) वही, पृ. 65

(10) जिज्ञासा और रचनायें, पूर्व., पृ. 14

(11) पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, सृजन, परिवेश और परम्परा, इलाहाबाद संग्रहालय, इलाहाबाद, नैमित्तिक निबन्ध-6, पृ. 15

(12) ~~वही~~ जिज्ञासा और रचनायें, पूर्व., पृ. 10

(13) वही, पृ. 125

(15) ~~ऋ. 1/9/3~~ वै. सं., पृ. 129 (ऋ. 1/9/3)

(16) वै. सं., पृ. 143 (ऋ. 1/

(14) वै. सं., आर्षकाव्य की धारा, पृ. 109-254

(17) भामह, काव्यालङ्कार, 1/5

(18) वै. सं., पृ. 216 (ऋ. 10/58/1-2)

(19-A) Acceptance speech of Prof. G.C. Pande at Sahitya Academy, New Delhi

(19) वही, पृ. 232-33 (ऋ. 10/127,

(20) वही, पृ. 96

(21) वही, पृ. 344-45

(21-A) वही, पृ. 25-26 तथा 37-38

(22) वही, पृ. 20, 21-

(23) वही, पृ. 63; 72-78

(24) वही, पृ. 66-67; 273

(25) वही, पृ. ~~433~~ 432; पृ. 431-438

(26) वही, पृ. ~~515~~ 514-15

(27) Acceptance speech of Prof. G. C. Pande at Sahitya ~~Aca~~ Academy, New Delhi

कविताएँ गोविन्दचन्द्र पांडे की

— सत्यप्रकाश मिश्र

पांडेजी की कविताओं में गंभीर एवं विशुद्व बौद्विक और नैतिक विचार–श्रृंखला तथा सूक्ष्म अंतरज्ञानात्मक दृष्टि मिलती है। ' अग्निबीज ' से लेकर ' भागीरथी ' तक जागतिक सत्ता और चैतसिक सत्ता का समक्षीकरण और जागतिक सत्ता की अनित्यता के संकेत द्वारा नित्यता के संकेत की विन्यासकमिकता उनकी अधिकांश कविताओं की महत्ता को प्रदीप्त करती है। कविताएँ चुने हुए शब्द संकेतो द्वारा प्राकृतिक चित्रों,दृश्यों,छवियों,सम्बन्धों की प्रतीतियों को रेखांकित करती हुई सहसा अंत तक पहुँचते–पहुँचते अनित्यता और नश्वरता के संकेत के रुपमें रुपांतरित होकर विभावन ब्यापार के माध्यम से 'निर्वेद' या शम के स्थायी भाव द्वारा'शान्त रस' की निष्पत्ति का कारण बन जाती है।कविता और रस से मुक्ति का यह संकेत कविता के स्थापत्य द्वारा भी है और उसके द्वारा प्रदीप्त अर्थ भुवनों द्वारा भी। पांडेजी की कविताओं की यह विशेषता संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनों की प्रक्रिया मात्र का परिणाम नहीं है बल्कि आत्मविमर्श का परिणाम है। मृत्यु,काल,अध्यास,निर्वाण की यह प्रतीति आत्मपरकता की वस्तुपरकता का परिणाम लगती है। कविताएँ पढते हुए अंत में पहुँचने पर पाठक को एकाएक बडे झटके के साथ रुकना पडता है।यह शिल्पगत भाषिक अवरोध नहीं बल्कि परोक्ष के भीतर विद्यमान या संबन्ध के भीतर जीवित अपरोक्ष का उदघाटन जैसा है।फलतः प्रतीति–पर्यावसिता ज्ञान–पर्यवसायिता का माध्यम बन जाती है जिसका अर्थ नहीं किया जा सकता है।परंतु जिसको महसूस किया जा सकता है।[illegible] प्रेम, सौन्दर्य, उदासी, वेदना, निराशा, मृत्यु, समाधि, चैतन्य प्रतीति, नश्वरताबोध, मुल्योन्मुखता, अपोहता, निर्वाण, अभ्यास, तद्भवता, मूर्तता–अमूर्तता, साहचर्य, सुख, भाव– अभाव, भक्तिज्ञान, निष्कर्षात्मक आदि अनेक विषय उनकी कविताओं की वस्तु बनते हैं।सभी कविताओं में कवि सर्जक या भोक्ता भाव से नहीं दृष्टाभाव से विद्यमान है।अस्ति और भवति की यह पारस्परिकता पांडेजी को ऋषि और कवि दोनों बनाती है।परम्परा और समकालीनता काल की चक्रीय धारणा के अनुभव से पांडेजी की कविताओं में जिसे रुप प्रतिरुप में बदलते हैं वह उन कविताओं के अस्वाद में चमत्कार का नहीं मुक्ति का वात्स्यायन के शब्दों को उधार लेकर कहूँ तो प्रक्रियामत उन्मोचन से मुक्ति का अनुभव कराता है।इसके कारण ही क्षण और लक्षण, अनुभूति और चिन्तनशीलता नदी के दो पाट की तरह नहीं बनने पाती बल्कि द्वन्द्वात्मक अर्थ संहति से नयी संभवनाओं की ओर संकेत भी करती है।अत्यन्त नमनशील बहुमुखी आत्मभिब्यक्ति इन कविताओं की विशेषता है। कविताओं के स्थापत्य में तटस्थता और विनम्रता प्रभावगुण के रूप में विद्यमान हैं। जिन कविताओं में प्रसन्नता और रससिक्तता है उनमें भी वे तटस्थता से भावित हैं। राग–विराग का यह तादात्म्य पांडेजी की अनेक कविताओं की विशेषता है। कुछ कविताएँ में तो सभी संग्रहों में शल्य जी के शब्दों में कहें तो 'हंस चेतना' से भावित हैं परन्तु काव्य की दृष्टि से वे कविताएँ अधिक महत्वपूर्ण हैं जिनके अंत में विन्यास में वैराग्य या सांसारिक नश्वरता अभ्यास का संकेत है।उनका काव्य संसार अपने वस्तुबोध से आधुनिक और चिन्तनशीलता से भारतीय है। एक सुस्पष्ट मुक्ति और स्वाधीन चेतना उनकी कविताओं में मिलती है जो प्रारम्भ में पैराडाक्सिकल या विसंगत,परस्पर विरूद्ध लग सकती है परन्तु रूककर स्थिर चित्त से समझने पर मूल्यपरक तर्कसंगत निष्कर्षो का प्रमाण बन जाती है। इस अर्थ में उनका हृदय सरोवर,खर–पतवारों से कभी ढक नहीं पाता। 'बेघर' 'बन्दी शब्द' आदि कविताओं में परिभाषा पहचान और लक्ष्य एक साथ विन्यस्त हैं। प्रबुद्धता के लिए बेघर होना आवश्यक है,बेघर होने के लिए बाड़े को छोड़ना पड़ेगा और मनपसंद घर पाने के लिए बेघर होकर–स्वाधीन होकर सबमें अपने को–आत्मवत सर्वभूतेषु देखना होगा। इस प्रकार शब्द बन्दी होने पर जड़ हो जाते हैं उनकी जड़ता तभी टूटती है जब वे मुक्त हों।शब्द की इस जडता और बन्दीपन का अच्छा संकेत स्टीनर ने हिटलर के संदर्भ से किया था। परन्तु पांडेजी का संकेत और व्यापक है। उनकी मुक्ति तो अपोह में है एक कविता में तो शब्द और अर्थ के संदर्भ में 'अपोहमयी छायायें' जैसे उपमान का प्रयोग उन्होंने ही किया है। 'जया' में 'शब्द सागर' शीर्षक के अन्तर्गत शब्दों की प्रत्यात्मक सीमा और शक्ति दोनों का संकेत भी है और 'कविता का जन्म' के अन्तर्गत 'रचना प्रक्रिया' का ही नहीं अर्थ प्रक्रिया, प्रत्यनन और सम्प्रेषण का भी संकेत किया गया है। इस प्रकार की अनेक कविताओं में कुछ ऐसी स्थापनाएँ भी संकेतित

मिलती हैं जो उनकी पुस्तकों में अन्यत्र विवेचित हैं। 'भारतीय परम्परा के मूल स्वर' में अनुभूति और अभिव्यक्ति तथा 'मीनिंग और प्रोसेस आफ कल्चर' में ट्रेडिसन और मार्डनिटी एवं सृजन परिवेश सम्बंधी व्याख्यान इस संदर्भ में विशेष दृष्टव्य हैं।यह इसलिए भी कि कविताओं में यह भाव रक्त प्रवाह की तरह विद्यमान हैं।भावगोचरता और ज्ञानगोचरता की अद्वैतता उनकी अनेक कविताओं में मिलती है। परंतु ऐसी भी कई कविताएँ हैं जिनमें ज्ञानगोचरता है जैसे 'वाक' ।वाक पर पांडेजी का विचार सारभूत रुप में विद्यमान है।लोक से लोकोत्तर और विकृति से संस्कृति की ओर प्रस्थान माना जा सकता है। यह कार्य पांडेजी की कविता में तर्क से नहीं युक्तियों से नहीं बल्कि उनके निषेध, निरर्थकता के संकेत से करते हैं।इस प्रकार के वर्णनों में आर्षता के साथ ही साथ एक प्रकार का संतत्व पाया जाता है।यथा–

आशंका

बहक न जाय सहज मन कहीं यह भोलापन
खींच न ले इसे रफतार का आकर्षण
नयी चीजों की चमक न ले ज्योति को हर
ढके न हृदय सरोवर तार्किक खर–पतवार
अप्रतिबद्व,निरात्मक युक्तियॉ जर्जर

बेघर

दमकें सबके मुख
दियें ऑखे,घुले वाणी में रस
घर मिले सबको मन की पसंद,
बिना बाडे के मन पहचाने
अपने को सबमें
प्रबुद्व हो जाय बेघर

मृत्यु–चैतन्य

चिटखता पंचतत्व का ईधन
चिनगारी चैतन्य
बनता निरोध से अस्तिताक्षण
जीवन मृत्यु अनन्य
जन्म चैतन्य बीज का रोपण
जीवन गर्भावास
श्वासमात्रिक अनुभव स्तन पोषण
मृत्यु जीव का जन्म

पहले उद्धरण में आधुनिक सभ्यता की चमक–दमक,अतार्किक खरपतवार, अप्रतिबद्व निरात्मक जर्जर युक्तियों से हृदय सरोवर को ढकने से बचाने का भाव 'रीजन' केन्द्रित संस्कृति से बचने के संकेत के साथ ही साथ हृदय सरोवर की निर्मलता और खुलेपन को बल प्रदान करता है। और दूसरे दृश्य में वाद, सम्प्रदाय,विचारधारा आदि बाड़ों के बिना अपने को सबमें पहचान कर मन पसंद घर पाकर प्रबुद्वों के बेघर होने के संकेत में चमत्कारिक प्रयोग नहीं है बल्कि एक प्रकार का उलटवासी पन है, जो शब्दों की विन्यासात्मक स्थिति से शब्दों को नयापन और चमक प्रदान करती हैं। ऐसे अनेक प्रयोग उनके सभी संकलनों में हैं। 'क्षण और लक्षण' की मृत्यु श्रृंखला कविताओं से लिये गये तीसरे उद्वरण में रूपकुम्भक निरोध,चैतन्य,जीवन–मृत्यु जैसे अनेक पारिभाषिक यौगिक, दार्शनिक संतमत सरीखे शब्दों के प्रयोग हैं।

अतः इन कविताओं में

Paradoxical Statement

'तुम्हारा साथ'–दाम्पत्य सुख,प्रेम,शारीरिक सौन्दर्य,राग और प्राकृतिक सुषमा के अनेक दृश्य उनकी कविताओं में एक ओर मानवीयता,लौकिकता और जैविकता की गहरी और आत्मीय प्रतीति प्रदान कराते हैं वहीं दूसरी ओर कभी–कभी चमत्कृति के साथ उसी कविता में लोकोत्तर,आत्मविमर्शात्मक,दिव्यता का सुख–दुःख के आवर्त की तरह सौरभ भी बिखेरते हैं । कश्मीर , लाहौर, रंगून, संगम, हिमालय, संध्या, दोपहर,, रात, प्रातः आदि सब कुछ स्मृति दृश्य,चित्र के रुप में विद्यमान हैं। टी.एस.इलियट और एजरापाउंड के प्रारम्भिक प्रभाव बिम्ब निर्माण की अद्भुत क्षमता में देखे जा सकते हैं जिसका उल्लेख पांडेजी ने माध्यम में छपे लेख में किया है। यों तो अनेक कविताएँ उद्धृत की जा सकती हैं परन्तु दो ऐसी कविताओं का लोभ संवरण कर पाना कठिन है जो अपनी बनावट और बुनावट दोनों से नयी कविता के दौर की अत्यंत सफल और महत्वपूर्ण कविताओं की याद दिलाती है। इन कविताओं की तुलना किसी भी बड़े कवि की कविता से की जा सकती है। उदाहरण–

उद्धृत

1938

मार्चमास,शिशुहास–सदृश उज्जवल,स्निग्धातम,
जिसे देख खिलखिला पडी,स्वीटपीं की बेंलें
बॅटी जा रही सुमन सुरभि झोंकों में

अभी नहाकर बाल सुखाती मुक्तकुन्तला–
धूपछॉह सी फैल गयी,आतप ज्योत्सना सी,
उग आये चंदन के वन क्या'चीप स्ट्रीट' में

दोपहर

छाया सकुचायी
सूरज सीधे शीर्ष
कौए के तीखे
स्वर किरणों के तीर

कोयल सा काला
बादल लेटा दूर
ईटों की गटचट
चुप लेटे मजदूर

मुद्रा

धॅस आयी सुबह की बाढ
एक दूधिया गंगा
अटका रहा गवाक्ष
पर उसका रुप
प्रवाहित दीवार पर चस्पा– हंसिका

'अग्निबीज' के बाद प्रकाशित 'क्षण और लक्षण' में वैचारिक द्रवीभूतता अधिक है परन्तु वह हृदय सरोवर को आच्छादित नहीं करती है उसे निर्मल बनाती है उसे गहरा और खरपतवार रहित करना ही उसका उद्देश्य है ताकि उसमें अपनी छवि देखी जा सके। दार्शनिकता इसमें बढ़ी है ऐसा समीक्षकों का कथन है। परन्तु यह दार्शनिकता जैसा मैंने पहले कहा है उनकी मूल्यान्वेषी दृष्टि का परिणाम है जो परम्परा और आधुनिकता को आमने सामने रखकर परिभाषित करती है। मीनिंग एण्ड प्रोसेस आफ कल्चर में इस पर गम्भीरता से परिशिष्ट में विचार भी किया गया है। अनेक कविताएँ ऐसी हैं जिनमें अनेक प्रकार के सूक्ष्म शास्त्रीय संकेत हैं और कुछ ऐसी हैं जो अन्तरज्ञानात्मक और अन्तः साक्षात्कारात्मक हैं इसलिये संकेत परक हैं।

'हंसिका' में इस प्रकार की कविताओं की संख्या क्षण और लक्षण की तरह ही है परन्तु ' जया ' में वर्तमान के प्रति गहन चिन्ता, मनुष्य की चीत्कारों के उत्तर, अतीत के प्रेतों से बचने की चेतावनी अन्य संकलनों की अपेक्षा अधिक है। अँधेरे और अंधेर नगरी के गहरे साक्षात्कार भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही स्तरों पर जया की कविताओं में मिलते हैं। पांडेजी नश्वरता या अनित्यता को मूल्योन्मुखता के लिये प्रयुक्त करते हैं न कि संसार से पलायन के लिये। शाश्वत प्रश्नों के समकालीन उत्तर देने का प्रयत्न उनकी कविताओं में नहीं है क्योंकि उनसे बेहतर कौन जानता है कि शाश्वत प्रश्नों के कोई समकालीन उत्तर नहीं होते परन्तु वे प्रश्न जो भारतीय मनीषा को शुरू से बेचैन करते रहे हैं उन्हें अभी भी मथते हैं। दिये गये उत्तर उन्हें पता हैं परन्तु दिये गये उत्तर फिर प्रश्न पैदा करते हैं। इस प्रकार की जिज्ञासायें कविताओं में हैं जरुर कुछ तो प्रश्न के रुप में ही हैं। परन्तु मुक्ति के क्षण भी हैं और मनुष्य में अर्न्तनिहित साथ की आवाज भले ही दबा दी गयी हो या जाती हो पर अपरिमित विश्वास अभी भी है।

'अभियोग' जो मुझे बेहद पसन्द है जिसमें प्रारंभ और अंत की पंक्तियॉ कविता के एतिहासिक यथार्थ संकेतों को नयी अर्थवत्ता और मूल्यवत्ता से प्रदीप्त ही नहीं करती है द्वन्द के समाप्ति के माध्यम से सत्य की चैतन्य आवाज को प्रतिष्ठित भी करती है।'भागीरथी' के आत्म प्रतिबिम्ब कविता में द्वेत के आवरण के तिरस्कृत हो जाने पर शिलाओं के स्फटिक के समान चमकने का उल्लेख इसी अर्थ परम्परा में है।

वही आवाज पुरानी चेतन गूँजेगी
फर्श के नीचे तुमने जिसको दफनाया
उसकी अवाक् मूर्छा भी निश्चित टूटेगी
तुम्हें देखकर रूद्र मुक्ति का द्वार
सूई के मुँह सा बनकर तुमसे पूछेगा
दीप्त स्वरों में मानो दहक रहे अंगार
'कहॉ छिपायी अब तक, कहो न्याय की तुला?
वहाँ पसीना उनकी तोंद तुम्हारी बढी
जिसके श्रम की उपज उसी को बेची भला।'
दुर्निवार आदत से झूठ फिर बोलोगे
टूट जायेगा किन्तु सत्य का स्वर्णावरण
दूसरी जिह्वा उसी ओर उसी क्षण फिर खो दोगे
तीसरी अपलक ऑख सत्य को घूरेगी
वही आवाज पुरानी चेतन गूँजेगी
—अग्निबीज

इसी प्रकार का प्रयोग जया में संकलित अनेक कविताओं में है जहॉ कविता का अंत कवित्त छंद की अंतिम पंक्ति की तरह हमारी चेतना को महत्तर और व्यापक लक्ष्य की ओर उन्मुख कर देता है। उद्बोधना की कविता आज के कई प्रश्नों का भी उत्तर है और मनुष्य मात्र के भविष्य पथ का आध्यात्मिक संकेत भी।

वे नहीं देख सकते वर्तमान
उन्हें मत सुनो
देशक मत बनाओ उन्हें
समय गाड़ देता प्रेत
उन्हें मत जगाओ
निष्कृति यातना चक्र
मत बढाओ,
नयन खोलो
सम्मुख प्रकाशमय चक्र

उद्‌भासित करता भविष्य का पथ
—जया

जहॉ एक ओर 'अंधेर—नगरी' व्यवस्था, ट्रेफिक जाम, कारण, अजायबघर, सामना, मशाल जैसी समकालीन कविताऍ हैं वहीं नाटयायित/, स्मृति और सत्ता, संकेत प्रकेत, प्रार्थना अगम्य,जन्मांधर/, मौन, हठ, पतक्षर जैसी उस पार झॉकने के लिये अर्न्तमुख द्वार की ओर संकेत करने वाली कविताऍ भी हैं। बेटियों को मशाल बनने का आशीर्वाद देती कविता कालिदासीय लय की कविता है जो मानवीय और भारतीय दोनों है। निश्चय ही यह रूपकत्व उस युग का नहीं है जहॉ अंधेरा बहुत घना है—पुरातन और नया दोनों। जहॉ अंदर ही अंदर आती रहती है रिक्त आवाज खोखली, जहॉ कुत्ते की जीभ,सियार का मन और गिद्व की ऑखें साथ पाये हुए बनते हैं युद्व के नेता लुटेरे मशाल वाच्यार्थ और प्रतीयमान दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

आगे बढ़ती हुयी मशाल
लपकती पताका सी
अनिर्मित रास्ते पर
अनिश्चित क्षितिज की ओर
प्रज्जवलित निर्भयता
तोडती पुरातन तम का घेरा
ले जाये तुम्हें साहसिक हरावल
विजय की ओर
तुम्हें मिले स्वराज्य
किरीट निष्कंटक
इससे अधिक क्या चाह सकता
कोई लड़कियों का पिता

जिन कविताओं में प्रश्नवाचकता है वहॉ मिथ्यात्व और अनित्यता का ही संकेत नहीं है बल्कि मुल्यांनुसंधान की आवश्यकता या की प्रतीयमानता भी है। 'पतरड' में पतरड़ और बसन्त दोनों ही जागतिक और चैतसिक की ओर संकेत करने वाली कविताऍ हैं। 'मृत्यु' पर लिखी कविताओं के अतिरिक्त वे कविताऍ अधिक प्रतीत मूलक हैं जो रूपकात्मक हैं या अर्थान्तर संक्रमित हैं।इस अर्थ में वे सिद्व हैं जैसे स्वर्णद्वीप

<u>शायद</u>

कौन बचा सकता है जहाज को जल समाधि से
कुछ यात्री बच जायें नावों में छोटी
अपनी कुछ थाती ले
किसी भविष्य के द्वार पहुँचकर
आत्मद्वीप बन जायें

अस्तित्व और विश्वसनीयता के सम्बंध और खोज का प्रश्न अनेक कविताओं में है। कविताओं के अन्त में प्रश्नवाचकता का प्रयोग' बीजभाव' या 'मूलाधार' का संकेत ही नहीं होती बल्कि यह दृष्टि ही सृष्टि का कारण भी हैं वृन्दावन, गोविन्द,मौन जैसी अनेक कविताओं में कवि ऋषि भक्त और साधक का अंतर लगभग मिट गया है। इस प्रकार की अनेक कविताऍ विवेकानन्द, रमण महर्षि और श्री अरविन्द की कविताओं की ओर संकेत करती हैं। पांडेजी की कुछ कविताओं को समझने के लिये कुछ दूसरी कविताओं को भी समझना होता है। ऐसा हर महत्वपूर्ण कवि के साथ होता है। एक रचना दूसरी का आधार बनती है। मसलन भागीरथी की कई कविताऍ 'हंसिका' और 'क्षण और लक्षण' के साथ पढ़ने पर एक दूसरे को प्रदीप्त करने लगती हैं। प्रदीपन का यह रिश्ता उनकी कविताओं में अर्न्तव्याप्त है वैसे ही जैसे द्वयता और द्वयता का तिरस्कार का मातृपाठ या मूलपाठ प्रायः एक हैं परन्तु अनेक कविताओं में उपमान के

रूप में ऐसे परिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता है कि वह विन्यस्क शब्द ही काव्य में चमत्कार पैदा करता है–कविता को अपारदर्शी पारदर्शिता प्रदान करता है। जैसे कुम्भक,निर्वाण,अपोहमयी छायायें,नीराजना,हंस,एक पक्षी,अद्वैत,विरति,निरोध,शल्य जीने भी ऐसे अनेक शब्दों के संकेत किये हैं। शास्त्रों को कई कविताओं में बाधा माना गया है। प्रतीतिमूलकता में शास्त्र बाधा है भी परन्तु ऐसी अनेक कविताएँ'क्षण और लक्षण' तथा 'हंसिका ' में है जिसके लिये शास्त्रों और दर्शनों का ज्ञान ही नहीं साधनापरक समझ भी आवश्यक है। भक्त कवियों की कविताओं की तरह वे सब मिलकर ही उनकी काव्य इकाई का निर्माण करती हैं।

पांडे जी की कविताओं की यह संस्कृति गर्भित अनुभूति व्यंजकता कविताओं में प्रत्यक्ष की कारणभूतता के संकेत मात्र से ही सम्बद्व नहीं है बल्कि सब के भीतर विद्यमान एक समता या एकात्मता की पहचान से भी समबद्ध है। सांकेतिकता उनकी कविताओं में अधिकांशतः व्यंजक है जो प्रतीयमान रहती है। परन्तु कई कविताओं में कुछ शब्दों या संकेतो के विन्यास से भी वे कविता की प्रकृति को रूपान्तरित कर देते हैं। दूसरा प्रयोग सांकेतिकता को मूल्यवान सिद्व करता है। पांडेजी की कविताओं को पढते समय,मनन करते समय यह विश्वास बनता चलता है कि जो कुछ वो कह रहे हैं वह सत्य है और सत्य के सिवा कुछ नहीं है। यह सत्य गॉधी की तरह स्वानुभूत लगता है। पांडेजी की कुछ कविताओं में संशय है परन्तु यह संशय आत्मध्वनित सत्य को रूपित या नामित करने के पहले का लगता है। अन्तर्ध्वनित सत्य को पकड़ने और रूपायित करने के क्रम में उनकी कविताओं में निजता की भावना आनी चाहिये परन्तु आम्नायमूलकता उसे निर्वैयक्तिकता प्रदान करती है। इसीलिये कविताओं में द्रष्टाभाव पाया जाता है। जहॉ संवादात्मकता है–अनेक पश्चिमी तार्किको की स्थापनाओं के युक्तिमूलक खंडन है–वहॉ भी (जैसे गोविन्द में मार्क्स हेगेल के संकेत) सांकेतिकता मूल्योन्मुखी है–अपने प्रति और मूल्यों के प्रति भी। उनकी कविताओं का अस्वाद उन कविताओं से भी भिन्न है जिन्हें प्रार्थनापरक या हिन्दी में अध्यात्मिक कहा जाता है। उसका कारण है कि जिस प्रकार से साखीपन या बीजक भाव इनकी कविताओं में है वह दुर्लभ है। सब कविताएँ चिदावरण भंग करती हैं या नहीं यह कहना पारिभाषिक अर्थ में कठिन है परन्तु पांडेजी की कविताओं में से अनेक ऐसा करने मेंसमर्थ हैं। उनकी कविताओं में दार्शनिक मुद्रा या तत्वदर्शन को रूपायित करने का आग्रह नहीं है बल्कि तुलसी दास की तरह अद्वैत और द्वैत को मिलाकर एक विशिष्ट (not विशिष्टाद्वैत) अद्वैत को जन्म देने का ही भाव है। साही ने कहीं लिखा है कि अलग–अलग संदर्भो में हिन्दुस्तान में कई बार इस विशिष्ट अद्वैत की आवृत्ति हुई है। 'हंसिका' और जया की अनेक कविताएँ इसकी प्रयत्न ही तो हैं। पांडेजी ने कहीं लिखा है कि धनुषधारी अर्जन के लिए कृष्ण का सारथीत्व आवश्यक है। लगभग यह वही दृष्टि है जो राम की शक्तिपूजा में निराला की है।

हिन्दी में प्रसाद द्वयता के विरोधी हैं।'द्वयता' रीजन केन्द्रित के अनुसार ईसाई धर्म का परिणाम और पितृसत्तामक व्यवस्था से जुडीं हैं। पांडेजी के पूरे चिन्तन में चाहे वह भारतीय परम्परा का मूल स्वर हो या मीनिंग एण्ड प्रासेस आफ कल्चर या मूल्य मीमांसा द्वयता का निरसन सर्वत्र पाया जाता है। उनकी कविताओं में से अनेक उदाहरण इस दृष्टि की सृष्टि के रूप में दिये जा सकते हैं। क्षण, निर्विकल्प, सौहार्द्र, अतीत आदि अनेक कविताओं में द्वयता कहीं है ही नहीं बल्कि एकमेव के साक्षात्कार के क्षण का अनुभूति का रूपायन है। पांडेजी की एक विशेषता यह भी है कि वे शब्दों के हो नये सिरे से अर्थ देते हैं उसके भौतिक अतः सीमित अर्थ को व्यापक प्रतीति से भर देते हैं। उनके कविताओं के शीर्षक इस अर्थ में वे नहीं हैं जो जड़ और सामान्यीकृत हो बल्कि वे कविताओं में प्रतीति से प्रदीप्त होकर आन्तर स्पर्श से पुलकित होकर आते हैं–दो भिन्न प्रकार के उदाहरण काफी होगें–

ममता की बाहें
समेटना चाहती विश्व,
अपने से रहती अजनबी,
नकार के महीन तंतु,
बनाते उन्हें कोशकृमि

जादुई पल में खुलते कभी
कर्कश हमारे घेरे यदि
शिलाएँ बन जातीं सहसा
गवाक्ष सी पारदर्शी
झलक आता अपरिचित एक
विराट आलोक दृश्य :
परस्पर अनावरण
असंख्य मणियों का जाल
झलकता प्रतिबिम्ब जहॉ
सभी प्रत्येक में सौहार्द

'शान्ति'
तुलसी की गंध
लग रही चरणामृत सी
गेंदे की छवि
पीतारूण दीपशिखा सी
धूपित वायु
शान्त कुम्भक सी
मूर्ति सामने लगती आश्वासन सी
—क्षण लक्षण

एक विशेष बात की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि पांडेजी की कविताएँ निर्भय बनाती हैं। कविताओं में भय, निराशा, विसंगति जैसा कोई बोध नहीं मिलता इस अर्थ में निर्भयता कविताओं की प्रकृति में ही पैवस्त है। दूसरी विशेषता यह है कि शब्दों के प्रयोग और उसके अड़ोस पड़ोस के प्रति पांड़ेजी बहुत सजग हैं। इस सजगता के कारण एक ओर सटीकता जो कैलासिकल गुण है और दूसरी ओर विन्यस्त सांकेतिकता , आधुनिकता का उपलक्षण है कुछ कविताओं में अद्भुत रूप से मिलती है। उनके सभी संग्रहों में कविताएँ ऐसे अनेक विषयों पर हैं जिन पर कविताएँ नहीं मिलती हैं और जिन्हें कविता के परिसर से बाहर माना जाता रहा है। इन मान्यताओं और आरोपणों के कारण हिन्दी कविता धीरे–धीरे बिना कलात्मकता के रीतिसिद्व हो गयी है। दूसरा परिणाम यह हुआ कि मनुष्य का एक चेहरा ही कविताओं में है। पांड़ेजी के इन संकलनों का परिसर काल से कालातीत और नित्य से अनित्य, सीमा से असीम और सान्त से अनन्त तक व्यापक है। इस अर्थ से कविता की प्रयोग मूल्यता और विनिमय मूल्यता दोनों ही विद्यमान है। 'एक ओर दिसम्बर की शाम', चितकबरी, जैसी कविताएँ हैं तो दूसरी ओर अपोह, वृन्दावन, निर्माल्य, निर्वाण, वाक, समाधि, मृत्यु, चिन्ता, मात्स्यन्याय, निरात्मक, अजन्ता, जीवमुक्ति, दास्तावस्की, माघ के प्रति, इतिहास,नियति, जैसी अनेक कविताएँ हैं जो प्रायः कवियों के विषय नहीं रहे। भतृहरि के श्रृंगारशतक और बैराग्यशतक की तरह पांडेजी की इन कविताओं मे राग विराग, ज्ञान और भाव का विशिष्ट काव्याद्वैत मिलता है। अपने चरित्र और प्रभाव से ये कविताएँ भारतीय कविताएँ हैं परन्तु उस अर्थ में कदापि नहीं जिस अर्थ में पश्चिम की रूचि और पसंद के अनुसार रचकर,, पकाकर,, सुस्वादु बनाकर परोसने वाले अनेक कवि लेखक हैं।

सत्यप्रिय
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद - 211002

प्रो0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय : दर्शन की काव्यानुभूति

—राम कमल राय

प्रो0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय एक सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता हैं। एक बड़े चिन्तक हैं। बौद्ध धर्म और दर्शन के प्रकाण्ड अध्येता हैं। वैदिक साहित्य का उन्होंने गहराई से अनुशीलन किया है। एक दार्शनिक और चिन्तक के रूप में उनकी ख्याति न केवल देश में बल्कि देश के बाहर भी फैली हुई है। वे निरन्तर अनेक संस्थागत दायित्वों को सम्भालते रहे हैं। गोरखपुर, जयपुर और इलाहाबाद विश्वविद्यालयों में वे प्राचीन इतिहास विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष रह चुके हैं। जयपुर एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालयों में कुलपति का दायित्व सम्भाल चुके हैं। सम्प्रति अपने आयु के 80वें वर्ष में भी वे इलाहाबाद संग्रहालय, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला एवं तिब्बती बौद्ध अध्ययन संस्थान सारनाथ वाराणसी के अध्यक्ष का दायित्व सम्भाल रहे हैं। इतने सारे आयामों में फैले हुए उनके व्यक्तित्व का एक अन्तर्निगूढ़ धरातल वह भी है जहाँ वे कवि के रूप में कियाशील रहते हैं। विगत एक दशक में ही उनके दो काव्य संकलन 'हंसिका' और 'जया' नाम से प्रकाश में आये हैं। इन दोनों संकलनों को मैंने गहराई से अनेक बार पढ़ा है और प्रत्येक वाचन में मेरा नये—नये अर्थों से साक्षात्कार हुआ है। कम ही लोगों को कवि गोविन्द चन्द्र पाण्डेय के मानस में कियाशील इन नाना प्रकार की अनुभूतियों, प्रतीतियों, द्वन्द एवं समाहारों से परिचय होगा। क्योंकि अधिकांश लोग उन्हें एक विद्वान, चिन्तक, दार्शनिक और इतिहास वेत्ता के रूप में ही जानते हैं। पाण्डेय जी एक संकोची व्यक्ति हैं। अपने ज्ञान, विद्वत्ता और चिन्तन को भी वे संकोच के साथ ही प्रस्तुत करते रहें हैं। अपने कवि व्यक्तित्व को तो वे अपने निजत्व के घेरे में ही बांधे रहे हैं। यह एक शुभ बात है कि इधर उन्होंने अपनी कविताओं का प्रकाशन होने दिया। परन्तु इन कविताओं की आपेक्षित चर्चा नहीं हुई। वास्तव में इतनी बहुआयामी कविताएँ कम ही देखने को मिलती हैं। इनमें प्रकृति है, मानव—मन है, गहरे जीवन मूल्य हैं; और अन्तिम सच्चाइयों को संधान करती हुई दृष्टि है।

'हंसिका' की भूमिका में ही पाण्डेय जी ने कई महत्वपूर्ण संकेत दिये हैं। जो उनकी काव्यानुभूति को आत्मसात् करने में सहायक होते हैं। सबसे पहले तो उन्होंने पाठकों को यह बतलाने में संकोच नहीं किया कि इन कविताओं से क्या—क्या अपेक्षाएँ नहीं की जा सकती। "इन कविताओं का उत्स न तो स्थूल जीवन—संघर्ष की प्रतिकियाएँ हैं, न कोई सामाजिक—राजनीतिक

विचारधारा, न किसी सामाजिक कार्यकर्त्ता का कर्मठ उत्साह, न कोई अपूर्व ज्ञान–दर्शन, न अपने व्यक्तित्व में किसी महत्ता की प्रतीति।" (भूमिका, हंसिका)

उसी भूमिका में वे आगे लिखते हैं– "इन कविताओं के मूल में प्रायः द्वन्दात्मक प्रतीतियों और अनुभूतियों का विमर्श रहा है, जैसे–काल–बोध और आत्म सत्ता–बोध, रूप का आभास और अरूप का संकेत; आगमिक आस्था और तार्किक संशय; स्मृति और निष्कृति, कल्पना का पुनरावर्तन और परावर्तन।" उसी भूमिका में फिर आगे वे कहते हैं – "सत्य–बोध निजी, व्यक्तिगत नहीं होता; वह द्रष्टा को व्यक्तित्व के बन्धन से मुक्ति दिलाता है। ऐसे ही रस–बोध में व्यक्ति और उसके भोग, जिस भावनात्मक तादात्म्य के अन्तर्विषय बनते हैं, वह भाव ही द्रष्टा का साक्षात्कार्य बनकर अपने आस्वाद से शबलित मुक्ति की काल्पनिक प्रतीति कराता है।"

कवि कर्म के विषय में यह सुचिन्तित दृष्टि पाठक के लिए दिशा–निर्देशक का काम करती है। काव्य–सृजन के माध्यम से व्यक्तित्व से मुक्ति का यह प्रयास कवि कर्म को एक श्रेष्ठ आयाम देता है। इन मूल्यों को मन में रखते हुए जब हम 'हंसिका' की कविताओं में अवगाहन करते हैं, तो हमें अनेक प्रकार की अनुभूतियों का साक्षात्कार होता है। कहीं हमें प्रकृति के अत्यन्त सहज रूप देखने को मिलते हैं और फिर उसी के बहाने जीवन के किसी निगूढ़ तत्व से साक्षात्कार होता है। कहीं आधुनिक सभ्यता पर एक कड़ुवा व्यंग्य ध्वनित होता दिखता है। कहीं जीवन के चरम लक्ष्य को पहचानने की कोशिश कौंधती है। कहीं परिवेश में गहराई से झांकते हुए कुछ बहुत गहरी सच्चाइयों से रूबरू होने की स्थिति तो कहीं अभिव्यक्ति का संकट। कहीं दर्शन, कहीं अनूभूति; कहीं दोनों का परस्पर विलयन।

'हंसिका' में कवि ने कविताओं को पांच खण्डों में विभक्त किया है। एक–कारण, दो–प्रतिबिम्ब, तीन–कैलेण्डर, चार–बन्दिनी और पांच–मौन। यूँ तो सामान्य पद्वति के अनुसार प्रत्येक खण्ड में उक्त शीर्षक से भी एक कविता है। और कहा जा सकता है कि इसी कारण इस खण्ड का शीर्षक कविता का वह शीर्षक हो गया है, किन्तु बात इतनी–सी नहीं है। 'कारण' से 'मौन' तक की इस यात्रा में अनुभूतियों का एक अनुक्रम प्रवहमान है। किन्तु किसी अमूर्तन में न जाकर यदि हम इस संकलन की कुछ कविताओं से सीधा साक्षात्कार करें तो उसी के माध्यम से हम कवि की अनुभूतियों और प्रतीतियों तक पहुँच सकेंगे।

'कारण' खण्ड की अनेक कविताएँ कुछ विशिष्ट मनःस्थितियों का निर्वचन करती हैं या प्रकृति के कुछ सहज बिम्ब प्रस्तुत करती हैं। पहली ही कविता निकोलसरोरिक के एक पर्वतीय चित्र से प्रेरित होकर लिखी गयी है। कविता का शीर्षक 'निर्वाण' है।

रोरिक का चित्र कवि के मन में जो भाव निर्मित करता है, वह न तो किसी भावुकता का परिणाम लगता है और न किसी रमणीयता के चित्रण का। उसे लगता है कि वह चित्र अनगढ़ पहाड़ों के बीच एक ठोस सत्ता की प्रतीति कराता है। उसे लगता है कि अभ्र भेदी चोटियाँ अरूप आकाश के पट पर गहरे रंगों की तरह आंक दी गयी हैं। उसे लगता है कि ये चोटियाँ स्तिमित, एकांत, निर्विकार मूर्तियों की तरह तपस्या में लीन है और निश्चल हिमपात झेलती हुई जैसे कोई ध्यानी अखण्ड मौन में स्थिर हो। कवि को लगता है कि ये चित्र–परम्परा से संयत आकार हैं जो सदियों की साधना का परिणाम हैं। लगता है शीतल शुभ्र चेतना जो सनातन हिमालय में मूर्त है, इस चित्र में उतर आयी है। रोरिक के चित्र में वे बातें है या नहीं; परन्तु कवि के मन में हिमालय को लेकर जो संस्कार बने और बसे हैं, इस कविता में पूरी भास्वरता से उभरकर आये हैं। हिमालय उसे निर्वाण की अनुभूति तक पहुँचाता है। प्रकृति पाण्डेय जी को नाना रूपों में मोहती है और उनके भीतर गहरे अर्थों और अभिप्रायों को उभारती रहती है।

प्रकृति से ही जुड़ी हुई एक दूसरी कविता 'नगीना' शीर्षक से है। कविता की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य है–

"दिखता सुबह का मुख
मीनाई आसमान
न एक धब्बा न निशान
उजाला चश्म–ए–शाही–सा
दृग धो रहे रात की नींद
हरी ओस से चमकता मैदान।
कहीं भी हो सकता यह क्षण।
स्वयं सन्दर्भ बना;
नगीने–सा आसमान।"

प्रातःकालीन आकाश एकदम निरभ्र। न कोई धब्बा है; न निशान मीना जैसा। हरी ओस से घासों से भरा मैदान चमक रहा है। चश्म–ए–शाही उजाला रात की नींद से उन्नींदी आंखों को धो

रहा है। कवि को लगता है कि यह क्षण कहीं भी घटित हो सकता है। आसमान चेतना में नगीने जैसा सदा–सदा के लिए जड़ जाता है। और हमेशा के लिए एक सन्दर्भ बन जाता है।

प्रकृति के एक दूसरे चित्र को हम 'हंसोज्ज्वल' शीर्षक कविता में देखते है। हंस की भॉंति उज्ज्वल तुषार की शुभ्रता का चित्र। किन्तु यह श्वेतिभा केवल दृश्यगत नहीं हैं; यह कानों में घंटियों की भॉंति निनादित हो रही है। यह गुलाब के खिले फूल जैसे उद्दीप्त हैं। ओस से आच्छन्न सीपियॉं इस उज्ज्वल हंस की पॉंखें हैं। सूर्य की किरणों से चिटके हुए कॉंच की भॉंति स्वच्छ आलोकित स्फटिक सा बजता है। हरी–हरी धास जैसे मणियों से विद्ध हों। वृक्षों की पत्तियॉं हवा से झूमती हुई रत्नों की झालर बनाती हैं। फूलों के पौधे हिमपात से छिन्न होकर भी अपनी नस–नस से प्रकाश उत्कीर्ण कर रहे हैं।

यह सम्पूर्ण चित्र एक अद्‌भुत सौन्दर्य का संसार निर्मित करता है; जैस–चिड़ियों की उडान, रंगों की चौंकती बहार जहॉं काली डालें झुक रही हैं और बर्फ के नीचे शुभ्रता पुंजित हो रही है। प्रकृति के ऐसे अनेक मनोरम चित्र अपनी पूरी बिम्बमालाओं के साथ कवि मन को आह्लादित करता है। दूसरी ओर ऐसी अनेक मर्मस्पर्शी कवितायें हैं जो मानव–मन की विभिन्न झॉंकियों को प्रस्तुत करती हैं। एक कविता है 'धुलाचित्र'। उसकी निम्न पंक्तियॉं मन को कितना गहरे उद्वेलित करती हैं।

'किसी ने कभी रोते को चुपाया था
जिसकी अब याद नहीं
अलक्षित कोई टहल करता रहा
जैसे सांस आती जाती
किसी ने दीप दिखाया था
जिससे आलोकित हुआ पथ
पर उसका चेहरा भूल गया।
पड़ाव बदलते रहे
भविष्य की चिन्ता में
कहीं खो गये पिछले दिन,
आखिरी पठार से फिरती ऑंखें
देखती धुवॉं और धुँध

जैसे किसी ने धो दिया चित्र

डुबा दिया नीली झॉई में।'

सरल शब्दों में मनुष्य–जीवन की कितनी मार्मिक सच्चाई को इन पंक्तियों में व्यक्त किया गया है। हम अपनी जीवन यात्रा में कहॉ–कहॉ से सम्बल पाते हैं, आलोक पाते हैं, सहारा पाते हैं। परन्तु आगे बढ़ने पर पुराने ये अनुभव हमारी चेतना से ओझल होते जाते हैं। यही हमारी नियति है। परन्तु अन्तिम पड़ाव पर पहुँच कर यदि पीछे देखते हैं तो हमारा मन अपनी अकृतज्ञता की धुंध में डूब जाता है। 'हंसिका' की अनेक कविताओं में कवि ने मनुष्य की आन्तरिक सत्ता की ओर संकेत किया है। बिना उस सत्ता के सब कुछ छूँछा रहता है। वह सत्ता अपराजेय होती है। परन्तु उसे पहचानना और सक्षम बनाना पड़ता है। एक कविता है– 'विद्रोही'।

"लोहा

अन्तस्ताप से अशोधित

टूटता कच्चा

खड्ग बनने के अयोग्य

इस्पाती दम–खम के बिना

बाहरी ही असन्तोष से चालित

असंतुलित अकृतज्ञ

क्या बन सकता कोई अनात्मजयी

विद्रोह के योग्य?"

कितनी सीधी तुलना है; किन्तु कितनी बेधक। जैसे लोहे को अन्तस्तापित करके ही इस्पात बना सकते हैं और तभी उसकी तलवार बनती है अन्यथा वह कच्चा और टूटने योग्य रहता है। उसी प्रकार केवल बाहरी असंतोष से परिचालित असंतुलित, अकृतज्ञ और अनात्मजयी व्यक्ति कोई सच्चा विद्रोही नहीं बन सकता। सच्चा विद्रोह तो अन्तस्ताप से ही जन्म लेता है।

मनुष्य की जिजीविषा और उसके अनथक संकल्प की व्यंजना एक छोटी सी कविता 'युद्ध' में बहुत ही निर्भान्त रूप से हुई है।

"दिया बार–बार बुझता

ऑधी में

जलाओ फिर से

बार–बार
सम्भालो, बचाओ उसे
जूझते आगे बढते
अस्थिर घेरे में प्रकाश के
जलते बुझते!
निर्णय जय पराजय का
अन्तिम युद्ध तक सुरक्षित
और युद्ध कोई अन्तिम नहीं होता
संकल्पित मन के लिए।"

अपराजेय संकल्प का यह आख्यान मानव जीवन का सबसे बडा मूल्य है। 'हंसिका' की कविताओं में एक स्वर आधुनिक यांत्रिक सभ्यताबोध का भी है, कवि के चिन्तन और व्यक्तित्व की स्पष्ट पहचान कराता है। एक कविता है–'खिलौना'; जीते–जागते बच्चे यांत्रिक उपादानों में पूरी तरह से खो जाते हैं। उनकी माताएँ–पिता उन्हें ढूंढते हैं और पाते नहीं! कविता की अन्तिम पंक्तियाँ हैं–

"अचानक दहला गया मुझे एक डर
कहीं बहुत पहले ही तो नहीं खो गये
बच्चे सारे गुड्डे–गुड्डियों में
और हम भूल गये उनकी पहचान
गढ़ते अपनी तरह
प्रतिमान।"

कुछ इसी तरह का व्यंग्य और चिन्ता 'विकम और वेताल' शीर्षक कविता में व्यक्त हुई है–
"जब इस सिंहासन पर होंगी
मुद्रा चक्षु विहीन
सभी बराबर होंगे
सभी विनिमेय
जीविका, सत्ता, ज्ञान, अचेतन जिन्स

तुलेंगे एक तुला से।"

कवि की अनुभूतियों के आयाम नानाविध हैं। परन्तु कुछ कवितायें ऐसी हैं जो किसी भी पाठक को अत्यन्त गहराई से छूती हैं। एक कविता का शीर्षक हैं 'अमियॉ'। अन्धड़ में कच्चें आमों का टूट कर गिरना कवि के भीतर एक गहरी मानवीय संवेदना को जन्म देता है, उसकी दृष्टि उन कच्ची उम्र की बालिकाओं पर जाती है, जिन्हें जीवन के विषम अन्धड़ पूरी तौर पर छिन्न–भिन्न कर सकते हैं। उसका मन चिन्ता और व्यथा से उद्विग्न हो उठता है।

'अन्धड़ ने बरसायी अमियॉ
सकुशल बना रहे कच्चापन
यथा समय ये बदल सुहायें।।
पता नही आगन्तुक क्षण कब
आमियॉ खुशियों की बिखरादें।
दुआ मॉगते मन का धागा
तुम्हें शिला की छॉह दिला दे।"

परन्तु यह सच है कि गोविन्द चन्द्र पाण्डेय एक गहरे चिन्तक हैं और उनकी अनेक कविताओं में एक तात्विक चिन्तन पिरोया हुआ है। जो दृश्य है उसके पीछे कोई अदृश्य है और उस अदृश्य की खोज और सन्धान उनकी अनेक कविताओं में साफ दिखता है। यह चिन्तन यत्र–तत्र बिखरा हुआ है।

'बुद्ध ने कहा था मन से
पकड़े गये हों, घर बनाने वाले,
टूट गई सब घरन
विरत निर्माण
बे घर हो गये हम बन्धन मुक्त।"

'बे घर' शीर्षक कविता की उपर्युक्त पंक्तियॉ जीवन के सामान्य अनुभव में से छनकर एक गहरे चिन्तन के धरातल पर कवि को पहुँचाती है। कविता की बातें हों और रागात्मिका वृत्ति की चर्चा न आये तो कविता का संसार निश्चय ही सूना रहेगा। पाण्ड़ेय जी के संकलन में भी ऐसी अनेक कविताएँ हैं, जिनका उत्स रागानुभूति में है। एक कविता हैं 'अभिमत';

"प्रेम की जरूरत ध्रुव सत्य की है

जहाँ सन्देह सदा बहिष्कृत
जहाँ न दिखावा; न व्यंग्य
एक सादगी सहज अन्दर बाहर
जैसे रोशनी दिन की।"

परन्तु यह तो प्रेम के आदर्श का आख्यान है। अनुभूति की सघनता का नहीं। एक दूसरी कविता का शीर्षक 'मीत' है। इसमें मन की चचंलता की ओर इशारा है। मन कहीं टिकता नहीं। थोड़ी देर टिकने के पश्चात् फिर नये केन्द्र की ओर भागता है। तो कैसे मिले मन को चरम काम्य।

"किसे मिलता
मन का मीत
मिलता भी तो
कितने दिन
बदल भी जाता मन
खोजने लगता
जो नहीं मिला
उसे मिलता मन का मीत
जो अपने में भरोसे मन्द
न चाहता रूप या अलंकार
जिसका सादा सत्य सरोकार
अपने को देकर अपनाना
मन को बनाना
ध्रुव तारे के समान
यही है पाना।"

वास्तव में गोविन्द चन्द्र जी चित्तवृत्तियों के विचलन का शिकार होना नहीं चाहते। वे कवि तो हैं; परन्तु साधक भी हैं। साधना उनके व्यक्तित्व का एक अनिवार्य पक्ष है। वे मन को साधने में विश्वास करते हैं, उसे बेलगाम छोड़ने में नहीं। उनकी कविताओं में भी वह सायास संस्कारिता है। इसी लिए प्रेम का उनका दर्शन सामान्यजन की राग–भूमि से अलग हटकर हैं। उनकी एक कविता हैं– 'शेष' ।

"आग बुझ जाने पर
रोशनी राख का ढेर
बाढ़ हट जाने पर
कीचड़ रहती शेष
प्रेम मिट जाने पर
एक के लिए नट की कला
दूसरा क्षोभ मेंसीझता
जीवन बीतता देख।"

इन कविताओं में प्रेम के शारीरिक पक्ष की नश्वरता की ओर इशारा है। उनकी दृष्टि में प्रेम की उदात्त भूमि उसके आत्मिक सम्बन्ध में अवस्थित है।

यूँ तो चिन्तन और दार्शनिकता की मुद्रा उनकी अनेक कविताओं में हैं; परन्तु सबसे महत्वपूर्ण और कालजयी कविता हैं 'मौन'। 'मौन' को पढ़ते हुए सहसा और अनायास अज्ञेय की 'असाध्य' वीणा का ध्यान आ जाता है। दोनों में एक कथा का आधार लिया गया है और दोनों का पर्यवसान 'मौन' में होता है। दोनो ही कविताओं में एक सभा है; सभाजन है। एक में समस्या है वीणा की असाध्यता। दूसरे में औपनिषदिक प्रश्न मृत्यु के बाद क्या बचता है? मनुष्य कहाँ जाता है? एक सुधी पूछती है परमाचार्य से। अलग–अलग विद्वान अलग–अलग उत्तर देते हैं। किसी भी उत्तर से सुधी प्रश्नकर्त्ता को सन्तोष नहीं होता। आचार्यों के उत्तर और सुधी की असान्त्वनीयता को लेकर परमाचार्य मौन अवस्था में ही सोच रहे हैं।

"स्वप्न में कौन सोता है
कौन जागता है
स्वप्न टूटने पर कौन सोता
कौन जागता है?
कैसे आदिम मनुष्य ने जाना
बिना विज्ञान और दर्शन के
मृत्यु के बाद का जीना
शायद भ्रान्तियों में ही
जिया और मरा वह;

और उसकी भ्रान्तियाँ अभी भी
शेष हैं भाषा में
उसके प्रश्न अभी भी मन में
उन्हें कैसे तर्क सुलझाये
बाहरी जगत को पकड़े
वाक् और मन विदा लेते
प्राण के साथ
उस पार झाँकने के लिए
अन्तर्मुख ज्ञान ही द्वारः
यह हमने परम्परा से सुना;
जिसे मृत्यु ने नचिकेता को बतलाया
काल ने अर्जुन को
जिससे अर्जुन ने जीवन पहचाना!"

परमाचार्य का ये सोचना उनके मन में धटित हो रहा है। उनके मौन में! यह उनका उत्तर नही है। उनका आत्म–चिन्तन भर है। परन्तु है यह अन्तर्मुख ज्ञान जो सारे विज्ञान और दर्शन को अतिकमित करता है, जो मनुष्य के पास पहले से ही था और बाद में रहेगा। सुधी बिना कुछ सुने परन्तु स्वंय में लीन जैसे आश्वस्त हो गयी। सभा भी विसर्जित हुई। 'असाध्य वीणा' में भी अन्त में सभा विसर्जित होती है।

'जया' प्रो0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय का चौथा काव्य–संकलन है। 'जया' की कवितायें इतनी सूक्ष्म और सहज संवेदना की कवितायें हैं कि इन्हें पढ़ते हुए पाठक का मन गहरी अनुभूतियों में डूब–डूब जाता है। अपने अन्य काव्य संकलनों की ही तर्ज पर 'जया' की भूमिका में भी कवि ने कुछ निर्भ्रान्त और दृढ़ मान्यतायें पाठकों को दिशा–निर्देशक के रूप में रक्खी हैं। कवि का यह आग्रह नहीं है कि जिन प्रतिमानों को वे कविता के अपेक्षाकृत स्थाई प्रतिमान समझते हैं, पाठक भी अनिवार्य रूप से वैसा ही समझें। परन्तु वे इतना अवश्यअपेक्षा करते हैं कि उनकी कवि दृष्टि को भी समझने की कोशिश की जायेगी। अपनी भूमिका में वे कहते हैं।

"मैं यह मानता हूँ कि परिस्थिति–भेद से भाषा, छन्द, भाव और उनके आलम्बन कमशः परिवर्तित होते हैं, तो भी मानव–स्वभाव और उसकी सहज समस्यायें अभी तक शाश्वत रूप से बनी

हुई हैं। उन पर सोचने और कहने के ढंग भी प्राचीन युग से ही अनेक विधाओं में परिनिष्पन्न हुए हैं। मुझे वह धरोहर अत्यन्त मूल्यवान प्रतीत होती है और मैं मानता हूँ कि क्लासिकी अतीत विस्मरणीय अथवा उपेक्षणीय नहीं है। न वह नवीनता में बाधक है। प्रेम और मृत्यु, प्रकृति का सौन्दर्य, अपने अस्तित्व और विश्वनियन्ता के रहस्य की खोज आज भी महत्वपूर्ण विषय हैं। जो तात्कालिक सामाजिक समस्यायें हैं, वे कर्म द्वारा परिहरणीय हैं। वे भावुकता का विषय अथवा काल्पनिक निजी प्रतिक्रियाओं का विषय नहीं हैं। सामाजिक तथ्यों का वर्णन इतिहास का विषय है, काव्य का नहीं।"

('निवेदन', 'जया' पृष्ठ-1)

उपयुर्क्त मन्तव्य से किसी का मतान्तर हो सकता है, परन्तु कवि की दृष्टि को समझने में यह मन्तव्य एकदम स्पष्ट एवं निर्भ्रान्त है। मैं भी मानता हूँ कि प्रेम, मृत्यु और प्रकृति–सौन्दर्य कविता के सनातन विषय हैं। इनसे आगे बढ़ कर अस्तित्व और जगन्नियन्ता के रिश्तों की खोज ने भी हर युग के महान कवियों को अपनी ओर खींचा है। पाण्डेय जी ने संक्षेप में इधर की हिन्दी कविता के विकास पर भी दृष्टिपात किया है। रूमानी अंग्रेजी कविता और छायावाद, टी० एस० इलियट और प्रयोगवाद तथा स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में समाजवादी यर्थाथवाद की सघन उपस्थिति की ओर संकेत करते हुए वे अत्यन्त विनम्रता से अपनी काव्यदृष्टि के अलगाव की बात करते हैं। वे कहते हैं, 'मेरा यही निवेदन है कि इस पुस्तिका में प्रस्तुत कवितायें इन प्रवृत्तियों को प्रतिमान के रूप में प्रायः स्वीकार नही करती हैं।' इसलिए पाण्डेय जी की कविताओं में उन तत्वों की तलाश का कोई अर्थ नहीं है, जिन्हें वे जानबूझ कर अपनी संवेदना के बाहर की चीजें मानते हैं। हॉ, जिन प्रतिमानों और विषयों को कवि ने अपनी संवेदना की परिधि के भीतर स्वीकार किया है, उसका निर्वाह कैसा हुआ है, यही द्रष्टव्य है।

सबसे पहले तो 'जया' की भाषा की बात करना चाहूँगा। पाण्डेय जी की काव्यभाषा में निरन्तर और उत्तरोत्तर एक ऋजुता और सहज प्रवहमानता का विकास हुआ है। कई कवितायें अपनी सहज अभिव्यंजना में अत्यन्त मार्मिक हो गई हैं। 'कभी' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों को देखा जा सकता है।

"सफाई करती किसी स्त्री को देख
क्या नहीं लगता जैसे
एक पावन धारा हो

गंगा की, हिमालय समीर की,

समय की।"

भाषा और संवेदना की ऐसी संम्पूर्ण घुलावट एक विरल उपलब्धि है। और इस घुलावट में सबसे प्रीतिकर आयाम है इन पंक्तियों में निहित मानवीयता। सफाई करती औरतों को अपने नारों का विषय बनाने वाले कवि और समालोचक अनेक हैं, परन्तु उन्हें देखकर गंगा की धारा, हिमालय के समीर का स्पर्श, समय की धारा को छूने की अनुभूति विरल ही देखने को मिलती है। एक कविता है 'स्मृति और सत्ता'। उसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ, मन को बॉध लेती हैं–

"मैंने तुम्हें पुकारा

तुमने सुना नहीं

जैसे एक दूसरे से

हम दूर कहीं।"

ये पंक्तियाँ भवानी प्रसाद मिश्र की याद दिलाती हैं। ऋजुता और व्यंजना का अद्‌भुत संगम। 'तुम मेरे पास होते हो गोया, जब कोई दूसरा नहीं होता'। गालिब ने अपना पूरा दीवान इन दो पंक्तियों पर न्योछावर कर देने की बात कही थी। वैसे ही है पाण्डेय जी की ये पंक्तियॉ।

अत्यन्त ऋजु शब्दावली में दर्शन और अनुभूति का एक असाधारण विलयन निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है–

"यह कैसी शाम है

झुकते अन्धेरे में

झरते पत्तों की

असंख्य लोक–लोकान्तर में

असंख्य जन्म जन्मान्तर में

क्या कभी मिलेगें

असंख्य पथ एक दूसरे को काटते हैं

असंख्य विन्दुओं पर

इनमें विचरते क्या नहीं मिलेंगें

या मिलकर भी

नये–नये रूपों में छिपे

नहीं पहचानेगें एक दूसरे को।"

कविता में जो दर्शन है, उससे हटकर भी कविता की प्रथम पंक्तियाँ पाठक के मन में गूँजती रहती हैं– 'यह कैसी शाम है/ झुकते अन्धेरे में/ झरते पत्तों की।

काव्यभाषा का इतना सहज रूप इस संकलन में जहॉ–तहाँ विखरा हुआ है कि पढ़कर पाठक अचरज से भर उठता है।

"घट गयी ऑख की जोत
क्या साँझ आ चुकी
या बढ़ गया बुढ़ापा
x x x
मन भी नहीं सोच पाता साफ
थक जाते टटोलते हाथ
कहीं खो गयी बात

उग आये कॉटे सब ओर
कैसे दिखेगी राह
कौन ले आयेगा भटकते मन को
बन्दी की तरह
क्षमा की ओर।"

आयु की परिपक्वता के साथ जो एक आत्मविसर्जन का स्वर भीतर से उगता है, उसे हम साफ–साफ इन पंक्तियों में देखते हैं, यह स्वर निराला के अन्तिम चरण में उनके गीतों में साफ दिखता है। अज्ञेय की एक कविता है– 'समागत है काल अब बुझ जायेगा यह दीप'। उसमें भी यही स्वर सुनाई पड़ता है उनकी दूसरी कविता 'हँसती रहने देना' में भी यही स्वर है। अपनी सम्पूर्ण तेजस्विता और बौद्धिक प्रखरता को अपने अन्तिम चरण में आकर कवि जैसे किसी को समर्पित कर देना चाहता है।

पाण्डेय जी की काव्य भाषा का दूसरा पक्ष उनका बिम्ब–विधान है। इतने सहज बिम्बों के द्वारा उन्होंने अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है कि पाठक चमत्कृत हो उठता है। एक कविता है– 'शब्द'।

"समय से अपवाहित मेरे शब्द
गंगा मे बहते दियों– से क्षुद्र
झलमलाते कुछ पल
ओझल हो जाते अचानक
मुड़ती धारा में,"

गंगा के प्रवाह में दियों की झलमलाती लपटें और फिर उनका कमशः ओट में चले जाना कुछ वैसे ही घटित होता है जैसे चेतना के प्रवाह में शब्द झिलमिला कर ओझल हो जाते हैं।

उनकी प्रसिद्ध कविता 'शब्द–सागर' का बिम्बविधान अप्रतिम है। उसकी कुछ पंक्तियॉ द्रष्टव्य है–

''सामने फैला हुआ सागर
निरन्तर सामने तरंगमालाकुल
भासते दपर्ण में शून्य के चित्र
धोंघे, सीपियॉ, मोती, मुँह बाये अतल।'
तैर सकते कुछ दूर तैराक
बच नहीं सकते आखिर कार
जहाज उतराते रहते द्वीपायित स्थल के समान
बटोर नहीं सकते समुद्र की गूँज
उसकी गहरायी, तरलता, रस।
असाध्य है समुद्र मनुष्य के लिए
असह्य अभिभावी विराट्
किसी भी जाल के लिए सूक्ष्म, अग्राह्य।''

शब्द को सागर के बिम्ब से परिभाषित करने का कवि का यह प्रयास अनेकानेक अर्थ–व्यंजनाओं से भरा हुआ है।

पाण्डेय जी को प्रकृति के बिम्ब सर्वाधिक मोहते हैं। आकाश, तारे, चन्द्रमा, सागर, वन, सभी कुछ। उनके मनोरम चित्रों को प्रस्तुत करते हुए वे अपने अन्तस्तल में उतरते जाते हैं। जीवन की अत्यन्त गहरी सच्चाइयों से साक्षात्कार कराते हैं। प्रायः कोई गहरी खोज, गहरा साक्षात्कार उनकी कविताओं के अन्त में प्रतिभासित होता है।

संवेदना की दृष्टि से विचार करें तो जैसा पाण्डेय जी ने भूमिका में ही निवेदन किया है कि प्रेम, मृत्यु, प्रकृति–सौन्दर्य और अस्तित्व तथा जगन्नियन्ता से सम्बन्ध कविता के चिरकालिक विषय रहे हैं, पाण्डेय जी की कविताओं में भी इन्ही विषयों की बहुलता है। 'जया' की कवितायें पाण्डेय जी के जीवन के अन्तिम चरण की कवितायें हैं। निश्चय ही इनमें उच्छल और उल्लसित प्रेम की मनोभूमि नहीं हो सकती है। प्रेम की अनुभूति इनमें स्मृतिबिम्बों के माध्यम से झॉकती हैं। स्मरण के झरोखों से कवि ने अतीत के प्रणयावेगों को फिर से छुआ है। इस छुवन में कहीं हल्का विषाद है, कही हल्की सुगन्ध, कहीं हल्का राग दीप्त अध्यात्म। एक कविता 'पुराना घर' देखी जा सकती है–

"दीवारों पर चित्र
मेज पर, ताक पर, मन में
कहीं मुद्रा मौन, गम्भीर, कहीं
बोलती मुस्कराती हुई
हॅसते बालकों की छवियॉ कहीं
किशोरियों की जो अब जरा की बन्दी
x x x
किसी ने बनाया दालान, कुछ कमरे
किसी ने बैठकें, और कमरे
बढ़ता जाता घर
कोई सफाई करता
जीर्णोद्धार
अपना माने विथा
अन्तर मर्माहत
विखरी समय की तहें खोजती
पुराविद् स्मृति
अपने अन्दर बनता
टूटता घर।"

घर यहॉ प्रतीक है, उस सब का जो मनुष्य मे आत्मीयता का संसार बनाता है। समय के साथ किशोरियॉ जराग्रस्त हो गई हैं। घर खंडहर हो गया है, परन्तु मन के भीतर टूटता घर

फिर–फिर बनता रहता है। मन के भीतर स्मृतियों का पुनर्नवीकरण हो मनुष्य को नये सिरे से राग–सम्पन्न बनाता रहता है। पाण्डेय जी की कविताओं में रागानुभूति का पुनर्नवीकरण यत्र–तत्र छिटका हुआ है। ऐसा ही एक परिदृश्य 'प्रतीति' शीर्षक कविता में उभरता हैं।

"यह तुम्हारा रूप
तुम्हारा नहीं है,
वरदान है प्रकृति का
किसी का नहीं हो सकता यह
जैसे प्रतिबिम्ब
रेत में जल का
या जल में नभ का।
तुम्हारी निकटता हरती
समय की थकान का भार
जैसे छलछलाये स्वच्छ
सलिल की धार
सहला जाये सहसा
चीड़ की हवा का स्पर्श।"

इस कविता का पूर्वपक्ष एक बड़े सत्य का उद्घाटन करता है। रूपवान को यह नहीं समझना चाहिए कि उसका रूप उसका हैं। यह तो मात्र उसे प्रकृति का वरदान है। वैसे ही जैसे रेत में जल का प्रतिबिम्ब होता है अथवा जल में नभ का। रूप का दम्भ सर्वथा निराधार होता है।

कविता का दूसरा पक्ष रागानुभूति का स्पर्श कराता है। वही रूप किसी निकटस्थ व्यक्ति की थकान दूर करता है। उसे ऐसा लगता है जैसे पास से स्वच्छ सलिल की धारा छल छला रही हो अथवा चीड़ वन से बहता समीरण सहला रहा हो।

अत्यनत अनाविल भाव से राग का स्पर्श कवि की चेतना को सहलारहा है।

रागानुरूभूति का एक आयाम 'छाया में' शीर्षक कविता में व्यंजित हुआ हैं–

"हम दोनों घूमते रहे
उसी मार्ग पर
एक छोर से दूसरे तक

विपरीत दिशाओं से पार करते हुए
एक दूसरे को
छायॉए घटती—बढ़ती रहीं
पार करती रहीं एक दूसरे को
बिना कुछ बोले हम सोचते रहे
x x x
हम घूमते रहे उसी निर्जन पथ पर
एक दूसरे को पार करते हुए
छायाओं के पीछे
हम देख नहीं पाये अपने को
देखते रहे छायाओं को।"

उपर्युक्त कविता में ऐसे एक मन की पहचान है जो स्वयं को नहीं जानता, इसी लिए यह भी नहीं जानता कि वह क्या चाहता है। चाहे हुए को पहचान ही नहीं पाता है। जिसे चाहता है उसे पहचानता नहीं है। पास से, सामने गुजर जाता है, पर अपना नहीं पाता, क्योंकि पहचान नहीं पाता। राग की यह रहस्यानुभूति कवि की अनेक कविताओं में है।

कवि—दृष्टि को समझने के लिए 'जया' की अन्तिम कविता 'उद्‌बोधन' अत्यन्त मूल्यवान है।

"मुझे मत सुनो
पर बन्द मत करो कान
अन्दर की कब्रगाह के प्रेत
चीखते रहते अतृप्त
उन्हें नहीं मिल सकता
अवसर पर्याप्त
उनकी बात
एक अनन्त पुनरावृत्ति का जाल
वे नहीं देख सकते वर्तमान
उन्हें मत सुनो
देशक मत बनाओ उन्हें

समय गाड़ देता प्रेत
उन्हें मन जगाओ,
निष्कृति–यातना–चक
मत बढ़ाओ,
नयन खोलो
सम्मुख प्रकाशमय चक
उद्भासित करता भविष्य का पथ।"

उपर्युक्त पंक्तियों को पढ़ते हुए बरबस अज्ञेय की कविता 'मेरे आह्वान से अगर प्रेत जागते हों' याद आ जाती है। अज्ञेय ने लिखा है –

"मेरे आह्वान से यदि प्रेत जागते हों
तो डरो मत मेरे सगों, मेरे भाइयों,
वे तुम्हारे ही प्रेत हैं।
तुम क्यों अधूरे और अतृप्त मर गये।
मुझे देखो
मैं तुम्हारे अधूरे पन और अतृप्ति को लेकर भी जिन्दा हूँ,
मैं पूर्णता की ओर उठा तुम्हारा दुर्दमनीय हाथ हूँ।"

कैसे समान दृष्टि वाले रचनाकारों के भीतर समान संवेदनायें उमड़ती–घुमड़ती हैं, इसका यह उदाहरण है। पाण्डेय जी की अन्तिम पंक्तियाँ मननीय हैं–

"नयन ख़ोलो
सम्मुख प्रकाशमय चक
उद्भासित करता भविष्य का पथ।"

अतृप्त प्रेतात्माओं के लिए यह कितना बड़ा आह्वान है।

प्रस्तुत संकलन में जीवन–दर्शन और प्रकृति का अद्भूत विलयन जहाँ–तहाँ छिटका हुआ है। एक कविता है 'पतझर'। कैसे पतझर एक अन्तराल के पश्चात् बसन्त बन जाता है रूप और गन्ध और रस की पुनरावृत्ति। वैसे ही जीवन में भी स्मृतियाँ ताज़ा बनकर लौट आती हैं।

जीवनानुभव की विडम्बना का एक जीवन्त चित्रण 'सामना' शीर्षक कविता में हुआ है। पूरी कविता इस प्रकार है–

"सूखती हड्डी चूसते कुत्ते
मुर्दा नोचते गिद्ध सियार
बनते धिक्कार के पात्र।
कुत्ते की जीभ
गिद्ध की आँखें
सियार का मन
जिसने पाये साथ
वह युद्ध का नेता लुटेरा
उसकी प्रशंसा करते
चारण इतिहासकार।
उसका सामना करना चाहा मैंने
हिरोहितो का ट्रूमैन की तरह
पर वह आता गया पास
फिर खो गया मुझमें
ऊर्जा–रूप–विहीन
दुर्गन्ध की तरह।"

यह कविता मन की गहरी पर्त्तों के नीचे बैठी नैतिकता से साक्षात्कार की कविता है। कवि ने स्वयं से सामना करने की कोशिश की है। हम उन कुत्तों को धिक्कारते हैं जो सूखी हड्डियाँ चूसते हैं। हम उन गिद्धों और सियारों को धिक्कारते हैं जो मुर्दा नोचते हैं। परन्तु उन युद्ध के नेताओं और लुटेरों की चारण इतिहासकार प्रशंसा करते फिरते हैं जो एक साथ कुत्ते की जीभ और गिद्ध की आँखें और सियार का मन लिए हुए हैं।

कवि कहता है कि जब हम उससे सामना करने चलते हैं तो लगता है जैसे–जैसे हम उसके पास आते हैं, वह ऊर्जा–रूप–विहीन होकर दुर्गन्ध की तरह हमारे अन्तस् में खो जाता है। हमारी पुराकथाओं में ऐसे उदाहरण मिलते हैं। इन्द्र और वृत्रासुर के युद्ध में भी यही बात कही गई है।

आत्म साक्षात्कार की ऐसी विरल अनुभूति हमें कहाँ मिलती है। नैतिकता की इतनी सख्त पहचान कितने करते हैं? पाण्डेय जी की कविताओं में इस प्रकार की गहराइयों का हमें बारम्बार दर्शन होता है।

एक कविता है 'क्षुधा'। यह अपने ढंग की अनूठी कविता है। हममें कितनी उर्ध्वगामी सम्भावनायें हैं, किन्तु क्षुर्धात्त मन हमें कैसे–कैसे नीचे खींचता है।

'तुमने पाये सजीले पंख
क्यों नहीं निहारा फूलों को
या बटोरा मधुरिमा का भंडार
उल्लास में गुनगुनाया नहीं
छुआ नहीं मुक्ति को हवा में खुली
क्यों देखते रहे रेंगते कीड़े
झपट्टा मारते मिट्टी पर
चोट पहुँचाते पंखों को
क्यों नहीं पहचाना अपना हवाई गोत्र
भुला दी आकाश की ओर
अभीप्सा तारों की
तुम्हारी क्षुधा की जंजीर
तुम्हें बांधता पृथ्वी से
तृप्ति नहीं मिलती उसे
दिव्यश्च्युत ओस की बूँदों से।''

शरीर और आत्मा की उन्मुखताओं की ऐसी जीवन्त व्यंजना विरल है। शारीरिक क्षुधा रेंगते कीड़ों की ओर ले जाती है और आत्मिक उन्मुखता फूलों को निहारने और मधुरिमा का भण्डार बटोरने की ओर। मुक्ति को हवाओं में छूने की प्रेरणा देती है। मनुष्य क्यों नहीं अपनी उर्ध्वगामी चेतना को पहचानता है? अपने हवाई गोत्र को क्यों वह भूला रहता है? कवि की चिन्ता कितनी गहरी है?

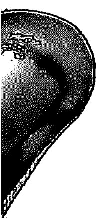
'जया' की अनेक कविताओं में यह उर्ध्वगामी स्वर है। आज के भौतिक भोगवाद के युग में पाण्डेय जी की ये कवितायें सचमुच उज्ज्वल भाव–भूमि की कवितायें हैं। संस्कृति के पराभव की

चिन्ता करने वालों को 'जया' की कविताओं से साक्षात्कार करना चाहिए। अपनी अन्तर्निहित चेतना में बैठी मानवता की पहचान कराने में इन कविताओं का विशेष योगदान हो सकता है।

गोविन्द चन्द्र पाण्डेय एक उच्च संस्कार वाले भारतीय सनातन मूल्यों को अपने जीवन में चरितार्थ करने का प्रयास करने वाले सुधी चिन्तक हैं। कविता भी उनकी अभिव्यंजना की एक सरणी है। एक कवि के रूप में उन्होंने अनछुई सच्चाइयों को छुआ है। उनकी कविताओं में कहीं भी विगलित भावुकता नहीं है।

एक मानवीय उदात्त संस्पर्श से भरी ये कवितायें पाठक के चित्त को प्रश्नाकुल करती हैं; परन्तु अन्ततः संस्कारित करती हैं। अनुभूति और चिन्तन का ऐसा समविलयन विरलता से देखने को मिलता है। उनकी अनुभूति में संसार के भौतिक मायाजाल को कोई स्थान नहीं है। जैसा उन्होंने प्रारम्भ में ही कह दिया है कि ये कवितायें किसी भौतिक संघर्ष से उपजी हुई नहीं हैं। इनमें मनुष्य के मन को कई–कई कोणों से आन्दोलित करने का प्रयास है। ताकि वह गहरी सच्चाइयों से रूबरू हो सके और उन्हें आत्मसात् कर सके। प्रकृति; मानव–मन और परिवेश सभी उनकी कविताओं में विभिन्न छवियों के साथ ध्वनित होते हैं; परन्तु अन्ततः सभी उनके चित्त को एक नया मानवीय संस्कार देने का प्रयास करते हैं। एक श्रेष्ठ कवि की महत्वपूर्ण उपलब्धियों का साक्षात्कार इन कविताओं के माध्यम से होता है।

डॉ0 राम कमल राय
90सी, बाघम्बरी मार्ग
इलाहाबाद–6



एक और स्वर है यह
स्वरों के कोलाहल में
कौन सुनेगा इसे
सीखचों के पार
अवस्तुक, अपण्य
बन्द हो गया द्वार
मौन में डूबने के लिये
छोड़ नहीं पाते शब्द
समय की कैंचुल अब।

—गोविन्द चन्द्र पाण्डे, <u>जया</u>, पृष्ठ 73 (बन्दी शब्द)

हर युग के अपने अंधविश्वास हुआ करते हैं। वैज्ञानिक युग या आधुनिक युग कहें या तर्कबुद्धि (रीज़न) का युग कहें, उसके भी अपने अंधविश्वास होंगे ही। जैसे कहा जाता है कि कोई भी मनुष्य अपने युग से बाहर नहीं निकल सकता, यानी कि, वह अपने युग का बन्दी है अनिवार्यतः। पाण्डे की इस 'बन्दी शब्द' शीर्षक कविता की समापक पंक्ति में प्रयुक्त शब्द 'अब' क्या जताता है? "छोड़ नहीं पाते शब्द / समय की कैंचुल अब" यानी कि, शब्द के लिये समय की कैंचुल छोड़ना पहले तो संभव था, किन्तु अब नहीं है। इसलिये, कि मनुष्य अब तो केवल भोक्ता है, द्रष्टा नहीं रहा। प्राकृतिक विभूतियाँ भी उसके लिये अपना अर्थ खो चुकी हैं क्योंकि "देखने वाली आँख अब बन्द है"। सामान्यतः यही समझा जाता है कि मूल्य—भ्रंश का प्रतीकार करने के लिये, शब्दों को उनका खोया हुआ अर्थ वापस लौटाने के लिये विद्रोही का आविर्भाव होता है परन्तु ऐसे विद्रोही को आत्मजयी होना होगा नचिकेता की तरह। या हमारे अपने हाल के समय का उदाहरण देखें तो, श्री अरविन्द की तरह। "हंसिका" नामक पाण्डे जी के काव्य-संग्रह की एक कविता उस विडंबना को

उजागर करती है जिसके चलते आज स्वयं विद्रोह की मूल्यवत्ता नष्ट हो चुकी है : जिस तरह अन्तस्ताप से अशोधित कच्चा लोहा खड्ग बनाने के लिये अयोग्य होता है, वैसे ही आज का विद्रोही भी अनात्मजयी अर्थात, "बाहरी ही असंतोष से चालित असंतुलित, अकृतज्ञ" होने के कारण विद्रोही के योग्य नहीं है। वह कदापि हमारी आशा का आधार नहीं बन सकता।

रोज़मर्रा की जीवनानुभूति और युगीन परिस्थिति दोनों के प्रति संवेदनशील और वेध्य पाण्डे जी का कवित्व जिस स्रोत से अपनी आस्था और 'विज़्डम' को बार बार अर्जित करता दिखाई देता है इन कविताओं में, वह न केवल हमारी पीढ़ी के लिये बल्कि ठेठ आज के विद्रोही कवियों के लिये भी स्पृहणीय हो सकता है। शर्त मगर यही है कि हम खुली संवेदना से इन्हें पढ़ें : अपने निजी या सामयिक पूर्वग्रहों की केंचुल झरने देने का जोखिम उठाएँ। तभी हम इनसे सचमुच प्रतिकृत हो सकते हैं। ~~सच तो यह है कि घोर अव्यवस्था और विद्रोह की कविताएँ पढ़ते हुए वैसी असुविधा नहीं होती वैसा डर नहीं लगता जैसा पाण्डे जी की कई सारी कविताएँ पढ़ते हुए लगता है। यह आस्था हमें सहमा देती है। हमें अपने संदेहवाद और अनास्था से कोई बड़ा जोखिम महसूस होता है जो हम उठाने से कतराते हैं। मगर क्यों?~~ क्या यह संभव नहीं कि जिसे हम अपनी साहसिकता समझते रहे हैं उसके पीछे मात्र अभ्यास-जड़ संस्कार हो, अपने अंधकार का सामना करने से कतराते रहने की सुरक्षाग्रन्थि हो, या इस क़दर लाइलाज़ पराधीन कल्पना, जिसके लिए मुक्ति की चेष्टा ही सन्दिग्ध हो चुकी हो; यन्त्रचर्या ही मनुष्यता का प्रतिमान बन चुकी हो ..? पाँडेजी की कविता हमें 'हिंसक मन का लयहीन विस्तार' दिखाती है, यह याद दिलाते हुए, कि 'कभी हिंसक भी बँधा था आरण्यक छन्द में'। वह हमें 'धरती में धँसते मन्दिरों पर उगते दबते जंगल' ही नहीं, 'तहाये कपड़ों की तरह दिमागों में सुरक्षित वृत्तियाँ' भी दिखाती हैं। तभी हम उसके इस आह्वान को अनसुना करना चाहते हुए भी नहीं कर पाते कि

खोजते रहो परतें

बनावट पहचानो

खाली छिलकों के पीछे

अपने आप को।

चारों ओर व्याप्त मूल्यभ्रंश और मूल्यमूढ़ता के युग में यह स्वर आन्तरिक प्रतिरोध और 'अस्वीकार' का ही हो सकता है। पर इस 'अस्वीकार' के पीछे जो निष्ठा है, वह अपने स्वीकार से ही हमें सिहरा देती है :

मुझे न चाहिये साहसिक अभियान

अँधेरे में तुमुल संग्राम

उल्काएँ प्रेतसमान

मुझे चाहिये चिरन्तन अचल

दीपक एक पग धरने के लिये

दीपक के लिए आँखें सरल

इसलिये, कि यह सरलता ही सबसे दुर्लभ्य और अपने आप में अकेला कर देने वाली उपलब्धि है।'कितने दिन'शीर्षक कविता मानो इस अकेलेपन का रूपक बन जाती है। .. ''यहाँ इस शिखर पर अकेले / सुनता हवा का रोना / दिग्भ्रान्त ... आगे एक खाई दीखती खाली / रूद्ध लौटता मार्ग / हवा में ठिठुरते यहाँ / ठहर सकते कितने दिन।'' दीपक भी बार बार बुझता है आँधी में और उसे बार-बार जलाते रहना है; बार बार सम्हालते, बचाते रहना है उसे-''जूझते आगे बढ़ते / अस्थिर घेरे में प्रकाश के / जलते बुझते ..।'' विकट 'युद्ध' है यह , जिसमें हार जीत का निर्णय भी अंतिम युद्ध तक सुरक्षित है और कविता का चरितनायक ही नहीं, कवि भी अच्छी तरह जानता है कि 'युद्ध' कोई अंतिम नहीं होता / संकल्पित मन के लिए'। यह अकारण नहीं कि इन कविताओं में कार्यरत संकल्पित मन एक ओर 'अबोधपूर्वम्' और 'आशीर्वाद' सरीखी 'एपिफ़नी' से,'दीपक' और 'एकतारा' सरीखी रचनाओं में कौंधते

[illegible] राग-दीप्त क्षणों से गुजरता है, तो दूसरी ओर हम उसे 'भविष्य', 'खिलौना' 'एक बुद्धिजीवी की पक्षाघात से मृत्यु' और 'मिट्टी के पैर' सरीखी कविताओं में अपने अकेलेपन, क्षोभ, प्रश्नाकुलता से भी गुज़रते देखते हैं।

असिद्ध हुआ हमारा प्रभात
यह तो शिशिर का तीसरा प्रहर
हमें मिलेगा फिर से मेंढक का जीवन
टर्राता बदरंग
वही काई [illegible] भरा घेरा
कुँए के अन्दर इतिहास

कहाँ वह स्वर्णिम सांस्कृतिक अतीत और कहाँ यह भविष्य का दुःस्वप्न! किन्तु यह दुःस्वप्न केवल संस्कृति विशेष का नहीं, मानव मात्र का है। मानवी चेतना का दुःस्वप्न, स्वयं मानवी तर्क बुद्धि द्वारा खड़ा किया गया। तभी तो इस प्रश्न की टंकार हमारा पीछा करती रहती है :

क्या यंत्र बन सकता यंत्री
शून्य में पिंडों की टकराहट
बजा सकती चेतना-झंकार
क्या कोई तर्क भुला सकता मन
स्मृति अभिशप्त
आस्था के जो सुनायी देते स्वर
वे जैसे दूर से कोई बुदबुदाता

('एक बुद्धिजीवी की पक्षाघात से मृत्यु पर')

इसी प्रश्न की टंकार मानो इस विडम्बना में, इस मारक व्यंग्य में आ घुलती है कि 'सभी को मिलेगी साथ / बिना निजी प्रयास / जीवन्मुक्ति।'' पर, इसे व्यंग्य कहना भी मानो इसमें निहित त्रासदी के मर्म का अर्थापकर्ष जैसा लगने लगता है।

'आयरनी' और 'पैरेडॉक्स' तो सभी श्रेष्ठ आधुनिक कविता की तरह इन कविताओं के कवि के लिए भी अनिवार्य उपकरण हैं; उसका अपना पक्ष, उसकी अपनी निष्ठा, इनसे छिपती-ढकती नहीं; बल्कि और भी तीखी प्रभविष्णु होकर उभरती है। 'अकेलापन' शीर्षक कविता को ही पढ़ देखिये :

अकेलापन क्या गूँज की तरह है
जैसे समुद्र की लहरों का अथक गूँजते रहना
रिक्त आकाश के नीचे
मन के अन्दर अतीत का घूमते रहना
अँधेरे में साँसों की प्रतीति
याकि पत्थर की तरह कगार से गिरते हुए
ज्योति का अंधेरे विवर में खोना
वर्तमान का निस्तरंग अतीत में।

यह आकस्मिक नहीं कि पान्डेजी की कई सारी कविताएँ प्रश्न का रूप धारण करतीं और, प्रश्न में ही पर्यवसित होती जान पड़ती हैं। जैसे 'पुराशेष' का उपसंहार : "क्या हिंसक पशुओं की तरह / घात में रहते / मृत्यु भयभीत / या जीते आश्वस्त अदिति के साथ?" याकि 'भगीरथ की खोज' शीर्षक कविता का समापन: 'भगीरथ बन सकते क्या ययाति के वंशज?' या, जैसे 'जड़ और चेतन' शीर्षक कविता में ध्वनित प्रश्न – 'मिल पाऐंगे उसी बुद्धि को / कैसे पद-सरोज के रजकण / जिसे शिला में शिला दीखती / अंगों में भौतिक ही स्पन्दन'। कवि का पक्ष, पाठक कहीं महसूस करता है, चेतन का, आदर्श का ही पक्ष है, किन्तु जड़ का, तथाकथित यथार्थ का पक्ष भी न केवल उसकी आँखों से ओझल नहीं है, प्रत्युत उसे जान बूझकर वह अग्रभूमि में 'फूल' उपस्थापित करके ही रखता है। अनर्थ और प्रतिकूल-वेदनीय का त्रास यहाँ सिर पर चढ़कर बोलता है; जबकि जो अनुकूल वेदनीय है,

आश्वासनदायी अनुभूति है, वह 'एपिफनी' की तरह, एक कौंध में उद्भासित होकर बिला जाती है – उस 'अजानी गंध' की तरह, जो इसी नाम की 'हंसिका' में संकलित कविता में वर्णित है या इस 'मुद्रा' की तरह :

धँस आई सुबह की बाढ़
एक दूधिया गंगा
अटका रहा गवाक्ष
पर उसका रूप
प्रवाहित, दीवार पर चस्पा

कविता को जहाँ एक ओर 'जीवन की आलोचना' कहा गया है, वहीं दूसरी ओर 'जीवन के छुपे हुए मर्म का उद्घाटन' भी। पांडेजी की कविताएँ दूसरी परिभाषा के निकट हैं। हालाँकि, जीवन की आलोचना भी उनमें जगह-जगह देखी जा सकती है। जैसे 'घासपात', 'चिरन्तन अभियोग', 'दो उर्वरताएँ' शीर्षक रचनाओं में। इस तीसरी कविता का व्यंग्य-विपर्यय कितनी भयानक और सर्द टिप्पणी है समकालीन सभ्यता पर! यहाँ एक तलवार वह है जो आकाश काटती है और दृश्य-संसार उगाती है; दूसरी महाभारत के 'मौसल पर्व' का आधुनिक संस्करण सा प्रस्तुत करती – सामूहिक संहार की अभिशप्त नियति को आहूत करने वाली आत्महंता खरपतवार है। एरिका घास के भेष में 'असिपत्रवन' नाम के नरक को जीवन के बीचोबीच रचती हुई।

ऐसी समकालीनता के साथ कवि का, कहें कविता का, सम्यक् सम्बन्ध क्या हो सकता है? क्या यह एक रोचक संयोग ही नहीं कि पांडेजी की एक कविता का शीर्षक ही 'समकालीनता' है? शुरूआत ही जिसकी ऐसी है, जिससे हमारे यानी, समकालीन कवियों के कान खड़े हो जाएँ ..

मनसबदार नहीं बने तुलसी
न बीरबल बन पाए

न फारसी से परिचित, न सल्तनत से
वे अपने युग को समझ नहीं पाए

तो क्या अपने युग को समझना, उसकी माँग पूरी करना कवि के लिए अनिवार्य अर्हता नहीं है? पंतजी की आत्मकथात्मक कविता 'आत्मिका' की हमें यहाँ बरबस याद आ जाती है, जहाँ, कवि स्पष्ट कहता है : 'युग–पिक बनना भाया मन को'। पांडेजी युग-पिक बनने का दायित्व न केवल नहीं स्वीकारते, बल्कि वैसी भूमिका के खिलाफ़ खड़े दिखाई देते हैं। 'कोयल' इस युग में उनकी कविता के कथनानुसार, जी ही नहीं सकती। "कोयल' यह तुम्हारा आखिरीगीत" – वे कहते हैं –"समय की महफिल में / तुम्हारी आखिरी जीत"। क्यों भला? इसलिए, कि "... कैसे जियोगी अनाहार / कैसे मिलेगा – कीट प्रातराश / रासायनिक खाद के युग में ?..."

तो, तुलसी अपने युग को 'समझ नही पाए'। फिर क्या किया उन्होंने? "वे फेरते ही रहे परम्परा के मनके / गुनते पुरानी कथा / एक लिपि के समान / कुटिल घुमावदार।" ... आधुनिक कविता की विशेषता यही न मानी जाती रही है कि वह अपने युग की जटिलताओं के समकक्ष ही जटिल-दुरूह होती है और उसका जटिल-दुरूह होना ही उसकी गुणवत्ता और प्रामाणिकता की कसौटी है। पाँडेजी की यह कविता मगर, इसी कसौटी पर प्रश्नचिन्ह लगा देती है। यह कहकर, कि "हर पीढ़ी में वही मानव सत्य / बदलता नहीं / बदलते सम्बन्ध, प्रतिबिम्ब"। यह भी, कि ... "क्षण क्षण में लगता निहित / एक सहज समाधान / जिसे सहेजता मन में कवि / बाहरी दुनिया से असावधान।"

'हंसिका' की भूमिका में पाँडेजी का कथन है कि, "कुछ कवि सत्य के आविष्कार का दावा करते हैं, जोकि उनके निजी भोग का अहंवादी मूल्यांकन भर है। सत्यबोध निजी व्यक्तिगत बोध नहीं होता। वह द्रष्टा को व्यक्तित्व के बंधन से मुक्ति दिलाता है।" उक्त कविता के तुलसी पाँडेजी की दृष्टि में ऐसे ही कवि हैं। "वे अपने युग को समझ नहीं पाए" का व्यंग्यार्थ यही हो सकता है कि उन्होंने चिरंतन सत्य को सजीव रूप में युग-बोध का अंग बनाया। पांडेजी के चौथे काव्य संग्रह 'जया' की

एक कविता है – 'कविता का जन्म'। वह क्या कहती है, ज़रा सुनें :

अपनी तुमने कथा भुलाई
रची राम की कथा सनातन
संसद् स्तिमित, अवाक् दृगों में
भरता प्रातिस्विक संवेदन

इससे क्या फ़र्क पड़ता है कि यह तुलसी को नहीं, वाल्मीकि को – आदिकवि को संबोधित कविता है। कृतिकार का अपोहन करने वाली कृति – यही पाँडेजी का काव्यादर्श है और वह तुलसीदास के लिए भी चरितार्थ होता है। 'तुमने अपने को अलगाया / कैसे बिंधे तीर से अन्दर' ... । यह अपने को अपने जीवन-भोग से अलगा सकना ही पांडेजी के लिए सार्थक कवित्व की शर्त है।' यह भी, कि ... ' छन्द मिला वाणी को तप से / टूटी निजी समय की कारा"। निजी समय की कारा से मुक्त होना कवि-पुरूषार्थ है तो युगीन परिस्थितियों की कारा को तोड़कर उससे बाहर निकल पाना भी कवि-पुरूषार्थ ही है। 'बन्दी शब्द' शीर्षक कविता की समापक पंक्तियाँ और उनमें निहित आलोचना भी यहीं अपना औचित्य पा लेती है "छोड़ नहीं पाते शब्द / समय की केंचुल अब"।

आखिर क्या कारण है कि गोविन्दचन्द्र पाण्डे जी की कविताएँ हमें सामान्य पुराने ढंग की पारम्परिक और नए ढर्रे की आज लिखी जा रही आधुनिक– दोनों तरह की कविताओं से अलग लगती हैं और दोनों से भिन्न प्रतिक्रिया उभारती हैं? वे हमें एक ऐसे अर्थ के अनुसंधान की ओर ले जाती हैं जिसका अभ्यास हमें नहीं है। निश्चय ही वे संस्कार से प्रेरित हैं किन्तु हमारी संस्कारगत रूढ़ अभ्यस्तियों से हटकर, उनमें ठेठ, साम्प्रतिक संवेदना है – जीवित अनुभव का क्षण, अपने यथातथ्य ब्यौरों के साथ उनमें मूर्तिमान होता है। मगर समकालीन कविता की शर्तों पर चलने से वह इनकार करती है और अपने इनकार से ही अपनी विशिष्ट गुणवत्ता और मूल्यवत्ता को उभारती है। कार्य-कारण की लकीरी समझ को चुनौती देते हुए वे हमें

हमारे जीवन भोग से उबरने की राह दिखाती प्रतीत होती हैं।'कारण'शीर्षक कविता के नितान्त प्रसंग-प्रेरित ब्यौरों को ही देखिये : लड़की का गाते गाते रोने लगना, पत्नी की झुँझलाहट अज्ञात अनिवार्य कारणों से, स्वयं कविता के चरितनायक की साँसत, और उसके कारणों की सूची। यह सब घटित है पिछले दिन का। मगर ... "लगता कल की शाम अभी भी अटकी हुई : धुँए और धुंध की रात / रास्ता नापते क़दम / ठहरे हुए ढोर किसी ठूँठ की छाँह ..."। कविता यहीं इसी बिम्ब पर समाप्त हो जाती है। उस तरह यहाँ कोई समाधान, कोई निष्कर्षात्मक सूक्ति नहीं, दार्शनिक युक्ति नहीं, कुछ नहीं। फिर क्या बात है कि यह कविता हमें उस जीवन-भोग में लिथड़ी-फँसी हुई नहीं, बल्कि उससे उबरी हुई लगती है? 'ठहरे हुए ढोर किसी ठूँठ की छाँह में...'। भला ठूँठ की छाँह भी कोई छाँह है? ढोर भी असाध्य 'निजी' प्रश्नों और छल प्रपंच भरे 'सार्वजनिक' प्रश्नों के मारे इस मनुष्य को भला कौन सी राहत दे सकते हैं? किसी आस्था का उद्‌घोष अथवा संकेत तक नहीं यहाँ। किन्तु अपनी फँसावट का इतना स्पष्ट पारदर्शन कर सकना ही मानो आत्मावसाद से उबर आना है। कवि उस असहजता को कहीं बहुत भीतर से जानता है जो मन को और शब्द को साधने की जीवन-व्यापी साधना के बावजूद 'लक्ष्यभ्रष्ट तीर', 'उद्‌भ्रान्त मन' और 'तेज़ आँधी में खड़खड़ाते शब्दों' के हवाले हो जाने से उत्पन्न होती है। अपने और किसी भी समय की सामान्य मनुष्यता में साझीदार होने के नाते और व्यवसायात्मिका बुद्धि की साधना के स्तर पर भी कवि निरन्तर युद्धरत है अपने ढंग से; और जानता है कि संकल्पित मन के लिए कोई युद्ध अंतिम नहीं होता। वह मात्र बौद्धिक स्तर पर ही नहीं, स्नायविक संपृक्ति के स्तर पर भी अनुभव करता है कि हवा पानी कुछ भी मधुमय नहीं रहा, सब विषमय हुआ जा रहा है। वह जानता है और सिर्फ जानता ही नहीं, अपने आस पास के तमाम सारे असंकल्पित मनों के जीवन-भोग की कड़ुवाहट और निराशा से संवेदित है उसकी कविता, जब वह कहता है कि "पृथ्वी आकाश नहीं रहे माता—पिता" ... और ... "मछलियाँ बन गईं बगुले.."। इस 'मात्स्यन्याय' की और 'विक्रम-बेताल' संवाद की विडम्बना से वह भलीभाँति परचा हुआ है। तब फिर क्या है जो इस यथार्थ बोध के बावजूद इस कवि से कहलवा सकता है कि ——

मैं नीचे खड़ा हूँ
मेरे खाली हाथ
मुझे न गिरना, न खोना कुछ
इससे बड़ा क्या सुख

—'निर्द्वन्द्व', हंसिका, पृष्ठ 118

हमें क्यों इस सुख पर, इसकी मूल्यवत्ता पर सहज प्रत्यय हो आता है? इसीलिए न, कि यह वही चरित्र है जो इसी की बगल वाली कविता में सर्दी से आक्रान्त उस असहाय मन की भी साखी हमें दे चुका है जिसे 'गुरू वेदना' खींच रही है और तभी इस खिंचाव को काटता एक दूसरा खिंचाव प्रकट होता है : हवा से शीर्ण एक नन्हीं पत्ती उसकी गोद में आ गिरती है। असहाय मन को सहाय मिलता है उस 'लघु सम्पर्क' से। पत्ती भी उसीकी तरह लघु और समय-विदीर्ण है और उसका स्पर्श मानो एक सर्वथा अविदित और अपूर्वानुमेय अर्थ की तरह, लघु बोधि की तरह मन को छू जाता है। एक ऐसी विराट् साझेदारी के महाभाव का स्पर्श, जहाँ व्यक्तिगत दुख का कोई अर्थ नहीं रह जाता और भोक्ता की निजी कालकोठरी की दीवारें भी क्षण भर को ही सही, ढह जाती हैं।

स्पष्ट ही, यह अनुभव को दर्शन में घुला देने का अभ्यास भर नहीं है, बल्कि दर्शन को अनुभव-प्रत्यक्ष करना है। उसे बार बार नये सिरे से अर्जित करना है।'बेघर' कविता के सजीव संदर्भ देखिये : बेघर मज़दूरिन की घर की चाहत का कितना आत्मीय विवरण है, 'स्वत्व के सुख' का कितना मार्मिक चित्रण ('अपने को पहचानते अपनी चीज़ों में / गढ़ते एक मन का घर')। तब बुद्धवचन के बरक्स कवि का प्रश्न और उसका उत्तर एक साथ झलकता है : "अभाव की निवृत्ति कैसे हेय? / अभाव की प्रतीति हो सकती भ्रम / तो भी बनी रहती करूणा / बुद्ध का प्रेम, वत्सल निर्मम .."। कविता का समापन तब सिवा वैसी ही वत्सल और निर्मम शुभाशंसा के सिवा और क्या हो सकता है?

दमकें सबके मुख
दिपें आँखें, घुले वाणी में रस
घर मिले सबको मनपसंद
बिना बाड़ों के मन पहचाने
अपने को सब में
प्रबुद्ध हो जाए बेघर

'बिना बाड़ों के मन की पहचान' आत्मवत् सर्वभूतेषु। क्या यह संभव है? 'गुड फेंसेज़ मेक गुड नेबर्स' – रॉबर्ट फ्रास्ट की वह प्रसिद्ध कविता याद आ जाती है यहाँ बरबस। किन्तु 'गुड नेबर' से आगे भी तो मानवी मन की माँग जाती है : मानवेतर जो पड़ौस('नेबरहुड') है उसकी भी अनुकूलता उसे चाहिये कि नहीं चाहिये? फिर उसके बाद जो'सुपरनेचुरल'या, कह लीजिए अ–मानुषिक 'सत्' का नेबरहुड है या मृत्यु का सदा सिर पर मँडराने वाला आतंक है, उसका क्या होगा? उससे कैसे निपटा जाएगा? पाँडेजी के चौथे संग्रह 'जया' की जो पहली ही कविता हे, 'काला कौआ'– उसे पढ़ देखें। वह क्या कहती है? कौआ बालक की रोटी छीन ले गया है। एक निहायत मामूली रोज़मर्रा की घटना। मगर देखने की बात है कि कवि उसे कहाँ किस बृहद् संदर्भ में उठा ले गया है।

काफी नहीं होतीं रोटियाँ
छीन लेते दूसरे हाथ
बनी रहती बुनियादी कमी

क्या है यह'बुनियादी कमी'जो देह की सारी ज़रूरतें पूरी हो चुकने के बाद भी यथावत् बनी रहती है? कवि रोटी के दुख की उपेक्षा नहीं कर रहा। न आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति की। दोनों का हल पुरूषार्थ की माँग करता है, इस तथ्य को भी वह रेखांकित करना नहीं भूलता। कहता है – ''आँसुओं से नहीं,पसीने से सिंचेगा अधिकार / बचाएगी

ताकत की बाड़..." लेकिन कब तक?

एक दिन रक्षित घेरे के बीच
झपटेगा फिर से काला कौआ
ले जाएगा तुम्हें इस बार
जहाँ न रोटियों का सुख
न होगा आँसुओं का भार

पांडेजी की कविताएँ समकालीन काव्य परिदृश्य में एक ज़रूरी हस्तक्षेप की तरह पढ़ी जा सकती हैं और पढ़ी जानी चाहिये। 'हंसिका' और 'जया' की भूमिकाएँ भी। इसलिये, कि उनमें कुछ भी ऐसा नहीं है जो इनमें संगृहीत कविताओं से सत्यापनीय न हो। सातवें ओर आठवें दशक की हिन्दी कविता पर टिप्पणी करते हुए अज्ञेय ने कविता को सामाजिक कर्म का ऐवजी बनाने की प्रवृत्ति की कसकर आलोचना की थी। पांडेजी का कवित-विवेक भी यही कहता है कि "... जो तात्कालिक सामाजिक समस्याएँ हैं, वे कर्म द्वारा परिहरणीय हैं। वे भावुकता का अथवा काल्पनिक निजी प्रतिक्रियाओं का विषय नहीं हैं। सामाजिक तथ्यों का वर्णन इतिहास का विषय है, काव्य का नहीं।" निजी विद्रोही और क्रान्तिकारी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के समकालीन आग्रह को भी वे प्रतिमान के रूप में नहीं स्वीकारते। जैसाकि हमने देखा उनके इस अस्वीकार की मूल्यवत्ता उनकी कविताओं से उजागर होती है। परिवर्तन के तथ्य को वे सहज ही स्वीकारते हैं, किन्तु कहते हैं कि "परिस्थिति भेद से भाषा, छंद, भाव और उनके आलम्बन क्रमशः परिवर्तित होते हैं, इसका अर्थ यह कैसे हो गया कि मानव स्वभाव और उसकी समस्याएँ भी बदल गईं? वे तो अभी तक शाश्वत रूप से बनी हुई हैं। प्रेम और मृत्यु, प्रकृति का सौंदर्य, अपने अस्तित्व और विश्व-नियन्ता के रहस्य की खोज आज भी महत्वपूर्ण विषय क्यों नहीं?" तब फिर समकालीन कविता में उनकी उपस्थिति इतनी क्षीण क्यों? यह निश्चय ही विचारणीय है कि क्या यही उसकी 'बुनियादी कमी' नहीं है?

बस, एक जगह अटक महसूस होती है। सामाजिक यथार्थवाद को आलोचकों द्वारा विशेष प्रश्रय देकर नये कवियों को प्रोत्साहित किये जाने के तथ्य की जो आलोचना पांडे जी ने की है, वह तो सर्वथा युक्तियुक्त है। किन्तु वे जब इससे पहले की हिन्दी कविता को इस आधार पर निरस्त करने लगते हैं कि हिन्दी काव्य के प्रतिमान प्रायः अंग्रेजी साहित्य से लिये गए हैं, तब क्या इस कथन में अतिव्याप्ति दोष नहीं उभरता? छायावादी काव्य क्या केवल अंग्रेजी रोमैण्टिक कविता की आत्मपरक धारा की अनुकृति भर है? क्या अज्ञेय और उनके साथ-साथ नयी कविता के कवि भी एलियट के प्रयोगवादी प्रस्थान की छाया भर हैं? क्या स्वयं पश्चिम का रोमैण्टिक काव्यान्दोलन अन्यान्य प्रेरकों के साथ 'ओरिएंटल रेनेसांस' से भी प्रभावित नहीं हुआ था? रोमैण्टिक कवि स्वयं भी क्या क्लासिकी ग्रीक साहित्य से प्रभावित नहीं थे? एलियट का काव्य-सिद्धान्त और कविकर्म व्यक्तित्व से छुटकारा पाने की कोशिश नहीं तो क्या है? अज्ञेय भी क्या अपने प्रौढ़ कविकर्म और काव्य-चिंतन में स्वतंत्र रूप से वहीं नहीं पहुँचते दिखाई देते? बीसवीं सदी के मानस की व्याकुलता का संदर्भ भारत और यूरोप का भले एक न हो, परन्तु संस्कृतियों की टकराहट के व्यापक संदर्भ में वे आपस में सर्वथा असम्बद्ध कैसे हो सकते हैं? हाँ, पांडेजी का यह निष्कर्ष अवश्य ही सम्यक् और माननीय है कि व्यापक स्तर पर प्रतिमानहीनता और मूल्यमूढ़ता का कारण हमारी शिक्षा का उथलापन और वैचारिक स्वराज की अप्रतिष्ठा है। यह बात भी उनकी विचारणीय है कि गाँधीजी, रवीन्द्रनाथ और श्री अरविन्द के बाद उस ऐतिहासिक साहसिकता के दर्शन क्यों नहीं होते जो इन सीमाओं को— कुशिक्षाजन्य संस्कारों को—बदल सके और इस प्रकार उस औपनिवेशिक मायाचक्र को भेद सके जिसके पीछे अपनी आत्मा को ही दाँव पर लगा देने वाली और समूची सृष्टि के अवधारणात्मक वशीकरण पर उतारू फाउस्टियन अहंकार-प्रेरित ज्ञान पिपासा यानी सत्ता और जीवन की अन्धानुरक्ति रही है और जिसे लक्ष्य करके ही संभवतः कवि कहता है :

ढहेंगे ये भी युग-प्रकार

बनेंगे नए प्रकार

नये शिल्पी होंगे, नये निवास

क्या वे देख पाएंगे निःसंशय

क्या सूर्य तक उठ पाएगी उनकी उड़ान?

संपाती की नियति से बच

पता नहीं, क्यों, संपाती की नियति के इस उल्लेख से अचानक कवि येट्स की वह उक्ति स्मरण में कौंध गई है : "ऑल आर्ट इज़ अ फ्लाइट फ्रॉम द ब्लाइंडिंग ब्लेज़ ऑव इटर्निटी" (अर्थात् सारी कला अंततः एक पलायन है सत्य की असह्य ज्वाला से)। भागवतकार ने भी कुछ इसी तरह की चेतावनी दी ही है कि शब्दब्रह्म की मायामय भूलभुलैया में भक्त के लिए उस सत्य के ही ओट हो जाने का ख़तरा है जिसे शब्द प्रकट करना चाहते हैं। "शब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था : यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः । परिभ्रमंस्तत्र न विन्दते ऽर्थान् मायामये वासनया शयानः') किन्तु, अन्ततः संपाती भी तो मुक्तिकामी ही है और वह मुक्ति भी उसे राम के ही काम आते हुए राम के ही हाथों मिलती है कि नहीं? जयशंकर प्रसाद के एक नाट्यगीत की पंक्ति है :'आवृत हो अतीत सब मेरा / तूने देखा सब कुछ मेरा / परदा होने से'। क्या काव्यभाषा भी अंततः एक पर्दा ही नहीं है और क्या कवि-कर्म की सिद्धि और कृतकृत्यता उस परदे को ही अधिकाधिक पारदर्शी बनाते जाने की प्रक्रिया और जीवनव्यापी साधना में ही निहित नहीं है? रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी एक जगह लिखा है कि "सत्य को तथ्य की तंग पोशाक रास नहीं आती। वह तो कहानी कविता का हल्का फुल्का आवरण पहनकर ही मुक्त रूप से विचरण कर सकता है। बग़ैर कारयित्री कल्पना के तो उस तरह सत्य भी पकड़ाई नहीं देता। और, देता भी है तो द्रष्टा को गूँगा करके। योगी अरविन्द तक को सत्य का साक्षात्कार जीवन के ही रूपान्तरण के लिए, 'डिवाइन लाइफ़' के लिए ही चाहिये। तब फिर जो भक्तों के ही दूर के रिश्तेदार (क़रीबी) हैं, उन कवियों की बात ही क्या? स्मृति और (परमार्थ-) सत्ता का इतना साथ तो चाहिये ना? स्वयं पाँडेजी की कविता एक जगह कहती है :—

लौटो यहाँ
जहाँ हमारा साथ
वर्तमान में पलभर
फेरो मन अतीत से विजड़ित
छोड़ो रक्तविहीन
अभावी संभव जग
अपनालो
कितना ही दूभर हो
यह दुर्लभ सत्

(स्मृति और सत्ता, हंसिका, पृ. 33)

कवि की आस्था वह ऊनी चादर है जिसने "बारह वर्ष गरमाए पिता के अंग / वही अब रखती गर्म शीतजर्जर मेरे अंग / इस पिछले युग में।" इसलिये, कि

ऊन से नहीं
प्राण से उठती ऊष्मा
छोड़ती रहती देहावरण
पिता से पुत्र तक वाक्
पहुँचाती प्राणिक अर्थ
पीढ़ी से पीढ़ी

आशा करनी चाहिये कि पाँडेजी की ये कविताएँ भी अपना प्राणिक अर्थ इसी में आज और कल के कवियों तक पहुँचा सकेंगी।'दो ध्रुव' शीर्षक कविता में हमने पढ़ा था –

लिखी हुई ऋत की लिपि उर में
दुर्गम संकेतों में चित्रित
संघर्षों के अन्तर्मरू में
ध्रुवतारोपम साक्षी संस्थित

सवाल मगर यही है कि संघर्ष का इतना बखान करने वाले कवियों को इस अन्तर्मरू का अहसास है कि नहीं? वही नहीं है तो उसमें संस्थित साक्षी की प्रतीति उन्हें कैसे होगी? किन्तु पांडेजी के इस चौथे काव्य-संग्रह 'जया' का नाम ही इस शंका को फ़िलहाल यहीं स्थगित करके अंतिम कविता 'उद्बोधन' को उद्धृत करने की प्रेरणा दे रहा है। और इसी उद्बोधन से इस चर्चा को भी विराम देने का।

मुझे मत सुनो
पर बन्द मत करो कान
अन्दर की क़ब्रगाह के प्रेत
चीखते रहते अतृप्त ...
एक अनन्त पुनरावृत्ति का जाल
वे नहीं देख सकते वर्तमान
उन्हें मत सुनो
उन्हें मत जगाओ
नयन खोलो
सम्मुख प्रकाशमय चक्र
उद्भासित करता भविष्य का पथ



रमेशचन्द्रशाह
एम–4, निरालानगर
भदभदा रोड
भोपाल – 462003

भागीरथी-काव्य का रचमान सौन्दर्य

डॉ० गोविन्दचन्द्र जी पांडे विविध विद्याओं के आचार्य हैं, इतिहास और दर्शन में उनकी विद्वत्ता प्रसिद्ध है, विद्या के क्षेत्र में वे पश्चिम के नये चिन्तन से भी प्रभावित हैं और इसके फलस्वरूप सौन्दर्य का नयी दृष्टि से चिन्तन और अध्ययन किया है। मैं यहाँ पर उनके प्रसिद्ध संस्कृत काव्य 'भागीरथी' के रचमान सौन्दर्य की किंचित् व्याख्या करने जा रहा हूँ, पांडे जी ने समान रूप से संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में काव्य-रचना की है। उनकी काव्य रचना में उनके इतिहास, दर्शन और सौन्दर्य-चिन्तन की अनुरक्ति एवं अनुभूति किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है, इसके कारण उनके काव्य में जो रस अर्थात् आनन्द हैं, वह संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा के नौ रस से विलक्षण सही अर्थ में रस सागर (आनन्द का समुद्र) है। काव्य-रचना की प्रक्रिया में अर्थात् रचमान स्थिति में यह रस या आनन्द कहाँ से आविर्भूत होता है उसको जान लेना ही काव्य के अर्थ को प्रत्यक्ष करना है। रस भाव से उदय होता है और भावों की स्थिति क्रिया-व्यापारों में होती है-भावप्रधानम् आख्याताः। भावों की रचमान स्थिति को लाने में सूक्ष्मतर क्रियाओं की उपस्थिति जिस कविता में होती है, वह जीवन्त काव्य-रचना होती है, काव्यशास्त्रियों के अनुसार रस सिद्ध कविता। हमारा व्याख्येय काव्य 'भागीरथी' ऐसी ही जीवन्त काव्य-रचना है, रस सिद्ध कविता है।

किन्तु इस रस सिद्ध कविता को अर्थात् जीवन्त काव्य-रचना को समझाने के लिए भावों के अछोर संसार को भी जान लेना चाहिए। उसको समग्ररूप से कभी नहीं जाना जा सकता, उसकी इति नहीं है, अगर उसकी इति हो जायेगी तो काव्य-रचना पर भी विराम लग जायेगा। संस्कृत काव्य-शास्त्रियों ने ९वीं, १०वीं शती में यही किया, रस नौं हैं, ३३ संचारीभाव हैं, तथा विभावानुभाव-व्यभिचारि संयोगाद् रस निष्पत्तिः। वस्तुतः भरतमुनि ने नाटक के रंगमंच पर अभिनय के लिए मन के नौ स्थायी भावों का विवेचन किया था और उनके उन क्रिया कलापों का भी, जिन क्रियाओं के अभिनय से इनकी उपस्थिति होती है। नाटक की रचना रंगमंच के सीमित क्षेत्र में क्रियमाण होती है। काव्य की रचना में समय, स्थान के सीमित होने की कोई बाध्यता नहीं होती। इसलिए काव्य की रचना में मन के भावों को स्वाभाविक विस्तार का अछोर अवकाश होता है। मन के भावों की संख्या और उसकी प्रवृति तो वही है पर काव्य में उनके दिक् काल का अवकाश बहुत अधिक है। इसलिए नवीन चिन्तकों ने विशेषतः हिन्दी में इतिहास-रस का प्रयोग रचना के क्षेत्र में किया है। हिन्दी के कुछ उपन्यास इस इतिहास-रस का उदाहरण है। इतिहास-रस के समान ही उसकी संपृक्ति वर्तमान रस से है जिसमें आज की काव्य-घटनाओं के मार्मिक चमत्कारिक पक्ष उद्घाटित हुए हैं। इसी सरणि में अनागत रस भी है। जिसके उदाहरण विरल हैं, क्योंकि यह सिद्धान्त है कि रचनाकार अपने वर्तमान में होता है और वर्तमान की ही रचना करता है उसकी रचना की पृष्ठभूमि चाहे अतीत की हो, अथवा अनागत (भविष्य) की । काव्य-शास्त्रियों की परम्परा से प्राप्त नौ रस (शृंगार, वीर, करुण, भयानक, वीभत्स, हास्य, रौद्र, अद्भुत, शान्त) अतीत वर्तमान और

अनागत के ही दिक् काल के क्रिया-कलापों की भाव-सृष्टि में समाये हैं, बिना इस दिक् काल का संस्पर्श पाये उनके चक्षु उन्मीलित नहीं हो सकते, वे जीवन्त नहीं हो सकते, उदय नहीं हो सकते। डॉ० पांडे के अनुपम सूक्ति-काव्य 'भागीरथी' में भावों और रसों की यह स्थिति, जिसमें रचमान स्थिति सौन्दर्य में छलक उठती है, दिक् काल की इस अछोर सीमा में विस्तार पाती है, इसके उदाहरण पिछली संस्कृत कवि-परम्परा में वाल्मीकि, व्यास जैसे आर्ष कवियों और भतृहरि, कालिदास, बाण, श्री हर्ष, योगेश्वर, विल्वमंगल, पंडितराज जगन्नाथ आदि को छोड़कर प्रायः विरल ही दिखायी पड़ते हैं। यहाँ भागीरथी की कतिपय सूक्तियों को लेकर इस रचमान सौन्दर्य का या कि कविता की जीवन्तता का व्याख्यान किया जाता है।

भागीरथी में कुल सूक्तियों की संख्या २५४ है। रचना में विषय की दृष्टि से ये सात भागों में विभाजित हैं- १. लोकः २. कालः ३. वसन्तानलः ४. भागीरथी ५. शतदलम् ६. दक्षिणापथे जयसिंह ७. प्रत्यग्बिम्बः। इनमें विषयों की विविधता तो है ही, वर्तमान वैज्ञानिक प्रभाव से अनुभावित परिस्थितियों के भी मार्मिक चित्र हैं, घटनाचक्र है। पांचवें भाग शतदलम् में अन्य सन्दर्भों की अपेक्षा हिमालय के सन्दर्भ के मुक्तक हैं- भूस्वर्गः, शेषनागसरः, हिम शिखरः, हिमभुवनम्, श्वेतकरः, चिनारः, मुगलोद्यानम् , डलसरसी, चश्मसाही, वातामोद्यानम्, हिमपातः, हिमकन्दुकः, हिमच्छटा, सेवासेवनम् । हिमालय की प्रकृति और जीवन से सम्बन्ध रखते ये काव्यमुक्तक संस्कृत-काव्य की नूतन समृद्धि हैं, किसी दूसरे कवि की रचनाएँ हिमालय के ऐसे ठेठ जीवन पर नहीं हैं, कालिदास या बाण ने जो हिमालय की प्रशंसा में या वहाँ की गन्धर्वनगरी की दिव्यता में अनोखा वर्णन किया है, वह अतीत के रस में ही हमें डुबाता है, पांडे जी के मुक्तकों में वर्तमान के रस की धारा है। वैसे मुक्तकों के सारे विषय नूतन ही हैं। यदि नूतनता नहीं है तो सौन्दर्य नहीं है और नूतनता एवं सौन्दर्य के अभाव में काव्य की रचना पर प्रश्न-चिह्न लग जाता है, परन्तु इन मुक्तकों में 'दक्षिणापथे जयसिंहः' अपने भीतर नव्यता एवं गूढ़ सौन्दर्य को अन्तर्भूत कर रचा गया बहुत ही विशिष्ट मुक्तक है, जिसके अन्तर्गूढ़ सौन्दर्य की व्याख्या आगे की जाएगी । मूक्तकों के वर्णनीय विषयों का परिचय देने के बाद अब हम कतिपय विशिष्ट मुक्ताकों का अर्थ प्रत्यक्ष करेंगे और यह देखना चाहेंगे कि कवि ने अपनी उक्ति की अन्तिम विधेय क्रिया के पहले किस प्रकार भावों के पटल से रचना के विस्तार को भर दिया है जैसे वर्षा ऋतु में बादल आकाश के अवकाश में एक के ऊपर एक उमड़ते और घिरते जाते हैं, यही काव्य का रचमान सौन्दर्य है। समापिका क्रिया के पूर्व भावों की राशि ही उसे घेर लेती है भावों की अनेक उन्मीलित आँखें पाठक के संस्कारित मन को अपने गूढ़ दर्शन में लीन कर देती हैं। ऐसी ही रचना को काव्य कहते हैं। जहाँ भावों की ऐसी राशि नहीं उमड़ रही है वह केवल उक्ति मात्र है। बात का चमत्कार है।

उक्त कथन के प्रमाण में, सौन्दर्य की स्थिति कहाँ होती है, आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास के दो विपरीत उदाहरण साक्षी देते हैं, एक उदाहरण है- जो उनकी दृष्टि में उत्तम ध्वनि काव्य है- वापी स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् , छन्द का यह अन्तिम चरण उक्ति की समापिका क्रिया है, नायिका दूती से उसके कपट का रहस्य खोलती हुयी व्यंग्य कर रही है कि अवश्य तुम उस अधम नायक के पास नहीं गयी थी वाघी में स्नान करने गयी थी इसीसे तुम्हारे शरीर का चन्दन, आँख के अंजन आदि छूट गये हैं। इस

उक्ति में नायक के लिए अधम पद का प्रयोग नायक और दूती के कपट को अभिव्यंजित कर रहा है, मम्मट की दृष्टि में अधम पद के प्रयोग से यह उत्तम काव्य है, सच बात यह है कि यह काव्य अधम पद के प्रयोग से बात का चमत्कार मात्र है, अधम का अर्थ नीच व्यक्ति होता है, नायक को अधम कह देने से उक्ति का सारा कथन ही व्यंग्य नहीं अभिधार्थ हो गया है, और इस उक्ति में बात के बतंगड़ के अतिरिक्त कोई सौन्दर्य नहीं है। सौन्दर्य-विहीन काव्य है। दूसरा उदाहरण है जिसको मम्मट ने कोई स्फुट अलंकार न होने से उक्ति में शृंगार रस की उपस्थिति से रसवदलंकार की कोटि में रखा है, अर्थात् उत्तम काव्य नहीं है, मध्यम कोटि का काव्य है, उदाहरण है-

य: कौमारहर: स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा
स्ते चोन्मीलित मालती सुरमय: प्रौढ़ा: कद्म्बानला:।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापार लीला विधौ
रेवारोधसि वेतसीततले चेत: समुत्कण्ठते।।

कवि कहता है, चैत्र की रात्रि है, अपने प्रेमी की ही अर्धांगिनी बनी तरुणी अब उसके साथ है, चैत्र की वही रात्रियाँ हैं, फूली मालती, कदम्ब को छूकर आती मदमाती हवा सब कुछ प्रकृति का वैभव है किन्तु रेवा (नर्मदा) नदी के तट पर वेतसी के कुंज में प्रेमी के साथ सुरत व्यापार के कितने मनोरम सन्दर्भ जो बीते हैं उसे बरबस याद आते हैं चैत्र की सौरभ भरी रात्रि के उन अनगिनत सुरत-सन्दर्भों की याद कर तरुणी का मन बरबस रेवा नदी के वेतसी कुंज में उत्कंठित हो कर घूम रहा है। यहाँ इस सूक्ति में बात का चमत्कार नहीं है, सौन्दर्य की सरिता प्रवाहित है। कवि कहता है कि चैत्र की वही रात्रि है, मैं वही हूँ, मेरा प्रेमी वही है, मालती कदम्ब के फूलों का वही सौरभ है, पर मन तो नर्मदा नदी के उस तट की याद में डूबा है जहाँ मैंने प्रेमी के साथ मिलन की एकान्त रात्रियों को बिताया था। उन रात्रियों के अनगिनत मनोहर सन्दर्भ अब अन्तर्मन की भाव-सरिता बनकर प्रवाहित हैं इस भाव सरिता की धारा, और कलकल के सौन्दर्य को वासना से संस्कारित पाठक का मन अपनी अपनी अनुभूति से प्रत्यक्ष करेगा। कहा नहीं जा सकता कि 'रेवा रोधसि वेतसी तरुतले चेत: समुत्कण्ठते' वाक्य की समापिका क्रिया -समुत्कण्ठते के क्षितिज में सौन्दर्य की सरिता की धारा कितनी तेज है। यही कविता का रचमान सौन्दर्य है। और यही उत्तम काव्य की स्थिति है।

अब 'भागीरथी' के मुक्तक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनमें सौन्दर्य के चमत्कारी रचमान क्षण अपनी उपस्थिति रखते हैं। अतीत रस का उदाहरण है, शीर्षक है- कंकाल---

शाखा: शीर्णदला: सुदीर्घ विपुला भुग्रास्तथैवोर्ध्वगा:
विभ्रद् यद् विटपी नितान्त विजने गृध्रै: समासेवित: ।
तन्मन्ये पतित: सुरासुरमृधे कंकालशेषोऽधुना
एकाङ्घ्रि स्थित नष्ट पक्ष विभव: कंकाकृतिर्दानव: ।।

(पृष्ठ १०)

वन के नितान्त विजन में एक बड़ा ऊँचा वृक्ष सूख गया है पत्ते गिर पड़े हैं फैली हुई लम्बी डालों पर गिद्ध निवास करते हैं इसको देखकर कवि की दृष्टि सुदूर अतीत में गयी, उसने कहा, देव-दानवों के युद्ध में मारे गये दानव का यह ऊँचा कंकाल है, यह एक पैर पर खड़े बगुले के समान है जिसके पंख कट गये हैं।

सूखा पड़ा उँचा वृक्ष देवासुर संग्राम में मारे गये दानव के लम्बे कंकाल सा प्रतीत हो रहा है, उत्प्रेक्षा की यह नयी कल्पना है, पुनः वह कंकाल उस बगुले के समान है जो एक पैर पर खड़ा हे और उसके पंख कट गये हैं। यहाँ पर सौन्दर्य की जीवन्तता इस बात में है कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत सभी में एक समान काल के विजृम्भण का विषाद छाया है सभी अतीत की धारा में डूब रहे हैं । नवीनता यह है कि दानव का कंकाल कवि के लिए अप्रस्तुत (उपमान) बन गया है। तथा दोनों ही अप्रस्तुत दानव और बगुला हिंसा भाव का प्रतिनिधित्व करते हैं और दोनों ही काल के ग्रास हो गये हैं। विलक्षणता यह है कि फूल-फल से जीवों को तृप्त करनेवाला वृक्ष और हिंसा के भाव से भावित दानव तथा बगुला अपने कंकाल में एक समान हो गये , यह काल की महिमा है। सूक्ति में इन सभी भावों की एक साथ उपस्थिति अर्थ को चमत्कृत कर रही है।

दूसरा मुक्तक लीजिए। हाथी किसी समय राजसत्ता का प्रतीक था अब यह प्रतीक इतिहास बन गया है, इतिहास के आज वर्तमान समाज में गजराज हाथी जब विचरण करता है तब राजा की आन बान और राज सभा से शून्य यह समाज उसे ऐसा ही लगता है जैसे कि गुलिवर, लिलिपुट देश में पहुँच गया हो जहाँ सब बौने ही हैं, मुक्तक का शीर्षक है -इतिहास----

दृष्टा त्वां गजराज भावशबलं चित्रीयते मानसम्
राजानः क्व गताः क्व सम्प्रति सभा यात्राश्च साडम्बराः।
दुर्भेद्यं क्व महावनं प्रतिभयं ते वा क्व कण्ठीरवाः
लोको लीलिटहायते गुलिवरो जातोऽसिऽमन्ये परः।।

(पृष्ठ २८)

हे गजराज! तुम्हें विचरण करता देखकर राजा की सत्ता, राजोत्सव की यात्रा में तुम्हारा साजवैभव और राजसभा की याद आती है, तब विविध भावों से मन भर जाता है कि तुम जिसके प्रतीक हो वह राजसत्ता कहाँ चली गयी, राजकुल रूपी दुर्भेद्य महावन, शत्रुओं के प्रतीक सिंह की आकाश को गुँजा देनेवाली गर्जना, आज इन सबसे शून्य है तुम्हारी राजभूमि, तुम यहाँ पर विचरण करते ऐसे लग रहे हो जैसे लिलिपुट देश में (बौनों की भूमि में) गुलिवर। तुम्हारे लिए तुम्हारी राजभूमि बौनी हो गयी, तुम्हारे विचरण के योग्य नहीं रही है। काल ने तुमको इतिहास बना दिया है।

इतिहास, बीते हुए काल के चमकते और असंभावित घटनाओं को चरितार्थ करते क्रियाकलापों की चौंकाती स्मृति रह जाता है। कवि ने इस उक्ति में गुलिवर और लीलिपुट देश का उपमान रखा है जो संस्कृत काव्य के लिए नयी कल्पना (अप्रस्तुत रूप विधान) हैं। इतिहास की घटनाओं की चौंकाती स्मृति इसका रचमान सौन्दर्य है जो हाथी के निर्वासित जीवन के अभाव से उद्भूत हो रहा है।

इतिहास शीर्षक से एक दूसरा महत्त्वपूर्ण मुक्तक है, जिसकी रचना संयोग-वश कवि द्वारा तब हुई जब उसके अन्तर्मन में कवि होमर का वारुणीकृष्ण (भूमध्य सागर) गरजता और शान्त होता समाया था, जिसके फलस्वरूप कवि ने काल के संक्रमण को स्वप्न की संज्ञा दी है। एक अमिट रेखावाले इतिहास की नहीं-

पोतानां प्लवनेन कृष्णजलधिः क्षुब्धो न चिह्नं कितः
रेखा फेन सितो र्मिराजिरचिता उद्यन्ति शाम्यन्त्यपि।

आशा दीप विमोहिता प्रतियुगं सार्थावलिर्लुप्यते
स्मृत्यालेखित चित्रवीथि सदृशाः स्वप्नोपमा वासराः।।

(पृष्ठ २०)

इस उक्ति का सीधा अर्थ है- यह कृष्ण समुद्र-वारुणीकृष्ण भूमध्यसागर जहाजों के आने जाने से कभी क्षुब्ध नहीं हुआ, न उनके आने के चिह्न उस पर अंकित हुए, जल की उत्ताल तरंगों से उठती फेन की उजली रेखाएँ प्रकट होती हैं और विलीन हो जाती हैं। प्रतियुग में आशा के दीप की ओर देखते सार्थवाह पोत आते-जाते रहे और दिशाओं में छिपते गये। स्मृति में रेखांकित जैसे चित्र की वीथी हो ऐसे ही इस सागर के ऊपर दिन का उदय हुआ, सागर ने स्वप्न के समान उसे देखा और स्वप्न के समान उसे भुलाता भी रहा। सागर पर दिन का कोई प्रभाव नहीं है।

उक्त अर्थ से वांछित कवि की अभिव्यंजना कुछ इस प्रकार है- मनुष्य का अपना स्वभाव ही समुद्र है, उसके वर्षों का इतिहास पोत है जो उसके स्वभाव के समुद्र में तैर रहा है, उज्ज्वल फेन की कतारों की रेखाएँ जो उदय होती और मिटती रहती है। कर्म के पोत से आविर्भूत साम्राज्य आदि संस्था है, जो सृष्टि के समान ही मानव के गहन स्वभाव के समुद्र में बनती हैं नष्ट होती हैं, प्रत्येक युग की कल्पना उसकी आशाएँ, राजा धर्माचार्य आदि आते और लुप्त होते रहते हैं। सूर्य द्वारा लाया गया प्रभात और दिन, जो कर्म में नियुक्त कर देता है, स्मृति की रेखाओं में अंकित चित्र की बीथी जैसा, स्वप्न जैसा ओझल होता रहता है।

इन दोनों अर्थों की धूप छाँही रचनमानता में इस सूक्ति का अपना नूतन सौन्दर्य है।

किन्तु इस सूक्ति-मुक्तक पर एक टिप्पणी अपेक्षित है। कवि की दृष्टि में रचमान क्षण में भूमध्य सागर-होमर का कृष्णवारुणी समुद्र तरंगित हो रहा है इसलिए वह इतिहास को स्वप्नोपम देख रहा है और स्मृति के रेखा-चित्र कह रहे हैं यदि इसकी जगह भारत महासागर उसकी रचमान दृष्टि में होता तो वह इतिहास को स्वप्नोपम न कहता। कवि भारत के इतिहास का वेत्ता और चिन्तक है, पर जब वह रचना कर रहा है तब वह होमर के वारुणीकृष्ण सागर में खो गया है। इसलिए काव्योक्ति की दिशा बदल गयी।

भारत सागर के तट पर जो मानव जाति रही है उसने जो इतिहास बनाया पुराण, रामायण और महाभारत-वह मानव जीवन के लिए अमृत की धारा है, संजीवनी है, न तो स्वप्न है न स्मृति की रेखाएँ। यह भी काल का सिद्धान्त है कि जिसने अन्न की खेती की, और 'अन्नं वै ब्रह्म' का जो भोक्ता है, इतिहास उसका ही है, वही इतिहास भी लिखता है। इतिहास काल की वाणी है, वह स्वप्न कैसे होगी।

इतिहास, काव्य-रचना और रचमान क्षण में कवि के अन्तर्मन में संस्कारित भूमध्य सागर- इस मुक्तक का सत्य है तथा द्विधा दृष्टि एवं रचना-क्षण की सन्धि से उद्भूत इसका काव्य-सौन्दर्य इतिहास के उदयाचल पर छा रहा है।

अब दूसरा मुक्तक देखिए, जहाँ स्वप्न नहीं है, न ही स्मृति में लीन हो जानेवाली चित्र रेखाएँ, इतिहास और उसके पूर्व पुराण में एक समान रंगीन रेखा में जहाँ मन का अमिट सत्य स्थित है और उसके भाव-क्रियाओं में नित्य नवीन होता सौन्दर्य वृन्दावन की अलख जगाता रहता है-

राधामाधवयोर्न रूपमधुना पश्यन्ति यत्प्राकृताः
तन्मोहैक निबन्धनं न मनुजे देवावतारः स्फुटः।
प्रीत्येकाञ्जनमाहितं नयनयोर्येषां तु तेषां हृदि
काल श्यामनदी तटे विजयते वृन्दावनं शाश्वतम्।।

(पृष्ठ १३१)

(पन्द्रहवीं शती में महाप्रभु चैतन्य देव भगवान् कृष्ण के लीला धाम वृन्दावन की खोज करने के लिए वंगदेश से चलकर मथुरा पहुँचे और वहाँ मुसलिम आक्रमण से वृन्दावन को उजाड़ देखकर दुःखी हुए। उस समय उन्होंने जो उद्‌गार व्यक्त किये, कवि ने अपने पाँच मुक्तकों में उसका निबन्धन किया, जिनमें एक मुक्तक यह है।

अर्थात् आज के प्राकृत (खाना-सोना ही जिनका जीवन हो ऐसे) जन राधा और कृष्ण के उस रूप को कहाँ देख सकते हैं। वे जीवन के दुःख सुख के मोह में डूबे हैं, बँधे हैं, उनकी समझ में मनुष्य के रूप में देवता का अवतार नहीं हो सकता। किन्तु जिनकी दोनों आँखें प्रीति के आंजन से रंजित हैं, उनके हृदय में काल रूपी श्याम नदी (तरुणाई, श्याम = श्यामलता, सौन्दर्य की नीलिमा) के तट पर शाश्वत वृन्दावन विद्योतित होता है।

कवि ने 'कालश्याम-नदीतटे' पद का भाव-गर्भित प्रयोग किया है। इसके दो अर्थ किये जाने चाहिए-

काल रूपी (या तत्पुरुष समास में, काल की) तमिस्रा नदी का तट, जिस पर वृन्दावन के राधाकृष्ण का ध्यान हृदय (आत्मा) को शान्ति प्रदान करता है। अथवा दूसरा अर्थ है- काल की श्याम नदी का तट, यहाँ श्याम का अर्थ है- सघन सौन्दर्य की नीलिमा। सौन्दर्य की अत्यन्त सघनता ही श्यामता में बदल जाती है। इसलिए राम या कृष्ण का रूप रंग श्याम है, गौर नहीं है। सौन्दर्य-दृष्टि के पंडित वैष्णवों की यह मान्यता है। जब श्याम का अर्थ सौन्दर्य की सघनता करेंगे तब समग्र अर्थ होगा- काल के सघन सौन्दर्य की जो नदी प्रवाहित है उसके तट पर सौन्दर्य जहाँ मूर्तिमान् प्रत्यक्ष अवतरित हुआ वह शाश्वत वृन्दावन सदा सब के हृदय में चमकता रहे। श्याम का सलोने या सौन्दर्यमान के अर्थ में प्रयोग वैष्णव भक्ति के साथ संस्कृत से हिन्दी भाषा में भी अवतरित हुआ, लोक बोली का प्रयोग है- साँवरो श्याम, अथवा साँवर गोरिया + सौन्दर्य से भरे कृष्ण, सौन्दर्यमती गोरी तरुणी।

इस प्रकार छन्द का चौथा चरण- काल श्याम नदी-तटे विजयते वृन्दावनं शाश्वतम्, अत्यन्त प्राणवान् भाषा से युक्त है और उसमें भावों का अतल समुद्र अपने आप सिमट गया है। 'शाश्वतम्' पद से इस सूक्ति के भाव-व्यापार (भाव प्रक्रिया) में इतिहास और पुराण की, किसी अर्थ में कुछ-कुछ पुरातत्त्व की, जीवन के सारभूत सत्य की लम्बी परम्परा चमक उठती है। यह शाश्वत वृन्दावन अपनी पुराण परम्परा से श्रीमद्‌भागवत महापुराण में, विल्वमंगल के श्रीकृष्णकर्णामृत में, जयदेव के गीत गोविन्द में, मध्यकाल के सूक्तिकार कवियों के मुक्तकों में तथा हिन्दी के रीतिकालीन बिहारी, देव प्रभृति कवियों की रीति-कविता में इतिहास और जीवन का सत्य बन कर समाया है। वृन्दावन और उसमें विचरण करनेवाले राधा एवं कृष्ण अनुराग-सृष्टि के विलक्षण विश्व हैं। इस विश्व में, यदि पुराण काल को छोड़ दें तो आठवीं शती से संस्कृत, प्राकृत के कवि अनुराग की विविध रचनाएँ करते रहे हैं और उनकी अनुराग-दृष्टि में राधा, गोपी, वृन्दावन, चरवाहों का वन, मोरपंख का मुकुट लगाये वंशी बजाते लीला पुरुष भगवान् कृष्ण और उनकी क्रीड़ा-भूमि की अनेक सौन्दर्य-सृष्टि होती रही हैं, उन

कवियों की अन्तर्दृष्टि प्रीति के आँजन से रंजित थी, नर-देह में सौन्दर्य के इस अवतार को उन्होंने सच-सच कर देखा था। इतने सारे सन्दर्भ इस मुक्तक में अन्तर्हित हैं, इसीलिए कवि के हृदय से यह प्रकृत वाणी फूट पड़ती है- काल श्याम-नदीतटे विजयते वृन्दावनं शाश्वतम्।

ग्रीष्म ऋतु के वर्णन का एक अन्य मुक्तक भी गहरे ताप से तप्त जगत् को शान्ति देने के लिए पीताम्बरधारी सघन नील-शोभा गोप कृष्ण की स्तुति करता है-

नीताऽन्यापि निशा शिला गुरु रहस् तिग्मांशु शूल्यं पुनः
प्रत्यूषेऽपि न गन्धवाहपदवी लक्ष्या दलैः शाखिनाम्।
कक्ष्ये ताप-निरोध-यन्त्र-सुखिते कालः कथं नीयतां
विद्युत्कान्त-बलाहक-प्रभममुं गोपं स्मरामो न यत्।।

(पृष्ठ ८०)

इस मुक्तक के तीन पक्ष हैं- (१) ग्रीष्म ऋतु के ताप और उमस का स्वाभाविक वर्णन है- रात्रि शिला (चट्टान) के समान एक-एक कर बीतती हैं, पुनः दिन आता है जिसमें तीक्ष्ण किरणें शूल बरसाती हैं। सवेरा होने पर वृक्ष के पत्ते भी नहीं हिलते, न कहीं से हवा चलती प्रतीत होती है।(२) विज्ञान का युग है, वातानुकूलित कक्ष में हम स्थित जरूर हैं लेकिन यह ताप का समय बीत नहीं सकता। (३) यदि हम चमकती बिजली की चमक से शोभित सघन नील शोभावाले (पीताम्बरधारी) गोप (पानी बरस कर गो = पृथ्वी को जीवन देनेवाले मेघ, या कि गो = गाय के चरवाहा कृष्ण) का स्मरण नहीं करते, उनकी स्तुति नहीं करते।

भाव यह है कि बिना आषाढ़ के बादलों के पानी बरसे वातानुकूलित वैज्ञानिक कक्ष पूर्ण विश्रान्ति नहीं दे सकता, प्रकृति का उत्तर प्रकृति ही दे सकती है। काव्य की दृष्टि से ग्रीष्म के ताप का वर्णन और सघननील बादलों को लेकर आते आषाढ़ श्रावण की सुषमा- ये दो रचमान सौन्दर्य अभीष्ट हैं। पर कवि की अन्तर्दृष्टि इसमें जगत् के जीवन के ताप में और उस ताप को निवारण करनेवाले बलाहक कान्ति कृष्ण के स्मरण में डूब जाती है जिसके कारण प्रकृति के सौन्दर्य के ऊपर अध्यात्म की यह भाव-सुषमा छा जाती है। ग्रीष्म के तपन से पीड़ित जन आषाढ़ के बादल की प्रतीक्षा ही करते हैं, कवि ग्रीष्म के ताप के साथ जीवन के ताप में तप्त होने लगा और उसके हृदय में आषाढ़ के बादल गोप-भगवान् कृष्ण के रूप में अवतरित हो गये-

विद्युत्कान्त बलाहक प्रभ ममुं गोपं स्मरामो न यत्।।

भागीरथी खंड में भागीरथी और सागर पर १३-१३ मुक्तक हैं। इन दोनों शीर्षकों के मुक्तक इस रचना से तथा रचनाकार कवि से विशेष सम्बद्ध हैं। त्रिपथगा शीर्षक से रचित नीचे के दो मुक्तक एक ओर तो गंगा की महिमा का बखान करते हैं और दूसरी ओर उसी के समान इस काव्य-रचना के अजर और पवित्र होने का उद्घोष करते हैं-

वैशाखे तवधारा धूसरवर्णा कृशा सुखस्पर्शा।
वसुधारा पुण्यानां वहसि स्मृतिरिव सदा मातुः।।

(पृ० १०६)

दिवि तारकगणनेत्री भुव्यपि कीर्तिस्तथैव ते विदिता।
आश्विनसौम्या धारा ज्योतिः सत्रं नु विदधाति।।

(पृष्ठ १०७)

हे त्रिपथगे गंगे! वैशाख (वसन्त ऋतु) में तुम्हारी जलधारा कुछ धूसर, क्षीण और सुख से स्पर्श योग्य या सुख का स्पर्श देनेवाली होती है। तुम पुण्यों की वसुधारा हो, माता की स्मृति हो। तुम आकाश में तारक गणों की अग्रणी हो, पृथिवी पर भी तुम्हारी कीर्ति वैसी ही श्रेष्ठ है, आश्विन (कुआर, वर्ष के मध्य के) मास में (शरद् ऋतु में) तुम्हारी धारा सौम्य (स्वच्छ, उज्ज्वल) होकर ज्योतिष्टोम यज्ञ का विधान करती है।

प्रत्यक्ष में कवि गंगा की सहज पवित्रता और उससे फूटनेवाले उज्ज्वल प्रकाश का वर्णन कर रहा है। कदाचित् इसी शरद् ऋतु में ज्योतिष्टोम यज्ञ का आयोजन भी होता रहा होगा। लेकिन परोक्ष में कवि का अन्तर्मन अपनी इस कृति 'भागीरथी' का ही बखान कर रहा है-

(i) वसन्तु ऋतु (वैशाख मास) इस भागीरथी की रचना का आरम्भ है। धूसर पतले अक्षरों में रचमान यह कृति सुख का अनुभव करा रही है। इस काव्य (वसु) धारा ने मेरे पुण्यों से जन्म पाया है। माता के स्नेह की स्मृति जैसा आह्लाद इस रचना से फूट रहा है।

(ii) संस्कृत के मुक्तक रचनाकार जो कवि अब दिवलोक में है उनकी कृतियों में यह भागीरथी अग्रणी (नेत्री) है। इस भारतभूमि में इसकी कीर्ति उसी प्रकार विस्तार पाएगी। आश्विन मास, जो न वर्ष का आदि है न अन्त है, मध्य है अर्थात् वर्तमान है (अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत अव्यक्तनिधनान्येव) उस वर्तमान में इसका स्वच्छ रचमान स्वरूप अर्थ के तेज प्रकाश से सहृदयों को अभिभूत करेगा।

भागीरथी पर रचे मुक्तक कहीं न कहीं अन्तर्हृदय से कवि के स्व के स्वाभिमान की अभिव्यक्ति करते हैं।

कालिदास ने 'रघुवंश' महाकाव्य के तेरहवें सर्ग में १३ छन्दों में समुद्र का वर्णन किया है। उस वर्णन के विषय-वस्तु प्रकृति सौन्दर्य, प्रकृति विज्ञान से अतिरिक्त पुराण और सांख्य-दर्शन से सम्बन्ध रखते हैं और कालिदास की वाणी में वह इतना सुषमा-युक्त हो गया है जिसका पूरा व्याख्यान नहीं किया जा सकता है। कवि पांडे ने भी अपने इस काव्य-मुक्तक में १३ छन्दों में समुद्र का वर्णन किया है, उन्होंने मुक्तकों की यह रचना पुरी में सागर का दर्शन करते हुए की है। इन मुक्तकों में भी प्रकृति का सौन्दर्य और प्रकृति का विज्ञान तो है ही, उससे अतिरिक्त इनमें है सौन्दर्य का चिन्तन, भक्ति की अनुभूति और बौद्ध दर्शन का माहात्म्य। कालिदास के वर्णन की तुलना में इसका बहुत बड़ा अभाव का पक्ष यह है कि कालिदास का वर्णन आती हुई कथा के सन्दर्भ में है और राम अपनी रानी चिर-उत्कण्ठित सीता से समुद्र के सौन्दर्य तथा माहात्म्य का गुण-गान कर रहे हैं, वक्ता और श्रोता के इस संयोग ने उस वर्णन को बहुत प्राणवन्त बना दिया है। पांडे जी का वर्णन अपनी दूसरी विशेषता रखता है जिसमें बुद्धि की चिन्तनधारा और हृदय की भावधारा दोनों का संगम है, यह संगम ही इस वर्णन का चमत्कार है। प्रत्येक मुक्तक की रचना का अपना सौन्दर्य है। सौन्दर्य क्या है? इसकी अनोखी व्याख्या इस उद्धृत मुक्तक में होती है-

चिरं समालोकनतोऽपि नेत्रयो-
र्न खेदमापदयतेऽम्भसां निधिः।
प्रतिक्षणं भूतनतामुपैति यद्
दुराप सौन्दर्य गवेषणे रतः।।

(पृ० १११)

अर्थात् समुद्र की लहरें क्षण-क्षण में तरंगित हो रही है, एक पर एक लहर आती जा रही है। यह अजस्र तरंग-व्यापार प्रत्येक क्षण में नया से नया दिखायी पड़ता है, तरंगों के इस अजस्र व्यापार में नूतनता के भीतर से जो सौन्दर्य झाँक रहा है, यह समुद्र मानो गरजता हुआ उस दुष्प्राप्य सौन्दर्य की खोज में निमग्न है और उसका गर्जन निरन्तर जारी है। प्रत्येक क्षण की नूतनता के कारण समुद्र उस सौन्दर्य की समग्रता के दर्शन से वंचित है, समुद्र जान नहीं पा रहा है कि तरंगों की नूतनता ही सौन्दर्य है या सौन्दर्य इनसे अलग स्थित है। सच बात यह है कि प्रत्येक क्षण की नूतनता ही सौन्दर्य है। कवि की आँखें टकटकी बाँधकर देर से इस सौन्दर्य की क्षण-क्षण की नूतनता को देख रही हैं और जल-सागर का यह सौन्दर्य-अनुसन्धान अपने दर्शन से उसकी आँखों को थकने नहीं देता।

प्रत्येक क्षण में जो नया ही दिखायी पड़े वही सौन्दर्य है- प्रतिक्षणं नूतनतामुपैति यद् दुराप सौन्दर्य तत्।

कवि माघ ने भी अपने शिशुपाल वध काव्य (४/१०) में सौन्दर्य की यही परिभाषा की है- क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। किन्तु पाण्डे जी की उक्ति में सौन्दर्य-दर्शन में निमग्न अजस्र आकुलता का ही चमत्कार है। सौन्दर्य के प्रत्यक्ष दर्शन का क्षण आगे है, जो आगे ही रहेगा, उसके प्रत्येक क्षण की नूतनता की कड़ी कहाँ टूटेगी?

जगत् की सृष्टि आग और पानी से हुई है- अग्निषोममयं जगत् तथा न्याय दर्शन के अनुसार सृष्टि के नौ द्रव्यों में एक द्रव्य जल है, तो क्या यह जल केवल पृथिवी पर ही है, या ब्रह्माण्ड के अन्य तारालोकों में भी। कवि पाण्डे ने अपनी एक सूक्ति में, जिसमें जलनिधि-सागर के आविर्भूत होने का वर्णन है, एक प्रश्न द्वारा अन्य नक्षत्रलोकों में सागर के अस्तित्व पर सन्देह व्यक्त किया है-

उपादत्ते धाता किमपि रचयन् विश्वमखिलं
ततः सृष्टोच्छिष्टं सदसदिति भेदाद् विरहितम्।
निराकारं तत्त्वं समजनि धरासंहतिकरं
स एव प्रत्यक्षो विभृतचलमूर्तिर्जलनिधिः।।

(पृष्ठ १०९)

विश्व की सृष्टि करते हुए विधाता ने कुछ उपादान ग्रहण किये थे, उस सृष्टि के अनन्तर बचा हुआ जो कुछ रहा उसको न सत् न असत् कहा जा सकता है(नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्) वही निराकार तत्त्व धरा (पृथिवी) के साकार तत्त्वों को जोड़नेवाला सिद्ध हो गया और जब प्रत्यक्ष होकर सामने आया तब निरंतर तरंगें भरता हुआ जलनिधि सागर है।

इसलिए जहाँ धरा है (धरासंहतिकरम्) वहीं जलनिधि है। ब्रह्माण्ड के अन्य तारालोकों में कतिपय तत्त्वचिंतकों ने नौ द्रव्यों में से मन, दिक् और काल का अभाव होने की आशंका प्रकट की है। जल या जलनिधि का भी अभाव हो सकता है। मुक्तक में विधाता की रचना का विवरण है और यह रचना कवि की रचना और उसकी आशंका की मनोहारी सुषमा है। बुद्धि और हृदय दोनों इससे आह्लादित हैं।

संसार के दुःख से दुःखी बुद्ध के चिन्तन, दर्शन को लेकर एक गम्भीर और विनोदपूर्ण उक्ति कवि ने सागर के सन्दर्भ से निबद्ध की है-

कियन्त्यश्रूण्यस्मिन् समगसत वेति प्रविचयं
कथङ्कारं कुर्याद् त्रिभुवन ऋते को जिनवरात्।
तथाप्येकास्वादो निचित हृदयार्तिर्जलनिधिः।
कथं नान्तर्वेद्यां प्रकटयतु तां व्याकुल तनुः।।

(पृष्ठ ११३)

समुद्र का जल खारा है। इसका जो भी कारण हो। कवि का मानना है कि जगत् की न जाने कितनी वेदनाओं के आँसू इस समुद्र में आकर मिल गये हैं। उनकी गिनती इस त्रिभुवन में करुणावतार बुद्ध से अतिरिक्त दूसरा कौन कर सकता है क्योंकि संसार के दुःखों की चिन्ता उन्होंने ही की है और समुद्र तो खारे पानी का एक ही स्वाद हृदय में सँजोए हुए अपनी भीतर ही भीतर की मर्मान्तक व्यथा को प्रकट कर रहा है।

संसार की रचना, जल से मिट्टी की उत्पत्ति, समुद्र, गन्ध आदि विषयों पर न्यायशास्त्र और बौद्ध दर्शन का अनुगमन करनेवाली सूक्तिया, भट्टि, श्रीहर्ष आदि मध्यकाल के प्रसिद्ध कवियों के शास्त्र-काव्य की कोटि में आती हैं तो भी कवि पाण्डे ने उनकी रचना में कोरे शास्त्र को काव्य की सुषमा से रंजित कर दिया है, रचमान काव्य की महिमा को कम नहीं होने दिया है। इस प्रसंग में इन सन्दर्भों और शीर्षकों के मुक्तकों को देखना चाहिए।

एक मुक्तक है- अरविन्दम्। इसमें कवि के रचमान भाव ने पवन, जल और मिट्टी की सृष्टि को कमल-गन्ध की उपसृष्टि में बदल दिया है। मुक्तक का यह शीर्षक कवि वहाँ से लेता है जहाँ अनोखे भाव-व्यापार में यह उपसृष्टि रची जा रही है-

गन्धं यस्य वहन् मदेन पवनो नृत्यन्मयूरायते
स्पर्शासङ्गरंगिता रविसुता शेषच्छटामास्थिता।
स्वादाद् यस्य सुधाप्यनादरपदे गोपाङ्गनाभिर्धृता
तद् गोविन्द पदारविन्ददलितं वृन्दावनीयं रजः।।

(पृष्ठ १२६)

अर्थात् यह वृन्दावन की धूल है जिसको गोविन्द कृष्ण के चरण-कमल (अरविन्द) ने चल-चलकर, खेलकूद कर, लोट-पोट कर खूब दलित किया है रौंद दिया है। उनके चरणारविन्द से दलित होने के कारण अरविन्द की सारी सुगन्ध धूल में समा गयी है, धूल से उड़कर हवा में मिल गयी है, यमुना की जलधारा से टकरा रही है।

पवन उस गन्ध को पाकर मत्त होकर मयूर का नृत्त कर रहा है। यमुना नदी अपने जल में उस गन्ध को पाकर वेग से तरंगित होकर तरंगों में शेषनाग की छटा धारण करती है। कृष्ण के चरणारविन्द का स्पर्श पायी उस धूल को गोपियों ने बड़े आदर से चखा, और उस सुधा का अनादर कर दूर करने को कहा, जिसका पान कर देवगण अमरत्व पाते हैं। कृष्ण के चरणारविन्द की सुगन्ध से सुवासित धूल ने एक साथ अमृत और सौन्दर्य से वृन्दावन को भर दिया है, और कृष्ण के इस चरण-अरविन्द की रचना कवि पाण्डे का यह मुक्तक करता है।

हिमालय पर लिखे गये मुक्तकों में अधिकांश वर्तमान से सम्बन्ध रखते हैं, कवि द्वारा निज के बिताये गये दिनों की स्मृतियाँ भी हैं, हिमालय की ऊँचाई और उसकी एक सहज महान् महिमा को भी कवि ने वाणी में व्यक्त करना चाहा है। वर्तमान पर दृष्टिपात करते हुए कवि ने वहाँ के अधिकांश जनों के पीड़ित एवं दीन-हीन जीवन की ओर लक्ष्य कर मुक्तक का 'भू स्वर्गः' शीर्षक दिया है और ऐसा शीर्षक देते हुए अपने को भी उनकी गहन पीड़ा का भागी बनाया है-

प्रावारानौर्णधूम्रान् दधति बहुविधान् मस्तके वेष्टनानि
शीतारक्ताः कपोले, स्वतनुमुपहिताः कण्डिकाः सेवमानाः।
आस्ये हास्यं दधाना हृदयनयनगामार्तिमावेदयन्तो
भूस्वर्गेऽप्यत्र देशे ऽ ाकृतिसुषमिते हन्त दारिद्रयदीनाः।।

(पृ० १३९)

हिमालय का पर्यावरण विज्ञान की सहायता से मनुष्य नष्ट करता जा रहा है। कवि कहता है कि पत्थर और काष्ठ के लोभियों ने शस्त्र-उपकरणों से हिमालय के गिरिखंड को तोड़-तोड़ कर विकृत रूप और रंगों में बदल दिया है। लगता है कि मनुष्य के इस लोभ को देख कर उसको सन्तुष्ट करने के लिए यह गिरिखंड क्षमा और दान की पारमिता की साधना में लगा है। मनुष्य मनमाना उसके विभव को लूट रहा है, पुराण के राजा शिबि इसके दान की बराबरी क्या करेंगे जो पक्षी की तौल के बराबर अपना मांस दान कर यशस्वी कहे जाते हैं-

आर्द्रं वीक्ष्य शिलोच्चयं शिति-सितं पालाशवर्णं क्वचित्
शस्त्रच्छेद कृत व्रणाङ्कितततनुं पाषाण काष्ठार्थिभिः।
मन्ये पारमितास्ति तस्य सहजा ध्याने क्षमा दानयोः
क्वौपम्यं ननु लभ्यतां क्व मितदो राजा वराकः शिबिः।।

(पृ० १६९)

इसको पढ़ते हुए कालिदास के 'कुमार सम्भव' का पहला छन्द याद आ जाता है कि हिमालय देवता है पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य पृथिवी का मानदण्ड बनकर स्थित है। कालिदास के अनन्तर बीसवीं शती में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि रामधारी सिंह दिनकर की 'हिमालय' शीर्षक कविता भी सामने है जिसमें उन्होंने 'मेरे हिमगिरि मेरे विशाल' के प्रति गंगा-यमुना की अमृतधारा के लिए कृतज्ञता जतायी थी, अब प्रजातंत्र राज्य है, मनुष्य के पीछे उसका छद्म मित्र विज्ञान खड़ा है, उसकी सहायता से मनुष्य विशाल हिमगिरि के अस्तित्व पर आक्रामक हो गया है। उसके अंग काट रहा है उसकी अमृतधारा में जहर घोल रहा है। उसके हरीतिमा से भरे वन को उजाड़ रहा है, पर हिमालय गगन को चूम रहा है। अत्यन्त विशाल है, मनुष्य की इस करतूत को वह अपनी परीक्षा की घड़ी

समझता है और हमारा यह कवि पर्यावरण से उजड़ते महान् हिमालय को पारमिता की सिद्धि में बैठे बुद्धावतार को देख रहा है, वह बौद्ध दर्शन का पण्डित है। इस मुक्तक की व्याख्या में अन्तर्दृष्टि काव्य के ऐसे रचमान सौन्दर्य में डूब जाती है।

हिमालय महिमामय है विशाल है उससे शान्ति की किरणें फूटी पड़ रही हैं- इन भावों की अभिव्यक्ति देने वाले दूसरे मुक्तक भी है-

श्रान्ति तत्र विधूय शान्तिमभितो ध्यायत्यभीक्ष्णंयतो
दूरादेव विभाति धूमिल गिरिश्रेणीनभः-सङ्गमः।।

(पृष्ठ १६६)

हिमालय गगन को चूम रहा है तथा वह हमारे लिए परम साध्य भूमा का प्रत्यक्ष दर्शन है-

जाता एव महा प्रयाण पदवी-लाभेन ये यात्रिण-
स्तेषां नोऽत्र चकास्ति साध्य परमो भूमा पुरो मूर्तिमान्।।

हिमपात का स्वाभाविक वर्णन कवि ने किया है-

धुनी हुई रूई की राशि चारों ओर बिछी मालूम पड़ती है। इस सफेद बर्फ ने दिशाएँ ढक ली हैं। वृक्षों और गृहों के शिखर पर सफेद ऊन छाया है तथा भूतल पर अत्यन्त गाढ़ा कोमल गलीचा बिछ गया है-

विशकलित विलोल स्फार तूलाभ राशिः
प्रसरति हिमपातः श्वेतयन् दिक्कदम्बम्।
तरु गृह शिखराणि प्रोर्णुवन् दिव्यकान्त्या
सघनमृदुकुथं वा भूतले संवितन्वन्।।

(पृष्ठ १५४)

कवि ने वितस्ता नदी का वर्णन किया है जिसके दोनों तटों पर लकड़ी के बने ऊँचे घर हैं। आने जाने के सात पुल हैं। नीचे मटमैला पानी बह रहा है, जिसमें नावें चलती है। पर जिसके तट पर अनोखी दूसरी नदियों की धारा प्रवाहित है। प्रभाव और भाव का वितस्ता नदी का यह संगम कवि की काव्य-रचना का आकर्षण है-

दृष्टास्माभिर्वितस्ता यदुभतटयो र्दारुजास्तुङ्गगेहाः
या तार्या सप्तसेतु र्मलिनजलवहा धूसराकीर्ण नौका।
लक्ष्या हासोत्तरङ्गाः सरसिजवदना मीननेत्राश्च यत्र
गौर्यो नार्यः स्थलेऽपि द्युतिमयसरितः सम्भ्रमं चावहन्ति।।

(पृष्ठ १३६)

अर्थात् वितस्ता नदी तो मटमैले पानी से धूसरित है पर उसके तट पर गोरी तरुणियाँ अपने सौन्दर्य नदी की चमकती धारा प्रवाहित किये हैं जिसमें उनके हास की ऊँची तरंगे उठ रही हैं। मुख कमल प्रफुल्लित हैं और सौन्दर्य नदी की धारा में रह-रह कर मछली-सी आँखें नाचती रहती हैं। इस वक्र कथन से सौन्दर्य और भी मनोहर हो गया है। यहाँ पर कवि को दूसरी सौन्दर्य-नदी का वर्णन ही इष्ट है, वही प्रस्तुत है, लेकिन उसने उसको रूपक से युक्त व्यतिरेक अलंकार का अप्रस्तुत बना कर अधिक चमत्कृत कर दिया है।

अब मैं कवि की एक प्रार्थना उद्धत करता हूँ जो हिमालय पर लिखे गये मुक्तकों से अलग है पर उसे भी हिमालय वर्णन के सन्दर्भ में लेता हूँ क्योंकि उसमें हिमाद्रि देवद्रुम राजियों का उल्लेख है- प्रार्थना के पद अत्यन्त गूढ़ हैं और यह गूढ़ार्थ हमें आकृष्ट करता है-

प्रकाश रेखा इषवो विमुक्ताः

हिमाद्रि देवद्रुम राजयस्ताः।

हंसावली मानसमुत्पतन्ती

यथा, तथा मे प्रगुणामतिः स्यात्।।

(पृष्ठ २१७)

अर्थात् प्रकाश की रेखा, छोड़े हुए बाण, हिमालय की ऊँचे उठती देवदारु वृक्षों की कतारें तथा मानसरोवर की ओर उड़ती हँसों की पंक्ति- जैसे सीधी रेखा में अपने लक्ष्य की ओर जाते हैं वैसे ही इस गतिमानता से युक्त होकर मेरी मति अपना लक्ष्य प्राप्त करे।

कवि की यह प्रार्थना मालोपमा में है और समुच्चय अलंकार से युक्त है। सरस्वती उत्कार्थ में इसकी व्याख्या इस प्रकार से की जायगी- प्रकाश के समान सब कुछ प्रत्यक्ष कर लेने की क्षमता हो, बाण के समान ठीक लक्ष्य पर ही दृष्टि हो, देवदारु जैसा कल्पना का विस्तार हो पर जब तक हंसावली के रागानुराग का संस्पर्श कवि-मति से नहीं होता तब तक कवि की प्रतिभा प्राणवान् नहीं हो सकती। सरस्वती-उत्कार्थ भारतीय समीक्षकों की आलोचना-दृष्टि है जिसका भाव है कि विशिष्ट अर्थ को प्रकट करने के लिए जहाँ सरस्वती स्वयं काव्य का अर्थ कहने लगती हैं। केशवदास की रामचन्द्रिका के कई छन्दों में सरस्वती उत्कार्थ का रहस्य टीकाकार जानकीदास ने प्रकट किया है। ऐसे उदाहरण कालिदास, श्रीहर्ष या कि तुलसीदास में भी पाये जाते हैं। भागीरथी में भी इसके उदाहरण हैं।

अब इस काव्य-ग्रन्थ की एक रहस्यात्मक सूक्ति उद्धत कर अपना लेख समाप्त करता हूँ। भागीरथी के छठे खंड की पहली सूक्ति है- दक्षिणापथे जयसिंहः

कस्याप्यसंस्तुतचरस्य सकण्टकस्य
पुष्पस्य मन्दकटुकः समगंस्त गन्धः।
छायान्वपाति मनसि स्मृति सञ्चयेन
नीडोद्भवैरिव वियत्स्फुरितै र्विलुप्तैः।।१

वीक्षे दशावभिजनस्मृतिनिर्निमेषे
पादौ च दूरविषये बलनायकस्य।
चित्रार्पितक्षण इव प्रतिभाति कश्चिद्
दिल्लीश्वर प्रथम सैनिक दिग्जयस्य।।२

इस सूक्ति का सामान्य अर्थ है- मिर्जा राजा जयसिंह दिल्लीश्वर मुगल बादशाह के प्रधान सेनानायक हैं, वे दक्षिण भारत की विजय-यात्रा में हैं। दक्षिणापथ में कहीं अकस्मात् उनको काँटेदार फूल (फोग जिसका नाम है)

की तेज कटु कसैली गन्ध ने घेर लिया, उन्होंने आँखें उठायीं और उस काँटेदार फूल को देखा। जैसे ही देखा वैसे ही ढेर सारी स्मृतियाँ उनके मन के अन्तराल में वैसे ही उतर आयीं जैसे पक्षियों का झुंड आकाश में उड़ता है। सेनानायक ने अपने अभिजन की स्मृति से अपलक हुई आँखों में दूर देश-अपनी जन्मभूमि की ओर देखा, उसके पैर वहीं रुक गये। ऐसा लगा कि क्षणों के लिए वह सेनानायक चित्र में खिंची तस्वीर जैसा क्रिया-शून्य था।

कवि ने सेनानायक के क्रिया शून्य होने का चित्र खींचा है। उसके विस्मय और स्मृति में डूब जाने का रहस्य क्या है, इसकी ओर कोई इंगित नहीं किया है। वे स्मृतियाँ किसकी, किस अभिजन की रही होंगी जिसके कारण राजा गति-हीन होकर खड़ा रह गया, काँटेदार फूल में ऐसा कौन-सा रहस्य था। राजा का रहस्य और कवि की वाणी की महिमा एक समान है। रहस्यों की विद्या का अलग विस्तार है, पर जहाँ तक राजा की ऐसी स्मृतियों का रहस्य है तो राजा का रहस्य नारी (तरुणी) होती है। इस फोग नामक काँटेदार फूल के साथ राजा की किसी अभीष्ट तरुणी का सन्दर्भ छिपा है, जो उस फूल की गन्ध के साथ मन में उदय हो गया और कुछ क्षणों के लिए राजा की स्थिति हो गयी- न ययौ न तस्थौ। हमारे कवि ने इस गूढ़ रहस्य को इसीलिए इतिहास से निकाल कर वाणी के वैसे ही रहस्यमय अक्षरों में निबद्ध कर दिया है।

भागीरथी काव्य की उत्कृष्टता, सहृदयों के लिए उसका आकर्षण तथा जीवन के लिए शिक्षाप्रद उक्तियाँ-आदि वैशिष्ट्य अलग से एक पुस्तक में व्याख्यान की अपेक्षा रखते हैं। इन काव्य मुक्तकों की रचना में भावों और विचारों का जो सौन्दर्य समाहित है उनकी महिमा से इसके कवि ने संस्कृत काव्य के इतिहास में मुक्तक रचनाकारों की पहली पंक्ति में बैठने का स्थान बना लिया है। जिस पंक्ति को मध्यकाल के योगेश्वर, शुभाङ्क, वातोक, उमापति धर, भवानन्द, आढ्यराज, कालिदास, विल्वमंगल, शतानन्द, शुभंकर आदि तथा सतरहवीं शती के पण्डित राज जगन्नाथ ने अपनी प्रतिष्ठा से प्रकाशमान किया है।

भारतीय काव्य-रचना की चिन्तन-परम्परा में दण्डी, वामन, अभिनवगुप्त, कुन्तक का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। हिन्दी के मनोवैज्ञानिक समीक्षक देवराज उपाध्याय भी उस परम्परा की कड़ी को जोड़ते हैं। मैंने भागीरथी काव्य के रचमान सौन्दर्य का व्याख्यान करने में उक्त आचार्यों की प्रतिष्ठापित सिद्धान्त सरणि से लाभ उठाया है।

जयशङ्कर त्रिपाठी

डॉ० जयशङ्कर त्रिपाठी

४०७ बाघम्बरी आवास योजना
भारद्वाजपुरम
इलाहाबाद - २११००६

भागीरथी-काव्य का रचमान सौन्दर्य

डॉ० गोविन्दचन्द्र जी पांडे विविध विद्याओं के आचार्य हैं, इतिहास और दर्शन में उनकी विद्वत्ता प्रसिद्ध है, विद्या के क्षेत्र में वे पश्चिम के नये चिन्तन से भी प्रभावित हैं और इसके फलस्वरूप सौन्दर्य का नयी दृष्टि से चिन्तन और अध्ययन किया है। मैं यहाँ पर उनके प्रसिद्ध संस्कृत काव्य 'भागीरथी' के रचमान सौन्दर्य की किंचित् व्याख्या करने जा रहा हूँ, पांडे जी ने समान रूप से संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में काव्य-रचना की है। उनकी काव्य रचना में उनके इतिहास, दर्शन और सौन्दर्य-चिन्तन की अनुरक्ति एवं अनुभूति किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है, इसके कारण उनके काव्य में जो रस अर्थात् आनन्द हैं, वह संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा के नौ रस से विलक्षण सही अर्थ में रस सागर (आनन्द का समुद्र) है। काव्य-रचना की प्रक्रिया में अर्थात् रचमान स्थिति में यह रस या आनन्द कहाँ से आविर्भूत होता है उसको जान लेना ही काव्य के अर्थ को प्रत्यक्ष करना है। रस भाव से उदय होता है और भावों की स्थिति क्रिया-व्यापारों में होती है-भावप्रधानम् आख्याताः। भावों की रचमान स्थिति को लाने में सूक्ष्मतर क्रियाओं की उपस्थिति जिस कविता में होती है, वह जीवन्त काव्य-रचना होती है, काव्यशास्त्रियों के अनुसार रस सिद्ध कविता। हमारा व्याख्येय काव्य 'भागीरथी' ऐसी ही जीवन्त काव्य-रचना है, रस सिद्ध कविता है।

किन्तु इस रस सिद्ध कविता को अर्थात् जीवन्त काव्य-रचना को समझाने के लिए भावों के अछोर संसार को भी जान लेना चाहिए। उसको समग्ररूप से कभी नहीं जाना जा सकता, उसकी इति नहीं है, अगर उसकी इति हो जायेगी तो काव्य-रचना पर भी विराम लग जायेगा। संस्कृत काव्य-शास्त्रियों ने ९वीं, १०वीं शती में यही किया, रस नौं हैं, ३३ संचारीभाव हैं, तथा विभावानुभाव-व्यभिचारि संयोगाद् रस निष्पत्तिः। वस्तुतः भरतमुनि ने नाटक के रंगमंच पर अभिनय के लिए मन के नौ स्थायी भावों का विवेचन किया था और उनके उन क्रिया कलापों का भी, जिन क्रियाओं के अभिनय से इनकी उपस्थिति होती है। नाटक की रचना रंगमंच के सीमित क्षेत्र में क्रियमाण होती है। काव्य की रचना में समय, स्थान के सीमित होने की कोई बाध्यता नहीं होती। इसलिए काव्य की रचना में मन के भावों को स्वाभाविक विस्तार का अछोर अवकाश होता है। मन के भावों की संख्या और उसकी प्रवृति तो वही है पर काव्य में उनके दिक् काल का अवकाश बहुत अधिक है। इसलिए नवीन चिन्तकों ने विशेषतः हिन्दी में इतिहास-रस का प्रयोग रचना के क्षेत्र में किया है। हिन्दी के कुछ उपन्यास इस इतिहास-रस का उदाहरण है। इतिहास-रस के समान ही उसकी संपृक्ति वर्तमान रस से है जिसमें आज की काव्य-घटनाओं के मार्मिक चमत्कारिक पक्ष उद्घाटित हुए हैं। इसी सरणि में अनागत रस भी है। जिसके उदाहरण विरल हैं, क्योंकि यह सिद्धान्त है कि रचनाकार अपने वर्तमान में होता है और वर्तमान की ही रचना करता है उसकी रचना की पृष्ठभूमि चाहे अतीत की हो, अथवा अनागत (भविष्य) की। काव्य-शास्त्रियों की परम्परा से प्राप्त नौ रस (शृंगार, वीर, करुण, भयानक, वीभत्स, हास्य, रौद्र, अद्भुत, शान्त) अतीत वर्तमान और

अनागत के ही दिक् काल के क्रिया-कलापों की भाव-सृष्टि में समाये हैं, बिना इस दिक् काल का संस्पर्श पाये उनके चक्षु उन्मीलित नहीं हो सकते, वे जीवन्त नहीं हो सकते, उदय नहीं हो सकते। डॉ० पांडे के अनुपम सूक्ति-काव्य 'भागीरथी' में भावों और रसों की यह स्थिति, जिसमें रचमान स्थिति सौन्दर्य में छलक उठती है, दिक् काल की इस अछोर सीमा में विस्तार पाती है, इसके उदाहरण पिछली संस्कृत कवि-परम्परा में वाल्मीकि, व्यास जैसे आर्ष कवियों और भतृहरि, कालिदास, बाण, श्री हर्ष, योगेश्वर, विल्वमंगल, पंडितराज जगन्नाथ आदि को छोड़कर प्राय: विरल ही दिखायी पड़ते हैं। यहाँ भागीरथी की कतिपय सूक्तियों को लेकर इस रचमान सौन्दर्य का या कि कविता की जीवन्तता का व्याख्यान किया जाता है।

भागीरथी में कुल सूक्तियों की संख्या २५४ है। रचना में विषय की दृष्टि से ये सात भागों में विभाजित हैं- १. लोक: २. काल: ३. वसन्तानल: ४. भागीरथी ५. शतदलम् ६. दक्षिणापथे जयसिंह ७. प्रत्यग्बिम्ब:। इनमें विषयों की विविधता तो है ही, वर्तमान वैज्ञानिक प्रभाव से अनुभावित परिस्थितियों के भी मार्मिक चित्र हैं, घटनाचक्र है। पांचवें भाग शतदलम् में अन्य सन्दर्भों की अपेक्षा हिमालय के सन्दर्भ के मुक्तक हैं- भूस्वर्ग:, शेषनागसर:, हिम शिखर:, हिमभुवनम्, श्वेतकर:, चिनार:, मुगलोद्यानम् , डलसरसी, चश्मसाही, वातामोद्यानम्, हिमपात:, हिमकन्दुक:, हिमच्छटा, सेवासेवनम् । हिमालय की प्रकृति और जीवन से सम्बन्ध रखते ये काव्यमुक्तक संस्कृत-काव्य की नूतन समृद्धि हैं, किसी दूसरे कवि की रचनाएँ हिमालय के ऐसे ठेठ जीवन पर नहीं हैं, कालिदास या बाण ने जो हिमालय की प्रशंसा में या वहाँ की गन्धर्वनगरी की दिव्यता में अनोखा वर्णन किया है, वह अतीत के रस में ही हमें डुबाता है, पांडे जी के मुक्तकों में वर्तमान के रस की धारा है। वैसे मुक्तकों के सारे विषय नूतन ही हैं। यदि नूतनता नहीं है तो सौन्दर्य नहीं है और नूतनता एवं सौन्दर्य के अभाव में काव्य की रचना पर प्रश्न-चिह्न लग जाता है, परन्तु इन मुक्तकों में 'दक्षिणापथे जयसिंह:' अपने भीतर नव्यता एवं गूढ़ सौन्दर्य को अन्तर्भूत कर रचा गया बहुत ही विशिष्ट मुक्तक है, जिसके अन्तर्गूढ़ सौन्दर्य की व्याख्या आगे की जाएगी । मूक्तकों के वर्णनीय विषयों का परिचय देने के बाद अब हम कतिपय विशिष्ट मुक्ताकों का अर्थ प्रत्यक्ष करेंगे और यह देखना चाहेंगे कि कवि ने अपनी उक्ति की अन्तिम विधेय क्रिया के पहले किस प्रकार भावों के पटल से रचना के विस्तार को भर दिया है जैसे वर्षा ऋतु में बादल आकाश के अवकाश में एक के ऊपर एक उमड़ते और घिरते जाते हैं, यही काव्य का रचमान सौन्दर्य है। समापिका क्रिया के पूर्व भावों की राशि ही उसे घेर लेती है भावों की अनेक उन्मीलित आँखें पाठक के संस्कारित मन को अपने गूढ़ दर्शन में लीन कर देती हैं। ऐसी ही रचना को काव्य कहते हैं। जहाँ भावों की ऐसी राशि नहीं उमड़ रही है वह केवल उक्ति मात्र है। बात का चमत्कार है।

उक्त कथन के प्रमाण में, सौन्दर्य की स्थिति कहाँ होती है, आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास के दो विपरीत उदाहरण साक्षी देते हैं, एक उदाहरण है- जो उनकी दृष्टि में उत्तम ध्वनि काव्य है- वापी स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् , छन्द का यह अन्तिम चरण उक्ति की समापिका क्रिया है, नायिका दूती से उसके कपट का रहस्य खोलती हुयी व्यंग्य कर रही है कि अवश्य तुम उस अधम नायक के पास नहीं गयी थी वापी में स्नान करने गयी थी इसीसे तुम्हारे शरीर का चन्दन, आँख के अंजन आदि छूट गये हैं। इस

उक्ति में नायक के लिए अधम पद का प्रयोग नायक और दूती के कपट को अभिव्यंजित कर रहा है, मम्मट की दृष्टि में अधम पद के प्रयोग से यह उत्तम काव्य है, सच बात यह है कि यह काव्य अधम पद के प्रयोग से बात का चमत्कार मात्र है, अधम का अर्थ नीच व्यक्ति होता है, नायक को अधम कह देने से उक्ति का सारा कथन ही व्यंग्य नहीं अभिधार्थ हो गया है, और इस उक्ति में बात के बतंगड़ के अतिरिक्त कोई सौन्दर्य नहीं है। सौन्दर्य-विहीन काव्य है। दूसरा उदाहरण है जिसको मम्मट ने कोई स्फुट अलंकार न होने से उक्ति में शृंगार रस की उपस्थिति से रसवदलंकार की कोटि में रखा है, अर्थात् उत्तम काव्य नहीं है, मध्यम कोटि का काव्य है, उदाहरण है-

य: कौमारहर: स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा
स्ते चोन्मीलित मालती सुरमय: प्रौढ़ा: कदम्बानला:।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापार लीला विधौ
रेवारोधसि वेतसीततले चेत: समुत्कण्ठते।।

कवि कहता है, चैत्र की रात्रि है, अपने प्रेमी की ही अर्धांगिनी बनी तरुणी अब उसके साथ है, चैत्र की वही रात्रियाँ हैं, फूली मालती, कदम्ब को छूकर आती मदमाती हवा सब कुछ प्रकृति का वैभव है किन्तु रेवा (नर्मदा) नदी के तट पर वेतसी के कुंज में प्रेमी के साथ सुरत व्यापार के कितने मनोरम सन्दर्भ जो बीते हैं उसे बरबस याद आते हैं चैत्र की सौरभ भरी रात्रि के उन अनगिनत सुरत-सन्दर्भों की याद कर तरुणी का मन बरबस रेवा नदी के वेतसी कुंज में उत्कंठित हो कर घूम रहा है। यहाँ इस सूक्ति में बात का चमत्कार नहीं है, सौन्दर्य की सरिता प्रवाहित है। कवि कहता है कि चैत्र की वही रात्रि है, मैं वही हूँ, मेरा प्रेमी वही है, मालती कदम्ब के फूलों का वही सौरभ है, पर मन तो नर्मदा नदी के उस तट की याद में डूबा है जहाँ मैंने प्रेमी के साथ मिलन की एकान्त रात्रियों को बिताया था। उन रात्रियों के अनगिनत मनोहर सन्दर्भ अब अन्तर्मन की भाव-सरिता बनकर प्रवाहित हैं इस भाव सरिता की धारा, और कलकल के सौन्दर्य को वासना से संस्कारित पाठक का मन अपनी अपनी अनुभूति से प्रत्यक्ष करेगा। कहा नहीं जा सकता कि 'रेवा रोधसि वेतसी तरुतले चेत: समुत्कण्ठते' वाक्य की समापिका क्रिया -समुत्कण्ठते के क्षितिज में सौन्दर्य की सरिता की धारा कितनी तेज है। यही कविता का रचमान सौन्दर्य है। और यही उत्तम काव्य की स्थिति है।

अब 'भागीरथी' के मुक्तक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनमें सौन्दर्य के चमत्कारी रचमान क्षण अपनी उपस्थिति रखते हैं। अतीत रस का उदाहरण है, शीर्षक है- कंकाल---

शाखा: शीर्णदला: सुदीर्घ विपुला भुग्नास्तथैवोर्ध्वगा:
विभ्रद् यद् विटपी नितान्त विजने गृध्रै: समासेवित: ।
तन्मन्ये पतित: सुरासुरमृधे कंकालशेषोऽधुना
एकाङ्घ्रि स्थित नष्ट पक्ष विभव: कंकाकृतिर्दानव: ।।

(पृष्ठ १०)

वन के नितान्त विजन में एक बड़ा ऊँचा वृक्ष सूख गया है पत्ते गिर पड़े हैं फैली हुई लम्बी डालों पर गिद्ध निवास करते हैं इसको देखकर कवि की दृष्टि सुदूर अतीत में गयी, उसने कहा, देव-दानवों के युद्ध में मारे गये दानव का यह ऊँचा कंकाल है, यह एक पैर पर खड़े बगुले के समान है जिसके पंख कट गये हैं।

सूखा पड़ा उँचा वृक्ष देवासुर संग्राम में मारे गये दानव के लम्बे कंकाल सा प्रतीत हो रहा है, उत्प्रेक्षा की यह नयी कल्पना है, पुनः वह कंकाल उस बगुले के समान है जो एक पैर पर खड़ा हे और उसके पंख कट गये हैं। यहाँ पर सौन्दर्य की जीवन्तता इस बात में है कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत सभी में एक समान काल के विजृम्भण का विषाद छाया है सभी अतीत की धारा में डूब रहे हैं । नवीनता यह है कि दानव का कंकाल कवि के लिए अप्रस्तुत (उपमान) बन गया है। तथा दोनों ही अप्रस्तुत दानव और बगुला हिंसा भाव का प्रतिनिधित्व करते हैं और दोनों ही काल के ग्रास हो गये हैं। विलक्षणता यह है कि फूल-फल से जीवों को तृप्त करनेवाला वृक्ष और हिंसा के भाव से भावित दानव तथा बगुला अपने कंकाल में एक समान हो गये , यह काल की महिमा है। सूक्ति में इन सभी भावों की एक साथ उपस्थिति अर्थ को चमत्कृत कर रही है।

दूसरा मुक्तक लीजिए। हाथी किसी समय राजसत्ता का प्रतीक था अब यह प्रतीक इतिहास बन गया है, इतिहास के आज वर्तमान समाज में गजराज हाथी जब विचरण करता है तब राजा की आन बान और राज सभा से शून्य यह समाज उसे ऐसा ही लगता है जैसे कि गुलिवर, लिलिपुट देश में पहुँच गया हो जहाँ सब बौने ही हैं, मुक्तक का शीर्षक है -इतिहास----

दृष्ट्वा त्वां गजराज भावशबलं चित्रीयते मानसम्
राजानः क्व गताः क्व सम्प्रति सभा यात्राश्च साडम्बराः।
दुर्भेद्यं क्व महावनं प्रतिभयं ते वा क्व कण्ठीरवाः
लोको लीलिपुटायते गुलिवरो जातोऽसिऽमन्ये परः।।

(पृष्ठ २८)

हे गजराज! तुम्हें विचरण करता देखकर राजा की सत्ता, राजोत्सव की यात्रा में तुम्हारा साजवैभव और राजसभा की याद आती है, तब विविध भावों से मन भर जाता है कि तुम जिसके प्रतीक हो वह राजसत्ता कहाँ चली गयी, राजकुल रूपी दुर्भेद्य महावन, शत्रुओं के प्रतीक सिंह की आकाश को गुँजा देनेवाली गर्जना, आज इन सबसे शून्य है तुम्हारी राजभूमि, तुम यहाँ पर विचरण करते ऐसे लग रहे हो जैसे लिलिपुट देश में (बौनों की भूमि में) गुलिवर। तुम्हारे लिए तुम्हारी राजभूमि बौनी हो गयी, तुम्हारे विचरण के योग्य नहीं रही है। काल ने तुमको इतिहास बना दिया है।

इतिहास, बीते हुए काल के चमकते और असंभावित घटनाओं को चरितार्थ करते क्रियाकलापों की चौंकाती स्मृति रह जाता है। कवि ने इस उक्ति में गुलिवर और लीलिपुट देश का उपमान रखा है जो संस्कृत काव्य के लिए नयी कल्पना (अप्रस्तुत रूप विधान) हैं। इतिहास की घटनाओं की चौंकाती स्मृति इसका रचमान सौन्दर्य है जो हाथी के निर्वासित जीवन के अभाव से उद्भूत हो रहा है।

इतिहास शीर्षक से एक दूसरा महत्त्वपूर्ण मुक्तक है, जिसकी रचना संयोग-वश कवि द्वारा तब हुई जब उसके अन्तर्मन में कवि होमर का वारुणीकृष्ण (भूमध्य सागर) गरजता और शान्त होता समाया था, जिसके फलस्वरूप कवि ने काल के संक्रमण को स्वप्न की संज्ञा दी है। एक अमिट रेखावाले इतिहास की नहीं-

पोतानां प्लवनेन कृष्णजलधिः क्षुब्धो न चिह्नं कितः
रेखा फेन सितो र्मिराजिरचिता उद्यन्ति शाम्यन्त्यपि।

आशा दीप विमोहिता प्रतियुगं सार्थावलिर्लुप्यते
स्मृत्यालेखित चित्रवीथि सदृशाः स्वप्नोपमा वासराः।।

(पृष्ठ २०)

इस उक्ति का सीधा अर्थ है- यह कृष्ण समुद्र-वारुणीकृष्ण भूमध्यसागर जहाजों के आने जाने से कभी क्षुब्ध नहीं हुआ, न उनके आने के चिह्न उस पर अंकित हुए, जल की उत्ताल तरंगों से उठती फेन की उजली रेखाएँ प्रकट होती हैं और विलीन हो जाती हैं। प्रतियुग में आशा के दीप की ओर देखते सार्थवाह पोत आते-जाते रहे और दिशाओं में छिपते गये। स्मृति में रेखांकित जैसे चित्र की वीथी हो ऐसे ही इस सागर के ऊपर दिन का उदय हुआ, सागर ने स्वप्न के समान उसे देखा और स्वप्न के समान उसे भुलाता भी रहा। सागर पर दिन का कोई प्रभाव नहीं है।

उक्त अर्थ से वांछित कवि की अभिव्यंजना कुछ इस प्रकार है- मनुष्य का अपना स्वभाव ही समुद्र है, उसके वर्षों का इतिहास पोत है जो उसके स्वभाव के समुद्र में तैर रहा है, उज्ज्वल फेन की कतारों की रेखाएँ जो उदय होती और मिटती रहती है। कर्म के पोत से आविर्भूत साम्राज्य आदि संस्था है, जो सृष्टि के समान ही मानव के गहन स्वभाव के समुद्र में बनती है नष्ट होती हैं, प्रत्येक युग की कल्पना उसकी आशाएँ, राजा धर्माचार्य आदि आते और लुप्त होते रहते हैं। सूर्य द्वारा लाया गया प्रभात और दिन, जो कर्म में नियुक्त कर देता है, स्मृति की रेखाओं में अंकित चित्र की बीथी जैसा, स्वप्न जैसा ओझल होता रहता है।

इन दोनों अर्थों की धूप छाँही रचनमानता में इस सूक्ति का अपना नूतन सौन्दर्य है।

किन्तु इस सूक्ति-मुक्तक पर एक टिप्पणी अपेक्षित है। कवि की दृष्टि में रचमान क्षण में भूमध्य सागर-होमर का कृष्णवारुणी समुद्र तरंगित हो रहा है इसलिए वह इतिहास को स्वप्नोपम देख रहा है और स्मृति के रेखा-चित्र कह रहे हैं यदि इसकी जगह भारत महासागर उसकी रचमान दृष्टि में होता तो वह इतिहास को स्वप्नोपम न कहता। कवि भारत के इतिहास का वेत्ता और चिन्तक है, पर जब वह रचना कर रहा है तब वह होमर के वारुणीकृष्ण सागर में खो गया है। इसलिए काव्योक्ति की दिशा बदल गयी।

भारत सागर के तट पर जो मानव जाति रही है उसने जो इतिहास बनाया पुराण, रामायण और महाभारत-वह मानव जीवन के लिए अमृत की धारा है, संजीवनी है, न तो स्वप्न है न स्मृति की रेखाएँ। यह भी काल का सिद्धान्त है कि जिसने अन्न की खेती की, और 'अन्नं वै ब्रह्म' का जो भोक्ता है, इतिहास उसका ही है, वही इतिहास भी लिखता है। इतिहास काल की वाणी है, वह स्वप्न कैसे होगी।

इतिहास, काव्य-रचना और रचमान क्षण में कवि के अन्तर्मन में संस्कारित भूमध्य सागर- इस मुक्तक का सत्य है तथा द्विधा दृष्टि एवं रचना-क्षण की सन्धि से उद्भूत इसका काव्य-सौन्दर्य इतिहास के उदयाचल पर छा रहा है।

अब दूसरा मुक्तक देखिए, जहाँ स्वप्न नहीं है, न ही स्मृति में लीन हो जानेवाली चित्र रेखाएँ, इतिहास और उसके पूर्व पुराण में एक समान रंगीन रेखा में जहाँ मन का अमिट सत्य स्थित है और उसके भाव-क्रियाओं में नित्य नवीन होता सौन्दर्य वृन्दावन की अलख जगाता रहता है-

राधामाधवयोर्न रूपमधुना पश्यन्ति यत्प्राकृताः
तन्मोहैक निबन्धनं न मनुजे देवावतारः स्फुटः।
प्रीत्येकाञ्जनमाहितं नयनयोर्येषां तु तेषां हृदि
काल श्यामनदी तटे विजयते वृन्दावनं शाश्वतम्।।

(पृष्ठ १३१)

(पन्द्रहवीं शती में महाप्रभु चैतन्य देव भगवान् कृष्ण के लीला धाम वृन्दावन की खोज करने के लिए वंगदेश से चलकर मथुरा पहुँचे और वहाँ मुसलिम आक्रमण से वृन्दावन को उजाड़ देखकर दुःखी हुए। उस समय उन्होंने जो उद्गार व्यक्त किये, कवि ने अपने पाँच मुक्तकों में उसका निबन्धन किया, जिनमें एक मुक्तक यह है।

अर्थात् आज के प्राकृत (खाना-सोना ही जिनका जीवन हो ऐसे) जन राधा और कृष्ण के उस रूप को कहाँ देख सकते हैं। वे जीवन के दुःख सुख के मोह में डूबे हैं, बँधे हैं, उनकी समझ में मनुष्य के रूप में देवता का अवतार नहीं हो सकता। किन्तु जिनकी दोनों आँखें प्रीति के आंजन से रंजित हैं, उनके हृदय में काल रूपी श्याम नदी (तरुणाई, श्याम = श्यामलता, सौन्दर्य की नीलिमा) के तट पर शाश्वत वृन्दावन विद्योतित होता है।

कवि ने 'कालश्याम-नदीतटे' पद का भाव-गर्भित प्रयोग किंया है। इसके दो अर्थ किये जाने चाहिए-

काल रूपी (या तत्पुरुष समास में, काल की) तमिस्रा नदी का तट, जिस पर वृन्दावन के राधाकृष्ण का ध्यान हृदय (आत्मा) को शान्ति प्रदान करता है। अथवा दूसरा अर्थ है- काल की श्याम नदी का तट, यहाँ श्याम का अर्थ है- सघन सौन्दर्य की नीलिमा। सौन्दर्य की अत्यन्त सघनता ही श्यामता में बदल जाती है। इसलिए राम या कृष्ण का रूप रंग श्याम है, गौर नहीं है। सौन्दर्य-दृष्टि के पंडित वैष्णवों की यह मान्यता है। जब श्याम का अर्थ सौन्दर्य की सघनता करेंगे तब समग्र अर्थ होगा- काल के सघन सौन्दर्य की जो नदी प्रवाहित है उसके तट पर सौन्दर्य जहाँ मूर्तिमान् प्रत्यक्ष अवतरित हुआ वह शाश्वत वृन्दावन सदा सब के हृदय में चमकता रहे। श्याम का सलोने या सौन्दर्यमान के अर्थ में प्रयोग वैष्णव भक्ति के साथ संस्कृत से हिन्दी भाषा में भी अवतरित हुआ, लोक बोली का प्रयोग है- साँवरो श्याम, अथवा साँवर गोरिया + सौन्दर्य से भरे कृष्ण, सौन्दर्यमती गोरी तरुणी।

इस प्रकार छन्द का चौथा चरण- काल श्याम नदी-तटे विजयते वृन्दावनं शाश्वतम्, अत्यन्त प्राणवान् भाषा से युक्त है और उसमें भावों का अतल समुद्र अपने आप सिमट गया है। 'शाश्वतम्' पद से इस सूक्ति के भाव-व्यापार (भाव प्रक्रिया) में इतिहास और पुराण की, किसी अर्थ में कुछ-कुछ पुरातत्त्व की, जीवन के सारभूत सत्य की लम्बी परम्परा चमक उठती है। यह शाश्वत वृन्दावन अपनी पुराण परम्परा से श्रीमद्भागवत महापुराण में, विल्वमंगल के श्रीकृष्णकर्णामृत में, जयदेव के गीत गोविन्द में, मध्यकाल के सूक्तिकार कवियों के मुक्तकों में तथा हिन्दी के रीतिकालीन बिहारी, देव प्रभृति कवियों की रीति-कविता में इतिहास और जीवन का सत्य बन कर समाया है। वृन्दावन और उसमें विचरण करनेवाले राधा एवं कृष्ण अनुराग-सृष्टि के विलक्षण विश्व हैं। इस विश्व में, यदि पुराण काल को छोड़ दें तो आठवीं शती से संस्कृत, प्राकृत के कवि अनुराग की विविध रचनाएँ करते रहे हैं और उनकी अनुराग-दृष्टि में राधा, गोपी, वृन्दावन, चरवाहों का वन, मोरपंख का मुकुट लगाये वंशी बजाते लीला पुरुष भगवान् कृष्ण और उनकी क्रीड़ा-भूमि की अनेक सौन्दर्य-सृष्टि होती रही हैं, उन

कवियों की अन्तर्दृष्टि प्रीति के आँजन से रंजित थी, नर-देह में सौन्दर्य के इस अवतार को उन्होंने सच-सच कर देखा था। इतने सारे सन्दर्भ इस मुक्तक में अन्तर्हित हैं, इसीलिए कवि के हृदय से यह प्रकृत वाणी फूट पड़ती है- काल श्याम-नदीतटे विजयते वृन्दावनं शाश्वतम्।

ग्रीष्म ऋतु के वर्णन का एक अन्य मुक्तक भी गहरे ताप से तप्त जगत् को शान्ति देने के लिए पीताम्बरधारी सघन नील-शोभा गोप कृष्ण की स्तुति करता है-

नीताऽन्यापि निशा शिला गुरु रहस् तिग्मांशु शूल्यं पुनः
प्रत्यूषेऽपि न गन्धवाहपदवी लक्ष्या दलैः शाखिनाम्।
कक्ष्ये ताप-निरोध-यन्त्र-सुखिते कालः कथं नीयतां
विद्युत्कान्त-बलाहक-प्रभममुं गोपं स्मरामो न यत्।।

(पृष्ठ ८०)

इस मुक्तक के तीन पक्ष हैं- (१) ग्रीष्म ऋतु के ताप और उमस का स्वाभाविक वर्णन है- रात्रि शिला (चट्टान) के समान एक-एक कर बीतती हैं, पुनः दिन आता है जिसमें तीक्ष्ण किरणें शूल बरसाती हैं। सवेरा होने पर वृक्ष के पत्ते भी नहीं हिलते, न कहीं से हवा चलती प्रतीत होती है।(२) विज्ञान का युग है, वातानुकूलित कक्ष में हम स्थित जरूर हैं लेकिन यह ताप का समय बीत नहीं सकता। (३) यदि हम चमकती बिजली की चमक से शोभित सघन नील शोभावाले (पीताम्बरधारी) गोप (पानी बरस कर गो = पृथ्वी को जीवन देनेवाले मेघ, या कि गो = गाय के चरवाहा कृष्ण) का स्मरण नहीं करते, उनकी स्तुति नहीं करते।

भाव यह है कि बिना आषाढ़ के बादलों के पानी बरसे वातानुकूलित वैज्ञानिक कक्ष पूर्ण विश्रान्ति नहीं दे सकता, प्रकृति का उत्तर प्रकृति ही दे सकती है। काव्य की दृष्टि से ग्रीष्म के ताप का वर्णन और सघननील बादलों को लेकर आते आषाढ़ श्रावण की सुषमा- ये दो रचमान सौन्दर्य अभीष्ट हैं। पर कवि की अन्तर्दृष्टि इसमें जगत् के जीवन के ताप में और उस ताप को निवारण करनेवाले बलाहक कान्ति कृष्ण के स्मरण में डूब जाती है जिसके कारण प्रकृति के सौन्दर्य के ऊपर अध्यात्म की यह भाव-सुषमा छा जाती है। ग्रीष्म के तपन से पीड़ित जन आषाढ़ के बादल की प्रतीक्षा ही करते हैं, कवि ग्रीष्म के ताप के साथ जीवन के ताप में तप्त होने लगा और उसके हृदय में आषाढ़ के बादल गोप-भगवान् कृष्ण के रूप में अवतरित हो गये-

विद्युत्कान्त बलाहक प्रभ ममुं गोपं स्मरामो न यत्।।

भागीरथी खंड में भागीरथी और सागर पर १३-१३ मुक्तक हैं। इन दोनों शीर्षकों के मुक्तक इस रचना से तथा रचनाकार कवि से विशेष सम्बद्ध हैं। त्रिपथगा शीर्षक से रचित नीचे के दो मुक्तक एक ओर तो गंगा की महिमा का बखान करते हैं और दूसरी ओर उसी के समान इस काव्य-रचना के अजर और पवित्र होने का उद्घोष करते हैं-

वैशाखे तवधारा धूसरवर्णा कृशा सुखस्पर्शा।
वसुधारा पुण्यानां वहसि स्मृतिरिव सदा मातुः।।

(पृ० १०६)

दिवि तारकगणनेत्री भुव्यपि कीर्तिस्तथैव ते विदिता।
आश्विनसौम्या धारा ज्योतिः सत्रं नु विदधाति।।

(पृष्ठ १०७)

हे त्रिपथगे गंगे! वैशाख (वसन्त ऋतु) में तुम्हारी जलधारा कुछ धूसर, क्षीण और सुख से स्पर्श योग्य या सुख का स्पर्श देनेवाली होती है। तुम पुण्यों की वसुधारा हो, माता की स्मृति हो। तुम आकाश में तारक गणों की अग्रणी हो, पृथिवी पर भी तुम्हारी कीर्ति वैसी ही श्रेष्ठ है, आश्विन (कुआर, वर्ष के मध्य के) मास में (शरद् ऋतु में) तुम्हारी धारा सौम्य (स्वच्छ, उज्ज्वल) होकर ज्योतिष्टोम यज्ञ का विधान करती है।

प्रत्यक्ष में कवि गंगा की सहज पवित्रता और उससे फूटनेवाले उज्ज्वल प्रकाश का वर्णन कर रहा है। कदाचित् इसी शरद् ऋतु में ज्योतिष्टोम यज्ञ का आयोजन भी होता रहा होगा। लेकिन परोक्ष में कवि का अन्तर्मन अपनी इस कृति 'भागीरथी' का ही बखान कर रहा है-

(i) वसन्तु ऋतु (वैशाख मास) इस भागीरथी की रचना का आरम्भ है। धूसर पतले अक्षरों में रचमान यह कृति सुख का अनुभव करा रही है। इस काव्य (वसु) धारा ने मेरे पुण्यों से जन्म पाया है। माता के स्नेह की स्मृति जैसा आह्लाद इस रचना से फूट रहा है।

(ii) संस्कृत के मुक्तक रचनाकार जो कवि अब दिवलोक में है उनकी कृतियों में यह भागीरथी अग्रणी (नेत्री) है। इस भारतभूमि में इसकी कीर्ति उसी प्रकार विस्तार पाएगी। आश्विन मास, जो न वर्ष का आदि है न अन्त है, मध्य है अर्थात् वर्तमान है (अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत अव्यक्तनिधनान्येव) उस वर्तमान में इसका स्वच्छ रचमान स्वरूप अर्थ के तेज प्रकाश से सहृदयों को अभिभूत करेगा।

भागीरथी पर रचे मुक्तक कहीं न कहीं अन्तर्हृदय से कवि के स्व के स्वाभिमान की अभिव्यक्ति करते हैं।

कालिदास ने 'रघुवंश' महाकाव्य के तेरहवें सर्ग में १३ छन्दों में समुद्र का वर्णन किया है। उस वर्णन के विषय-वस्तु प्रकृति सौन्दर्य, प्रकृति विज्ञान से अतिरिक्त पुराण और सांख्य-दर्शन से सम्बन्ध रखते हैं और कालिदास की वाणी में वह इतना सुषमा-युक्त हो गया है जिसका पूरा व्याख्यान नहीं किया जा सकता है। कवि पांडे ने भी अपने इस काव्य-मुक्तक में १३ छन्दों में समुद्र का वर्णन किया है, उन्होंने मुक्तकों की यह रचना पुरी में सागर का दर्शन करते हुए की है। इन मुक्तकों में भी प्रकृति का सौन्दर्य और प्रकृति का विज्ञान तो है ही, उससे अतिरिक्त इनमें है सौन्दर्य का चिन्तन, भक्ति की अनुभूति और बौद्ध दर्शन का माहात्म्य। कालिदास के वर्णन की तुलना में इसका बहुत बड़ा अभाव का पक्ष यह है कि कालिदास का वर्णन आती हुई कथा के सन्दर्भ में है और राम अपनी रानी चिर-उत्कण्ठित सीता से समुद्र के सौन्दर्य तथा माहात्म्य का गुण-गान कर रहे हैं, वक्ता और श्रोता के इस संयोग ने उस वर्णन को बहुत प्राणवन्त बना दिया है। पांडे जी का वर्णन अपनी दूसरी विशेषता रखता है जिसमें बुद्धि की चिन्तनधारा और हृदय की भावधारा दोनों का संगम है, यह संगम ही इस वर्णन का चमत्कार है। प्रत्येक मुक्तक की रचना का अपना सौन्दर्य है। सौन्दर्य क्या है? इसकी अनोखी व्याख्या इस उद्धत मुक्तक में होती है-

९

चिरं समालोकनतोऽपि नेत्रयो-
र्न खेदमापदयतेऽम्भसां निधिः।
प्रतिक्षणं भूतनतामुपैति यद्
दुराप सौन्दर्य गवेषणे रतः।।

(पृ० १११)

अर्थात् समुद्र की लहरें क्षण-क्षण में तरंगित हो रही है, एक पर एक लहर आती जा रही है। यह अजस्र तरंग-व्यापार प्रत्येक क्षण में नया से नया दिखायी पड़ता है, तरंगों के इस अजस्र व्यापार में नूतनता के भीतर से जो सौन्दर्य झाँक रहा है, यह समुद्र मानो गरजता हुआ उस दुष्प्राप्य सौन्दर्य की खोज में निमग्न है और उसका गर्जन निरन्तर जारी है। प्रत्येक क्षण की नूतनता के कारण समुद्र उस सौन्दर्य की समग्रता के दर्शन से वंचित है, समुद्र जान नहीं पा रहा है कि तरंगों की नूतनता ही सौन्दर्य है या सौन्दर्य इनसे अलग स्थित है। सच बात यह है कि प्रत्येक क्षण की नूतनता ही सौन्दर्य है। कवि की आँखें टकटकी बाँधकर देर से इस सौन्दर्य की क्षण-क्षण की नूतनता को देख रही हैं और जल-सागर का यह सौन्दर्य-अनुसन्धान अपने दर्शन से उसकी आँखों को थकने नहीं देता।

प्रत्येक क्षण में जो नया ही दिखायी पड़े वही सौन्दर्य है- प्रतिक्षणं नूतनतामुपैति यद् दुराप सौन्दर्यं तत्।

कवि माघ ने भी अपने शिशुपाल वध काव्य (४/१०) में सौन्दर्य की यही परिभाषा की है- क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। किन्तु पाण्डे जी की उक्ति में सौन्दर्य-दर्शन में निमग्न अजस्र आकुलता का ही चमत्कार है। सौन्दर्य के प्रत्यक्ष दर्शन का क्षण आगे है, जो आगे ही रहेगा, उसके प्रत्येक क्षण की नूतनता की कड़ी कहाँ टूटेगी?

जगत् की सृष्टि आग और पानी से हुई है- अग्निषोममयं जगत् तथा न्याय दर्शन के अनुसार सृष्टि के नौ द्रव्यों में एक द्रव्य जल है, तो क्या यह जल केवल पृथिवी पर ही है, या ब्रह्माण्ड के अन्य तारालोकों में भी। कवि पाण्डे ने अपनी एक सूक्ति में, जिसमें जलनिधि-सागर के आविर्भूत होने का वर्णन है, एक प्रश्न द्वारा अन्य नक्षत्रलोकों में सागर के अस्तित्व पर सन्देह व्यक्त किया है-

उपादत्ते धाता किमपि रचयन् विश्वमखिलं
ततः सृष्टोच्छिष्टं सदसदिति भेदाद् विरहितम्।
निराकारं तत्त्वं समजनि धरासंहतिकरं
स एव प्रत्यक्षो विभृतचलमूर्तिर्जलनिधिः।।

(पृष्ठ १०९)

विश्व की सृष्टि करते हुए विधाता ने कुछ उपादान ग्रहण किये थे, उस सृष्टि के अनन्तर बचा हुआ जो कुछ रहा उसको न सत् न असत् कहा जा सकता है(नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्) वही निराकार तत्त्व धरा (पृथिवी) के साकार तत्त्वों को जोड़नेवाला सिद्ध हो गया और जब प्रत्यक्ष होकर सामने आया तब निरंतर तरंगें भरता हुआ जलनिधि सागर है।

इसलिए जहाँ धरा है (धरासंहतिकरम्) वहीं जलनिधि है। ब्रह्माण्ड के अन्य तारालोकों में कतिपय तत्त्वचिंतकों ने नौ द्रव्यों में से मन, दिक् और काल का अभाव होने की आशंका प्रकट की है। जल या जलनिधि का भी अभाव हो सकता है। मुक्तक में विधाता की रचना का विवरण है और यह रचना कवि की रचना और उसकी आशंका की मनोहारी सुषमा है। बुद्धि और हृदय दोनों इससे आह्लादित हैं।

संसार के दुःख से दुःखी बुद्ध के चिन्तन, दर्शन को लेकर एक गम्भीर और विनोदपूर्ण उक्ति कवि ने सागर के सन्दर्भ से निबद्ध की है-

कियन्त्यश्रूण्यस्मिन् समगसत वेति प्रविचयं
कथङ्कारं कुर्याद् त्रिभुवन ऋते को जिनवरात्।
तथाप्येकास्वादो निचित हृदयार्तिर्जलनिधिः।
कथं नान्तर्वेद्यां प्रकटयतु तां व्याकुल तनुः।।

(पृष्ठ ११३)

समुद्र का जल खारा है। इसका जो भी कारण हो। कवि का मानना है कि जगत् की न जाने कितनी वेदनाओं के आँसू इस समुद्र में आकर मिल गये हैं। उनकी गिनती इस त्रिभुवन में करुणावतार बुद्ध से अतिरिक्त दूसरा कौन कर सकता है क्योंकि संसार के दुःखों की चिन्ता उन्होंने ही की है और समुद्र तो खारे पानी का एक ही स्वाद हृदय में सँजोए हुए अपनी भीतर ही भीतर की मर्मान्तक व्यथा को प्रकट कर रहा है।

संसार की रचना, जल से मिट्टी की उत्पत्ति, समुद्र, गन्ध आदि विषयों पर न्यायशास्त्र और बौद्ध दर्शन का अनुगमन करनेवाली सूक्तिया, भट्टि, श्रीहर्ष आदि मध्यकाल के प्रसिद्ध कवियों के शास्त्र-काव्य की कोटि में आती हैं तो भी कवि पाण्डे ने उनकी रचना में कोरे शास्त्र को काव्य की सुषमा से रंजित कर दिया है, रचमान काव्य की महिमा को कम नहीं होने दिया है। इस प्रसंग में इन सन्दर्भों और शीर्षकों के मुक्तकों को देखना चाहिए।

एक मुक्तक है- अरविन्दम्। इसमें कवि के रचमान भाव ने पवन, जल और मिट्टी की सृष्टि को कमल-गन्ध की उपसृष्टि में बदल दिया है। मुक्तक का यह शीर्षक कवि वहाँ से लेता है जहाँ अनोखे भाव-व्यापार में यह उपसृष्टि रची जा रही है-

गन्धं यस्य वहन् मदेन पवनो नृत्यन्मयूरायते
स्पर्शासङ्गरंगिता रविसुता शेषच्छटामास्थिता।
स्वादाद् यस्य सुधाप्यनादरपदे गोपाङ्गनाभिर्धृता
तद् गोविन्द पदारविन्ददलितं वृन्दावनीयं रजः।।

(पृष्ठ १२६)

अर्थात् यह वृन्दावन की धूल है जिसको गोविन्द कृष्ण के चरण-कमल (अरविन्द) ने चल-चलकर, खेलकूद कर, लोट-पोट कर खूब दलित किया है रौंद दिया है। उनके चरणारविन्द से दलित होने के कारण अरविन्द की सारी सुगन्ध धूल में समा गयी है, धूल से उड़कर हवा में मिल गयी है, यमुना की जलधारा से टकरा रही है।

पवन उस गन्ध को पाकर मत्त होकर मयूर का नृत्त कर रहा है। यमुना नदी अपने जल में उस गन्ध को पाकर वेग से तरंगित होकर तरंगों में शेषनाग की छटा धारण करती हैं। कृष्ण के चरणारविन्द का स्पर्श पायी उस धूल को गोपियों ने बड़े आदर से चखा, और उस सुधा का अनादर कर दूर करने को कहा, जिसका पान कर देवगण अमरत्व पाते हैं। कृष्ण के चरणारविन्द की सुगन्ध से सुवासित धूल ने एक साथ अमृत और सौन्दर्य से वृन्दावन को भर दिया है, और कृष्ण के इस चरण-अरविन्द की रचना कवि पाण्डे का यह मुक्तक करता है।

हिमालय पर लिखे गये मुक्तकों में अधिकांश वर्तमान से सम्बन्ध रखते हैं, कवि द्वारा निज के बिताये गये दिनों की स्मृतियाँ भी हैं, हिमालय की ऊँचाई और उसकी एक सहज महान् महिमा को भी कवि ने वाणी में व्यक्त करना चाहा है। वर्तमान पर दृष्टिपात करते हुए कवि ने वहाँ के अधिकांश जनों के पीड़ित एवं दीन-हीन जीवन की ओर लक्ष्य कर मुक्तक का 'भू स्वर्गः' शीर्षक दिया है और ऐसा शीर्षक देते हुए अपने को भी उनकी गहन पीड़ा का भागी बनाया है-

प्रावारानौर्णधूम्रान् दधति बहुविधान् मस्तके वेष्टनानि
शीतारक्ताः कपोले, स्वतनुमुपहिताः कण्डिकाः सेवमानाः।
आस्ये हास्यं दधाना हृदयनयनगामार्तिमावेदयन्तो
भूस्वर्गेऽप्यत्र देशे ऽ ऽकृतिसुषमिते हन्त दारिद्र्यदीनाः।।

(पृ० १३९)

हिमालय का पर्यावरण विज्ञान की सहायता से मनुष्य नष्ट करता जा रहा है। कवि कहता है कि पत्थर और काष्ठ के लोभियों ने शस्त्र-उपकरणों से हिमालय के गिरिखंड को तोड़-तोड़ कर विकृत रूप और रंगों में बदल दिया है। लगता है कि मनुष्य के इस लोभ को देख कर उसको सन्तुष्ट करने के लिए यह गिरिखंड क्षमा और दान की पारमिता की साधना में लगा है। मनुष्य मनमाना उसके विभव को लूट रहा है, पुराण के राजा शिबि इसके दान की बराबरी क्या करेंगे जो पक्षी की तौल के बराबर अपना मांस दान कर यशस्वी कहे जाते हैं-

आर्द्रं वीक्ष्य शिलोच्चयं शिति-सितं पालाशवर्णं क्वचित्
शस्त्रच्छेद कृत व्रणाङ्किततनुं पाषाण काष्ठार्थिभिः।
मन्ये पारमितास्ति तस्य सहजा ध्याने क्षमा दानयोः
क्वौपम्यं ननु लभ्यतां क्व मितदो राजा वराकः शिबिः।।

(पृ० १६९)

इसको पढ़ते हुए कालिदास के 'कुमार सम्भव' का पहला छन्द याद आ जाता है कि हिमालय देवता है पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य पृथिवी का मानदण्ड बनकर स्थित है। कालिदास के अनन्तर बीसवीं शती में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि रामधारी सिंह दिनकर की 'हिमालय' शीर्षक कविता भी सामने है जिसमें उन्होंने 'मेरे हिमगिरि मेरे विशाल' के प्रति गंगा-यमुना की अमृतधारा के लिए कृतज्ञता जतायी थी, अब प्रजातंत्र राज्य है, मनुष्य के पीछे उसका छद्म मित्र विज्ञान खड़ा है, उसकी सहायता से मनुष्य विशाल हिमगिरि के अस्तित्व पर आक्रामक हो गया है। उसके अंग काट रहा है उसकी अमृतधारा में जहर घोल रहा है। उसके हरीतिमा से भरे वन को उजाड़ रहा है, पर हिमालय गगन को चूम रहा है। अत्यन्त विशाल है, मनुष्य की इस करतूत को वह अपनी परीक्षा की घड़ी

समझता है और हमारा यह कवि पर्यावरण से उजड़ते महान् हिमालय को पारमिता की सिद्धि में बैठे बुद्धावतार को देख रहा है, वह बौद्ध दर्शन का पण्डित है। इस मुक्तक की व्याख्या में अन्तर्दृष्टि काव्य के ऐसे रचमान सौन्दर्य में डूब जाती है।

हिमालय महिमामय है विशाल है उससे शान्ति की किरणें फूटी पड़ रही हैं- इन भावों की अभिव्यक्ति देने वाले दूसरे मुक्तक भी है-

श्रान्ति तत्र विधूय शान्तिमभितो ध्यायत्यभीक्ष्णंयतो
दूरादेव विभाति धूमिल गिरिश्रेणीनभः-सङ्गमः।।

(पृष्ठ १६६)

हिमालय गगन को चूम रहा है तथा वह हमारे लिए परम साध्य भूमा का प्रत्यक्ष दर्शन है-

जाता एव महा प्रयाण पदवी-लाभेन ये यात्रिण-
स्तेषां नोऽत्र चकास्ति साध्य परमो भूमा पुरो मूर्तिमान्।।

हिमपात का स्वाभाविक वर्णन कवि ने किया है-

धुनी हुई रूई की राशि चारों ओर बिछी मालूम पड़ती है। इस सफेद बर्फ ने दिशाएँ ढक ली हैं। वृक्षों और गृहों के शिखर पर सफेद ऊन छाया है तथा भूतल पर अत्यन्त गाढ़ा कोमल गलीचा बिछ गया है-

विशकलित विलोल स्फार तूलाभ राशिः
प्रसरति हिमपातः श्वेतयन् दिक्कदम्बम्।
तरु गृह शिखराणि प्रोर्णुवन् दिव्यकान्त्या
सघनमृदुकुथं वा भूतले संवितन्वन्।।

(पृष्ठ १५४)

कवि ने वितस्ता नदी का वर्णन किया है जिसके दोनों तटों पर लकड़ी के बने ऊँचे घर हैं। आने जाने के सात पुल हैं। नीचे मटमैला पानी बह रहा है, जिसमें नावें चलती है। पर जिसके तट पर अनोखी दूसरी नदियों की धारा प्रवाहित है। प्रभाव और भाव का वितस्ता नदी का यह संगम कवि की काव्य-रचना का आकर्षण है-

दृष्टास्माभिर्वितस्ता यदुभतटयो र्दारुजास्तुङ्गगेहाः
या तार्या सप्तसेतु र्मलिनजलवहा धूसराकीर्ण नौका।
लक्ष्या हासोत्तरङ्गाः सरसिजवदना मीननेत्राश्च यत्र
गौर्यो नार्यः स्थलेऽपि द्युतिमयसरितः सम्भ्रमं चावहन्ति।।

(पृष्ठ १३६)

अर्थात् वितस्ता नदी तो मटमैले पानी से धूसरित है पर उसके तट पर गोरी तरुणियाँ अपने सौन्दर्य नदी की चमकती धारा प्रवाहित किये हैं जिसमें उनके हास की ऊँची तरंगे उठ रही हैं। मुख कमल प्रफुल्लित हैं और सौन्दर्य नदी की धारा में रह-रह कर मछली-सी आँखें नाचती रहती हैं। इस वक्र कथन से सौन्दर्य और भी मनोहर हो गया है। यहाँ पर कवि को दूसरी सौन्दर्य-नदी का वर्णन ही इष्ट है, वही प्रस्तुत है, लेकिन उसने उसको रूपक से युक्त व्यतिरेक अलंकार का अप्रस्तुत बना कर अधिक चमत्कृत कर दिया है।

अब मैं कवि की एक प्रार्थना उद्धृत करता हूँ जो हिमालय पर लिखे गये मुक्तकों से अलग है पर उसे भी हिमालय वर्णन के सन्दर्भ में लेता हूँ क्योंकि उसमें हिमाद्रि देवद्रुम राजियों का उल्लेख है– प्रार्थना के पद अत्यन्त गूढ़ हैं और यह गूढ़ार्थ हमें आकृष्ट करता है–

प्रकाश रेखा इषवो विमुक्ताः

हिमाद्रि देवद्रुम राजयस्ताः।

हंसावली मानसमुत्पतन्ती

यथा, तथा मे प्रगुणामतिः स्यात्।।

(पृष्ठ २१७)

अर्थात् प्रकाश की रेखा, छोड़े हुए बाण, हिमालय की ऊँचे उठती देवदारु वृक्षों की कतारें तथा मानसरोवर की ओर उड़ती हँसों की पंक्ति– जैसे सीधी रेखा में अपने लक्ष्य की ओर जाते हैं वैसे ही इस गतिमानता से युक्त होकर मेरी मति अपना लक्ष्य प्राप्त करे।

कवि की यह प्रार्थना मालोपमा में है और समुच्चय अलंकार से युक्त है। सरस्वती उत्तार्थ में इसकी व्याख्या इस प्रकार से की जायगी– प्रकाश के समान सब कुछ प्रत्यक्ष कर लेने की क्षमता हो, बाण के समान ठीक लक्ष्य पर ही दृष्टि हो, देवदारु जैसा कल्पना का विस्तार हो पर जब तक हंसावली के रागानुराग का संस्पर्श कवि–मति से नहीं होता तब तक कवि की प्रतिभा प्राणवान् नहीं हो सकती। सरस्वती–उत्तार्थ भारतीय समीक्षकों की आलोचना–दृष्टि है जिसका भाव है कि विशिष्ट अर्थ को प्रकट करने के लिए जहाँ सरस्वती स्वयं काव्य का अर्थ कहने लगती हैं। केशवदास की रामचन्द्रिका के कई छन्दों में सरस्वती उत्तार्थ का रहस्य टीकाकार जानकीदास ने प्रकट किया है। ऐसे उदाहरण कालिदास, श्रीहर्ष या कि तुलसीदास में भी पाये जाते हैं। भागीरथी में भी इसके उदाहरण हैं।

अब इस काव्य–ग्रन्थ की एक रहस्यात्मक सूक्ति उद्धृत कर अपना लेख समाप्त करता हूँ। भागीरथी के छठे खंड की पहली सूक्ति है– दक्षिणापथे जयसिंहः

कस्याप्यसंस्तुतचरस्य सकण्टकस्य
पुष्पस्य मन्दकटुकः समगंस्त गन्धः।
छायान्वपाति मनसि स्मृति सञ्चयेन
नीडोद्भवैरिव वियत्स्फुरितै र्विलुप्तैः।।१

वीक्षे दशावभिजनस्मृतिनिर्निमेषे
पादौ च दूरविषये बलनायकस्य।
चित्रार्पितक्षण इव प्रतिभाति कश्चिद्
दिल्लीश्वर प्रथम सैनिक दिग्जयस्य।।२

इस सूक्ति का सामान्य अर्थ है– मिर्जा राजा जयसिंह दिल्लीश्वर मुगल बादशाह के प्रधान सेनानायक हैं, वे दक्षिण भारत की विजय–यात्रा में हैं। दक्षिणापथ में कहीं अकस्मात् उनको काँटेदार फूल (फोग जिसका नाम है)

की तेज कटु कसैली गन्ध ने घेर लिया, उन्होंने आँखें उठायीं और उस काँटेदार फूल को देखा। जैसे ही देखा वैसे ही ढेर सारी स्मृतियाँ उनके मन के अन्तराल में वैसे ही उतर आयीं जैसे पक्षियों का झुंड आकाश में उड़ता है। सेनानायक ने अपने अभिजन की स्मृति से अपलक हुई आँखों में दूर देश-अपनी जन्मभूमि की ओर देखा, उसके पैर वहीं रुक गये। ऐसा लगा कि क्षणों के लिए वह सेनानायक चित्र में खिंची तस्वीर जैसा क्रिया-शून्य था।

कवि ने सेनानायक के क्रिया शून्य होने का चित्र खींचा है। उसके विस्मय और स्मृति में डूब जाने का रहस्य क्या है, इसकी ओर कोई इंगित नहीं किया है। वे स्मृतियाँ किसकी, किस अभिजन की रही होंगी जिसके कारण राजा गति-हीन होकर खड़ा रह गया, काँटेदार फूल में ऐसा कौन-सा रहस्य था। राजा का रहस्य और कवि की वाणी की महिमा एक समान है। रहस्यों की विद्या का अलग विस्तार है, पर जहाँ तक राजा की ऐसी स्मृतियों का रहस्य है तो राजा का रहस्य नारी (तरुणी) होती है। इस फोग नामक काँटेदार फूल के साथ राजा की किसी अभीष्ट तरुणी का सन्दर्भ छिपा है, जो उस फूल की गन्ध के साथ मन में उदय हो गया और कुछ क्षणों के लिए राजा की स्थिति हो गयी- न ययौ न तस्थौ। हमारे कवि ने इस गूढ़ रहस्य को इसीलिए इतिहास से निकाल कर वाणी के वैसे ही रहस्यमय अक्षरों में निबद्ध कर दिया है।

भागीरथी काव्य की उत्कृष्टता, सहृदयों के लिए उसका आकर्षण तथा जीवन के लिए शिक्षाप्रद उक्तियाँ- आदि वैशिष्ट्य अलग से एक पुस्तक में व्याख्यान की अपेक्षा रखते हैं। इन काव्य मुक्तकों की रचना में भावों और विचारों का जो सौन्दर्य समाहित है उनकी महिमा से इसके कवि ने संस्कृत काव्य के इतिहास में मुक्तक रचनाकारों की पहली पंक्ति में बैठने का स्थान बना लिया है। जिस पंक्ति को मध्यकाल के योगेश्वर, शुभाङ्क, वातोक, उमापति धर, भवानन्द, आढ्यराज, कालिदास, विल्वमंगल, शतानन्द, शुभंकर आदि तथा सतरहवीं शती के पण्डित राज जगन्नाथ ने अपनी प्रतिष्ठा से प्रकाशमान किया है।

भारतीय काव्य-रचना की चिन्तन-परम्परा में दण्डी, वामन, अभिनवगुप्त, कुन्तक का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। हिन्दी के मनोवैज्ञानिक समीक्षक देवराज उपाध्याय भी उस परम्परा की कड़ी को जोड़ते हैं। मैंने भागीरथी काव्य के रचमान सौन्दर्य का व्याख्यान करने में उक्त आचार्यों की प्रतिष्ठापित सिद्धान्त सरणि से लाभ उठाया है।

जयशङ्कर त्रिपाठी

डॉ० जयशङ्कर त्रिपाठी

४०७ कादम्बरी आवास योजना
भारद्वाजपुरम
इलाहाबाद - २११००६
Ph. 2504434

महामहोपाध्याय आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डे : बहुआयामी संस्कृतकवि

रेवाप्रसाद द्विवेदी 'सनातन'

महामहोपाध्याय आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डे बहु आयामी वैदुष्य के प्रतिष्ठित विद्वान् हैं। जहाँ एक ओर वे शाङ्कर वेदान्त से लेकर बौद्ध दर्शन और इतिहास से लेकर पुरातत्त्वशास्त्र के मूर्धन्य विद्वान् हैं वहीं दूसरी ओर वे संस्कृत भाषाके उत्तम कवि भी हैं। इन्हें संस्कृत भाषा जीवित भाषा के रूप में प्राप्त है। जीवित भाषा का अर्थ है वह भाषा जिसमें लिखा भी जा सके और बोला भी। महामहोपाध्याय गोविन्दचन्द्र पाण्डे ऐसे ही कृती विद्वान् हैं जो संस्कृत में लिखते और भाषण भी करते हैं। इन्होंने संस्कृत में 'भक्तिरसमीमांसा' जैसा समग्रग्राही ग्रन्थ तो लिखा ही है जो गद्यात्मक है, सौन्दर्यमीमांसानामक ऐसा ग्रन्थ भी लिखा है जिसकी रचना कारिकाओं में की गई है। संगोष्ठियों में पाण्डे जी को शुद्ध संस्कृतमें पूरे अधिकार के साथ बोलते भी सुना गया है।

॥ १ ॥

साहित्य को परिभाषित करते हुए कहा गया था कि वृत्ति, विवक्षा, तात्पर्य, प्रविभाग, व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय, एकार्थीभाव, दोषाभाव, अलङ्कारयोग, गुणाधान तथा रसावियोग इन द्वादश सम्बन्धों का नाम है साहित्य। भोजराज ने इन बारहों तत्त्वों का प्रतिपादन शृङ्गारप्रकाश में किया था। भोजराज का केन्द्र था मध्य देश का महाकालधाम और उसमें भी धारा नगरी का सरस्वतीकण्ठाभरणनामक तत्कालीन विश्वविद्यालय। किन्तु भारत की पूरी की पूरी स्थल वेदी में आन्तरिक एकता थी, विशेषत: साहित्य के क्षेत्र में। अत: भोज के साहित्यविषयक इस विचार को एक ओर तो असम के शारदातनय ने आदर दिया, दूसरी ओर कश्मीर के साहित्यमीमांसाकार रुय्यक ने और दक्षिण में वारङ्गल के विद्वान् कविचन्द्र ने। आश्चर्य की बात है कि साहित्य के इस विचार को ध्वनिवादियों ने छुआ ही नहीं। वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने साहित्य को दूसरे ही प्रकार से प्रतिपादित किया। किन्तु ,

साहित्यमीमांसाकार रुय्यक ने भोजराज के इस सिद्धान्त में परिष्कार किया और माना कि प्रथम आठ सम्बन्ध से भाषा में भाषात्व चला आता है , अत:शेष चार सम्बन्ध उपयोगी बनते हैं भाषा में काव्यत्व लाने में। हमारी समझ से प्रथम आठ सम्बन्धों की गणना दोषाभावनामक सम्बन्ध में हो जाती है, अत: वामन और उनके बाद के मम्मट का प्रथम आठ सम्बन्धों पर कुछ न कहना क्षम्य है। इधर काव्यसमीक्षा में महिमभट्ट ने विचार की बेलगाम दौड़ को यह कह कर कीलित कर दिया कि तृतीय प्रतीयमान काव्यत्व की सीमा से परे है और वह एक प्रहेलिका जैसा उपक्रम है ,उसकी

कोई सीमा नहीं। अत: वह त्याज्य है। हम जो आज के काव्यसमीक्षक हैं इसी सीमा के बीच साहित्यविचार करते हैं। म०म०पाण्डे जी की काव्यकृतियों पर विचार करते समय हमारी कसौटी यही होगी।

पाण्डे जी की संस्कृतरचनाओं में वाक्यपक्ष अर्थात् वृत्ति से लेकर एकार्थीभाव तक की स्थिति के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि उनकी संस्कृत व्याकरणप्रक्रिया से शुद्ध है। वाक्य में काव्यत्व की निष्पत्ति का जहाँ तक सम्बन्ध है तदर्थ गुण, उपमादि अलंकार और रस की परीक्षा की जानी चाहिए। इस पर हमारी दृष्टि में म०म०पाण्डे गुण तथा उपमा आदि के उपयोग और निर्वाह में पूरी तरह सफल हैं। एतदर्थ उनकी संस्कृत काव्यरचनाओं में अभी अभी प्रकाशित २५६ संस्कृत पद्यों की *भागीरथी*[1] पर विचार करना पर्याप्त होगा।

यहाँ इतना कहना और आवश्यक है कि ध्वनिवादियों ने उपमा आदि अलंकारों में वृत्त की गणना छोड़ रखी है, किन्तु अनुभव के आधार पर वृत्त को भी वाक्य का अलंकार मानना आवश्यक है। एक कला में दूसरी कला अलंकार बनकर आती है जैसे संगीतकला मे वाद्यकला अथवा नृत्यकला में संगीतकला। इसी प्रकार जो कविता पद्यों में निबद्ध की जाती है उसमें संगीतकला भी जुड़ जाती है। वह यहाँ अलंकार बनकर आती है। फलत: पद्यात्मक रचना अलंकारयुक्त रचना मानी जा सकती है और उतने से भी उसमें स्पृहणीयता चली आती है, इसीलिए उसे मानवमष्तिष्क अधिक तीव्रताके साथ पकड़ता है। गद्यकी अपेक्षा पद्य इसी कारण अधिक जल्दी याद होता दिखाई देता है। आचार्य महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक में दु:श्रवत्व को काव्यदोष मानते हुए वृत्त की काव्यधर्मता की ओर संकेत भी किया था। हमने अपनी *काव्यालङ्कारकारिका*[२] में इस विषय पर और अधिक प्रकाश डाल रखा है। किन्तु,

अलंकार का एक दूसरा भी पक्ष है जिसे उपमा आदि या रूपक आदि के नाम से पुकारा जाता है। काव्यत्व के लिए इस प्रकार के अलंकार की अपेक्षा अधिक रहती है। इसी के कारण गद्य को भी काव्य माना जाता है।

॥ २ ॥

म०म०पाण्डे जी की भागीरथी में केवल पद्य हैं। इस प्रकार छन्दोयोजना के कारण इस रचना के सभी पद्य स्पृहणीय है। स्वयं रचनाकार ने संस्कृतपद्यों का हिन्दी के मुक्त छन्दों में रूपान्तर भी दिया है। संस्कृत पद्य कितना समर्थ है यह उसके हिन्दी रूपान्तर से तुलना करने पर स्पष्ट है। *भागीरथी* का द्वितीय पद्य लीजिए जिसका हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है -

---

१ *भागीरथी*, गोविन्दचन्द्र पाण्डे, राका प्रकाशन ४० ए मोतीलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद -२, २००२
२ *काव्यालङ्कारकारिका*, रेवाप्रसाद द्विवेदी ,प्रकाशक कालिदाससंस्थान,२८ महामनापुरी, वाराणसी-५, २००२

रेल की सीटी
बढ़ते कोलाहल और भीड़ की ठेलम ठेल
पास खड़ी प्रेमिका के साथ
प्रेमालाप में मगन जमादार
बाँध रहा झाड़ू फुर्सत से ॥

अब देखिए इसका संस्कृत मूल -

बाष्पप्रेरितयान-सीत्कृति-चलत्-सम्मर्दकोलाहले
सामग्री-नत-भारिकावलि-मिलत्-संभ्रान्त-यात्रिव्रजे ।
पार्श्वविस्थितकान्तया प्रमुदितं संलापमाकल्पयन्
संक्षोभं खलपूरुपेक्ष्य निरतः संमार्जनीबन्धने ॥

इसमें छन्द है शार्दूलविक्रीडित जिसका वितान खासा बड़ा है। बाष्पप्रेरितयान शब्द रेलगाड़ी का संस्कृतरूप है। रेल ने छूटने की सीटी दी कि चढ़ने वालों की भीड़ चल पड़ी और हल्ला होने लगा। डिब्बे से यात्री उतर रहे हैं, किन्तु सिर पर सामान लिए कुली भीतर जाने हेतु प्रयत्नशील हैं। दोनों में मामूली धक्कामुक्की हो रही है। एक ओर तो घबराहट का यह दृश्य है, परन्तु वहीं दूसरी ओर दृश्य है निश्चिन्तता का कि जमादार अपनी प्रिया से खुशी खुशी बातचीत करते हुए अपनी झाड़ू बाँधने में ही लगा हुआ है। लोकस्वभाव की ऐसी छवि निश्चित ही स्वभावोक्ति है। इसके शिल्प में रचनाकार सफल है। अधिकरण एक और अभिन्न, किन्तु उसमें प्रस्तुत हैं भिन्न भिन्न दो प्रकार के मनोभाव। पृष्ठभूमि में अवस्थित दिखलाया जा रहा है शृङ्गार। प्रिया से जो बातचीत हो रही है वह ऐसे वैसे नहीं, अपितु हँस हँस कर। इसीलिए प्रमुदित शब्द क्रियाविशेषण के रूपमें प्रस्तुत है। नहीं तो वह होता प्रमुदितः अर्थात् कर्तृविशेषण। आकल्पशब्द भूषा या प्रसाधन के लिए प्रसिद्ध है। जमादार प्रिया से केवल बातचीत नहीं कर रहा है उसमें फुसलाने का अभिप्राय भी निहित है।

ध्यान देने योग्य है इस उक्तिका नायक। वह है सर्वहारा वर्ग का व्यक्ति। उसकी ऐसी निश्चिन्तता और ऐसी मस्ती काव्य का उचित विषय है। आनन्दवर्धन ने सर्वोत्कृष्ट कविता के रूप में समाज के ऐसे ही वर्ग से उदाहरण चुने हैं। भील किरात आदि की रागात्मक प्रवृत्तियाँ उनका परिवेष है। कविता संपत्ति है जनसामान्य की अतः इन आचार्यो का यह झुकाव उचित भी है।

कुलिओं की आतुरता और उतरने वालों से उनकी धक्कामुक्की भी यथार्थ का आलेखन है, अतः उसमें भी स्वभावोक्ति धर्मता सुरक्षित है।

अब प्रश्न उठता है प्रयोजन का। इस प्रकार के चित्रण के पीछे कवि का उद्देश्य क्या हो सकता है। निश्चित ही इस उक्ति का अन्यतम प्रयोजन है स्वधर्मनिष्ठा। स्वधर्म का अर्थ है आजके सन्दर्भ में अधिकारनिष्ठा या अपनी ड्यूटी पर खुशी खुशी तैनात रहना। झाड़ू बांधने में निरत रहना इसी भावभूमि पर संभव है। नहीं तो कवि वाक्य की समाप्ति करता कुछ इस प्रकार–

०कान्तया मुदितया संल्लापमाकल्पते
संक्षोभं खलपूर्न पश्यतितरामन्यस्थितं मन्दधी: ॥

कविता उभरती है भाववितान में। भागीरथी में वह मिलता है वृन्दावन के प्रसंग में। वहाँ महाप्रभु रूपगोस्वामी मथुरा तक आ पहुँचे और खोजने लगे वृन्दावन। मथुरा के पास की भूमि बदल चुकी थी। उसे देख उन्हें जो विस्मयपूर्ण पीडा हुई उसे म० म० पाण्डे ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

इदं वृन्दारण्यं विरसरजसा धूसररुचि
किमेषा कालिन्दी विरलसलिला मेचकतनु: /
क्व कुञ्जा: प्रत्यध्वं ललितहरिलीलामुखरिता:
क्व गोपीधम्मिल्लैर्विहरति समीर: सुरभित: //भागीरथी १५३//

कितने साभिप्राय हैं इसके पद। उद्देश्यविधेयभाव की रक्षाके साथ इसकी व्याख्यामात्र की जा सकती है, अनुवाद नहीं। व्याख्या कुछ ऐसी हो सकती है-

महाप्रभु मथुरा के पास की भूमि को देख रहे हैं। वे भावविभोर हैं और कह रहे हैं निगूढ अभिप्राय वाली पदावली में –

वृन्दावन है तो यही, परन्तु, आज तो इसमें धूल ही धूल है, वह भी नीरस, जबकि भरा रहता था यह सरस पराग से / पूरा का पूरा वृन्दावन मलिन और मटमैला दिखाई पड़ रहा है, कहीं कान्ति नहीं /

विपर्यय का कितना सटीक चित्रण है यह। भवभूति के राम जब दण्डककानन में दूसरी बार पहुँचे तो उन्हें भी ऐसा ही अनुभव हुआ था। उनकी उक्ति अतीव प्रिय और प्रसिद्ध है -

पुरा यत्र स्रोत: पुलिनमधुना तत्र सरिताम्
विपर्यासं यातो घनविरलभाव: क्षितिरुहाम् /
बहोर् दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदम्
निवेश: शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति // (उत्तररामचरितम् २/२७)

राम कह रहे हैं

यह वन अब वह वन नहीं। इसमें विपर्यास आ चुका है। नदियों ने धारा बदल दी है और वहाँ अब बालू है जहाँ बहा करता था जल।

यह तो राम की अपनी रामकहानी भी है।

महाप्रभु की दृष्टि पड़ती है पास ही दिखाई दे रही एक क्षीण जलधारा पर और उनके मुख से निकलता है

यह क्या कालिन्दी है। अरे अरे इसकी धारा तो बहुत ही पतली पड़ गई है। और देखो तो इसका रंग। यह तो काली पड़ गई है।(भागीरथी)

श्रीकृष्ण इसी के तट पर बने कुञ्जों में किया करते थे लीला। महाप्रभु की दृष्टि उन कुञ्जों के लिए लालायित है। इन कुञ्जों को खोजती है वह। महाप्रभु का उद्गार है-

कहां है वे कुञ्ज जिनमें गूँजती रहती थीं श्रीकृष्ण की ललित लीलाएँ। (भागीरथी)

अन्तिम चरण में तो कवि कलम ही तोड़ देता है जहाँ महाप्रभु को पवन के उन झोंकों की याद आती है जो चुराया करते थे रास से क्लान्त गोपवधूटियों का श्रमस्वेद। महाप्रभु का वचन है

कहां है वह समीर जिसमें भरी रहती थी सुगन्ध गोपियों के जूड़ों में लगी पुष्पमालाओं की।(भागीरथी)

कवि ने पटाक्षेप सा किया और दूसरी ही कथा छेड़ दी। उसने कहना शुरू कर दिया

काल का परदा गिरता और उठता रहता है। जब उठता है तब कोई नया दृश्य सामने आता। नया यानी पुराने से भिन्न। इस प्रकार सभी दृश्य भिन्न भिन्न। किन्तु इन सभी का आधार होता है कोई एक और अभिन्न तत्त्व। प्रीति की जितनी भी कथाएँ हैं वे मूलतः एक और अभिन्न हैं। उन सब में शाश्वत कथा एक ही है राधामाधव की। और वृन्दावन भी वहीं जहां छाई हो प्रेमकथा राधामाधव की। (भागीरथी, पृ०१३०, पद्य १५४)

कवि तार्किक विद्वान् भी है और लिए दिए दार्शनिक भी। दार्शनिक यानी जादू की छड़ी लिए एक जादूगर। उसने अपनी जादू की छड़ी घुमाई और ठहरा दिया दोषी उन्हें जिन्हें नहीं हो पाते दर्शन राधा-माधव की इस जुगल छवि के। ऐसे अभागों को कवि ने सीधे सीधे कह दिया प्राकृत जन। कवि का तार्किक इतने से संतुष्ट नहीं। वह कारणमीमांसा भी प्रस्तुत करता और पिटी पिटाई भाषा में दिलासा देना चाहता है। वह कहता है

इसमें कारण न राधामाधव की जोड़ी है और न अन्य कुछ । इसमें एकमात्र कारण है मोह का आवरण या भक्ति का अभाव ।
(भागीरथी, पृ०१३१, पद्य १५५)

उसने एक तमाचा और लगाया और कह दिया

जिसके नेत्रों में लगा हो प्रीति का अञ्जन उनका हृदय ही होता है वृन्दावन और उसी में बहती दिखाई देती है वह काली कलूटी नदी यमुना । यह वृन्दावन होता है काल के स्पर्श से परे नित्य और सनातन । (भागीरथी, पृ०१३०, पद्य १५५)

अरे हम भक्त भले ही न हों पर क्या प्रेमी भी नहीं हैं ?
कवि का श्लोक है -

राधामाधवयोर्न रूपमधुना पश्यन्ति यत् प्राकृता:
तन्मोहैकनिबन्धनम्,
न मनुजे देवावतार: स्फुट: ।
प्रीत्येकाञ्जनमाहितं नयनयोर् येषां तु तेषां हृदि
कालश्यामनदीतटे विजयते
वृन्दावनं शाश्वतम् ॥ (भागीरथी, पृ०१३०, पद्य १५५)

धन्य है कवि जिसने अवान्तर कथाएँ तो कह डालीं, किन्तु मुख्य कथा छुई तक नहीं।

मन में प्रीति भी हो गई , मन वृन्दावन भी बन गया और उसमें जमुना की धारा भी दीखने लगी , पर , क्या हुआ उस मोरमुकुटवाले का ? वह प्रकट हुआ या नहीं ?

कवि चुप है। पर
अपने कविकर्म्म में तो वह चरितार्थ ही है। उसकी कविता सफल है।

॥ ३ ॥

अनित्यम् इस शीर्षक से लिखित निम्नलिखित शार्दूलविक्रीडित कविवर पाण्डेय की रागात्मकता का उत्तम आलेखन है

द्राक्षोन्मादितपारसीकवनितारागोज्ज्वलं लोहितं
रूपं पाटल! ते विलोक्य मनस: प्रत्याहृतावक्षम: ।
अज्ञातार्थनिवेदिनीं श्रियमिमामस्थायिनीं भावयन्
स्मृत्यग्रप्रतिबिम्बितां च कलनां कालस्य दूये चिरम् ॥(भागीरथी, पद्य २८, पृ० २९)

कवि ने देखा तो गुलाब का फूल पर उसके मस्तष्क पर आरूढ हो उठी फारस की ललनाओं की नशे से निखरी रूपमाधुरी । उसका मन चञ्चल हो उठा और वह

अक्षम हो गया मन को एकाग्र करने में। इसके आगे की स्थिति यह कि कवि का मन फिर जा फँसा अपनी दार्शनिकता में। उमड़ पड़ी उसमें रूप की अस्थिरता और त्रासदिकता की आँधी और लगा कोसने वह काल की कलना को। उसने इस रूपलक्ष्मी को अज्ञात अर्थ का उपहार देने हेतु उद्यत बतलाया और बतलाया कि वह प्रतिबिम्बित है स्मृति के आँसुओं पर। हिन्दी अनुवाद रहने पर भी यहाँ संस्कृत कठिन है। भावयोजना अनुभवसमर्थित तो है परन्तु गूढ भी है और सांकेतिक भी। समझ में नहीं आया कि कवि का वह अज्ञात अर्थ क्या है जिसे उपहार के रूप में देनेहेतु उद्यत है रूपलक्ष्मी। जो भी हो। पर उक्ति में कवित्व है। *कालस्य कलनां भावयन् दूये* यह है पर्यवसान इस उक्ति का। सहृदय भी समरस है यहाँ, कवि के साथ। कठिनाई केवल इतनी है कि क्या सहृदय इस दार्शनिकता को झेलने हेतु उद्यत है।

कश्मीरी सेवफल प्रसिद्ध है। कवि उसका चित्रण इस प्रकार करता है

प्रत्यग्रारक्तताम्रान् मधुररसभृतः किञ्चिदम्लत्वलेशान्
बाष्पोत्तप्तान् म्रदिम्ना सहजधृतियुजा स्वादशाबल्यभाजः।
सेवानासेवमाना शिशिरधवलतां काचवातायनेभ्यो
बाह्योद्याने सुपिष्टां शिशिरकरतनूं दृष्टवन्तो नु कीर्णाम्॥
(भागीरथी, पद्य १८०, पृ० १५६)॥

यदि

सेवानासेवमानैः शिशिरधवलिमा काचवातायनेभ्यो
बाह्योद्याने विकीर्णः शिशिरकरवपु-श्चूर्णराशिर्न्वलोकि॥

ऐसा कुछ कहा गया होता तो वक्तव्य अधिक स्पष्ट होता तथापि लगता है कि कवि के हृदय की धारा किसी अन्य दिशा में जाते जाते रुक गई है। *सहजधृतियुजा* के स्थान पर कदाचित् वह कहना चाहता था *सहजधृतिमुषा*। कश्मीरी सेवफलों की कोमलता सहज धृति को चुरा रही है।

क्यों ?

उत्तर है और गूढ है पर है मीठा। क्या है वह ? पूछिए स्वयं कवि से या फिर अपने रागी हृदय से।

स्मरण रखना है कि कविता का गूढ अर्थ अधिक प्रभावी होता है स्पष्ट अर्थ की अपेक्षा।

॥ ४ ॥

कविवर पाण्डे ने भागीरथी में कविकर्म्म को पर्याप्त विस्तृत आयाम दिया है। उसमें न केवल भारत की संपूर्ण स्थलवेदी अंकित है, अपितु भारत के बाहर का विश्व भी अंकित है। पूरी भागीरथी *सात भागों* में विभक्त है।

प्रथम भाग का शीर्षक है *लोक* । इसमें १३ विषयों पर विभिन्न वृत्तों के १४ पद्य हैं । इनमें से *खलपू* पर विवेचन किया जा चुका है ।

द्वितीय भाग का शीर्षक है *काल* । इसमें २८ पद्य हैं । *अनित्यम्* इसी का अन्यतम पद्य है ।

तीसरे भाग का शीर्षक है *वसन्तानल:* । वसन्तानिल तो मलयमरुत के रूप में प्रसिद्ध है ही यहां है वसन्तका अनल यानी वासन्ती गर्मी । इसमें हैं ५६ पद्य । प्राय: ऋतुवर्णनपरक हैं सभी ।

चौथे भाग का शीर्षक है *भागीरथी*। इसमें ४२ पद्य हैं ।

पाँचवें भाग का शीर्षक है *शतदलम्* । वृन्दावन कविता इसी से ली गई है । इसमें कुल पद्य ४२ हैं ।

छठे भाग का शीर्षक है *दक्षिणापथे जयसिंह:* । इसमें पद्य हैं ३३ ।

अन्तिम सातवें भाग का शीर्षक है *प्रत्यग्बिम्बा:* । इसमें पद्य ३३ हैं । इस अन्तिम भाग में कवि का दार्शनिक पक्ष उजागर हो उठा है । आश्चर्य की बात है कि कवि का अत्यधिक अभ्यस्त वैनाशिक दर्शन इसमें प्रच्छन्न ही है ।

कश्मीर से बंगाल तक और हिमगिरि से दक्षिणापथ तक के भारतीय भूगोल को तो कविवर पाण्डे ने कविता में उतारा ही है चीन, हवाई जैसे विदेश और क्रिसमसडे जैसे विजातीय वर्ग के उत्सवों को भी अपनाया है । सर्वथा

कविवर गोविन्दचन्द्र पाण्डे का संस्कृतकविकर्म्म वस्तुत: बहुआयामी है । वे प्रस्तुति में सफल और हृदय को छू लेने वाले कुशल कवि हैं ।

॥ ५ ॥

जहाँ तक आचार्य पाण्डे के हिन्दी रूपान्तर का संबन्ध है इस विषय में इतना कहना पर्याप्त होगा कि ऐसा नहीं लगता कि आचार्य पाण्डे की हिन्दी उनकी मातृभाषा है । किन्तु संस्कृत में उनकी पकड़ असाधारण और विस्मयकारी है ॥

॥ ६ ॥

आचार्य पाण्डे की रचना में कुछ कमियाँ संस्कृत भाषा की भी हैं । यथा *प्रयुङ्क्ते* के स्थान पर *प्रयुनक्ति* प्रयोग - *भागीरथी* पद्य ९, पृ०११ ।

इसीप्रकार बिम्ब शब्द का पुंल्लिङ्ग में प्रयोग यथा- प्रत्यग्बिम्बा: भाग ७ । यह प्रयोग शुद्ध तो है क्योंकि कोषों में इसे नपुंसक और पुंल्लिङ्ग दोनों में माना गया है । अमरकोष का वचन है *बिम्बोऽस्त्री*, इतने पर भी इसका प्रयोग नपुंसकलिङ्ग में अधिक प्रचलित है।

संयुक्ताक्षर के पहले का ह्रस्व दीर्घ हो जाता है। *य* और *र* तथा *ह* और *र* वर्णो का संयोग इसमें अपवाद भी माना जा सकता है किन्तु अपवाद को केवल कठिनाई में ही अपनाया जाता है। भागीरथी के समर्पणपद्य के नीचे हनुमान् जी की स्तुति का जो पद्य दिया हुआ है इसमें रघुपतिप्रियभक्तं के स्थान पर मुझे याद है रघुपतिवरदूतम्। इसीप्रकार इसी पद्य में मुझे याद है स्वर्णशैलाभदेहम्। इस पाठ को अपनाने पर पूर्ववर्ती *धामन्* को अकारान्त मानने की विवशता नहीं आती और *अतुलितबलधाम स्वर्ण*..... इस प्रकार नियमानुसारी उच्चारण मिल जाता है। *अतुलितबलधामम्* पद केवल तब बन सकेगा जब मूल शब्द को अकारान्त माना जाए।

आनन्दवर्धन ने इस प्रकार की कमियों को निष्प्रभाव बतलाया है यह कहते हुए कि इस प्रकार की कमियाँ छिप जाती है यदि कविकी प्रतिभा अधिक प्रभावशाली हो

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते॥
ध्वन्यालोक -३.६ कारिका पर वृत्ति, काशी सं. १९४०, पृ.३१६।

भागीरथी के प्रसंग में आनन्दवर्धन की यह उक्ति सर्व्वथा शिरोधार्य है॥

रे.प्र.द्विवेदी
रेवाप्रसाद द्विवेदी
२८ महामनापुरी, वाराणसी-५
दि० ६ सितंबर २००२
दूरभाष – ०५४२–५७०६८२

G.C. PANDE'S THOUGHTS ON KASHMIR ŚAIVISM

- *Navjivan Rastogi*

Endowed with multi-faceted intellectual equipment Prof. G.C. Pandey ranks among the foremost original Indological thinkersof this century. Almost all the branches of Indology – e.g. history, culture, art, philosophy, poetics, aesthetics, besides poetry and Western philosophy have become richer by the touch of his creative and sharp intellect. I deem it a privilege on having been asked to participate in this collective enterprise dedicated to evaluate his enduring and vast contribution. This paper endeavours at critically structuring his insights pertaining to the Kashmir Śaivism[1].

We discern four broad directions of the thoughts of Pande on Kashmir Śaivism. First, pertaining to the foundational philosophical concerns; second, to the synthesis sought by the Kashmir Śaivism with the Indian philosophical tradition; third, to the peculiarity brought about by the tantric origin; and fourth to the constitutive essential features of the Kashmir Śaivism. The critico-comparative analysis contextualised by concurring and conflicting schools of thought or appropriating meta-physical reductions to the non-philosophical areas will fall under the fourth category. All these undercurrents have been enormously enriched by Pande's profound historical and ahistorical insight into the oriental and occidental thought which has proved invaluable towards refining our current understanding of the Kashmir Śaivism.

---

1. We come across Prof. Pande's views on Kashmir Śaivism sporadically scattered over his several publications in differing contexts. In this connection second part of his *Foundations of Indian Culture; भारतीय परम्परा के मूल स्वर; साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति, and सौन्दर्यदर्शनविमर्श:* merit special mention. In these works we get access to the direct formulation of his views on, or contextually given particular thesis of, the Kashmir Śaivism and also to the indirect formulation during the course of his generalized treatment by appealing to or drawing upon the Kashmir Śaivist texts and sources in support of his opinions. These indirect formulations help us to understand directions of his thoughts. For his structured thoughts attention will be drawn to two unpublished sources. The first is his paper titled "Reflection on Pratyabhijñā and Buddhism" contributed to the *Perspectives on Abhinavagupta*, an anthology of essays in memory of Prof. K.C. Pandey. The second is my notes from K.C. Pandey Memorial Lectures delivered by him at the Abhinavagupta Institute of Aesthetics and Śaiva Philosophy, University of Lucknow on Aug. 5-7, 1998.

Foundational issues

In Pande's valuation Kashmir Śaivism emerges as an excellent illustration of monistic theism or, for that matter, theistic monism[1]. In fact, this description in itself is a close resonance of Kashmir Śaivists' self-presentation in terms of Iśvarādvaitavāda, or Parameśvarādvayavāda or Śivādvaitavāda. However, the question we are confronted with, is how do we look at Kashmir Śaivism - as a branch of theology or as a type of philosophy. The question may be phrased differently also – wheather it is a dogmatic system or a rational explanation of the scriptures, āgamas in this case. Many scholars from the West treat it as a theology with varying descriptions from `personal theology' to "philosophical theology". But Pande differs and this is what is important for us. He says that Christianity itself is not theology in the original scripture. Reference to personal experiences does occur, but nowhere it crystallizes into a system. The idea of theology gets formalized under the Church (Christianity) or the State (Islam). This has not happened here and definitely not in the context of Kashmir Śaivism. The explanation of scripture or the structural evolution of the revealed truths can not be circumscribed into a rigorous theological frame. The āgamic hermeneutics comprises three stages – (i) scripture (*āgama*), (ii) analysis (*vyākhyā*) and (iii) rational/logical examination (*ānvīkṣikī*). Same is the case with Vedānta also – (i) scripture (*upaniṣad*), (ii) Brahmasūtra (*vyākhyā*) and (iii) *Bhāṣya* (*ānvīkṣikī*). In all fairness, therefore, a system based on scriptures such as Kashmir Śaivism is not a theology[2]. For Pande Kashmir Śaivism is philosophy. In this he is backed by the tradition too. Somānanda, the first proponent of the system, uses the word `dṛṣṭi', a synonym of 'darśana', while naming his treatise as Śivadṛṣṭi, while Mādhavācārya in his famous compendium, *Sarvadarśanasaṁgraha*, calls it *Pratyabhijñādarśana*. Jayaratha, the illustrious commentator of the *Tantrāloka*, specifically refers to the scholars from Somānanda down to Abhinavatgupta as "rationalists and

1. "Kashmir Śaivism represents the most remarkable system of monistic theism"– *Foundation of Indian Culture* , Vol. II : *Spiritual Vision and Symbolic Forms in Ancient India* (FIC), New Delhi, p. 140; also vide "Reflection on Pratyāhijñā and Buddhism (Reflection) in *Perspectives on Abhinagupta*, ed by the present author & M. Rastogi (under publication).
2. Vide "Essential Features of Kashmir Śaivism" (EFKS), K.C. Pandey Memorial Lecture on 5.8.1998.

interpreters".[1] Really speaking the labeling of this system as philosophy seems to be quite in line with Pande's definition of Philosophy.[2] In his perception, philosophy is a dialectic. Philosophy is always a critique of opinions – whether contemporary or gathered over a period. The process involves three steps – (i) these opinions must be held, (ii) they must be accessed by the thinker in his personal experiences and (iii) the facts on which they are grounded must be validated by examination. In other words, it constitutes an attempt towards investigation into the very foundation of those opinions and, therefore, moving beyond these presuppositions. The two aspects of dialectical reasoning are present in equal measure in Nāgārjuna, Śankara and thinkers of the Kashmir Śaivism – i.e. (i) determination of the opinions/hypotheses of the prima facie standpoint intended to be investigated and then (ii) unravelling of their inconsistencies. Whatever be the philosophical model, it unexceptedly begins with a hypothesis. Kashmir Śaivism is a sort of spiritual philosophy. The reality which it seeks to attain cannot be established by reasoning. It is *aprameya* in the sense that it is beyond the range of intellectual reach. This source of knowledge is called *āgama* (scripture).[3]

This reliance of Kashmir Śaivism on *āgama* drives us to another connected thesis of Pande. Behind every presupposition or fundamental thesis held by a phiolosophy there is always a worldview or cultural perspective at work. In most traditional philosophies this world-view has largely depended upon some religious tradition. In Indian tradition, philosophy is an outcome of an interaction between two connected components – *ānvīkṣkī* (= logic, which is described as *hetu-* or *nyāya-vidyā* also depending on the context) and *adhyātmavidyā*. The former is marked by its emphasis on the reflective and rational aspect of philosophy and the latter by its relation to human and transcendental subjectivity. In this sense the Sāṅkhya, Vedānta, Buddhism and Pratyāhijñā – all these philosophies are at once spiritual and logical (āgamānusārī and nyāyānusarī). To quote

---

1. तर्कस्य कर्तारो व्याख्यातारश्च .... । - *Viveka* on *Tantrāloka* 1.10, ed. R.C. Dwivedi and Navjivan Rastogi, I, Delhi, 1987, p. 30.

2. लोकशास्त्रप्रसिद्धानां मतानां यद्विवेचनम् ।
आत्मप्रतीतिसिद्धानामथवा यद्विमर्शनम् ।।
सर्वविद्याध्यतत्त्वानां न्यायतत्त्वविमर्शनम् । – *EFKS.*

.३. किंचिदागम्यते तत्त्वमुभत्रापि सिद्धवत् ।
शैवादिदर्शने तद्धि मुख्येनागम इष्यते // – *ibid.*

Pande "On the one hand, their foundations derive from spiritual varieties received traditionally but realizable personally, and on the other, they undertake a systematic logical analysis of their basic concepts. So the Śaiva Śāsana or Śāstra is designated as dṛṣṭi, darśana or dṛk as well as naya[1]. Pande's orientation is clear. All these Indian varieties of idealism, though logically structured, are species of spiritual idealism not of rational idealism. Because they do not regard human reason, on the basis of the empirical data or a *prioi,* ultimate cognitive faculty. Their reliance on some tradition of spiritual insight drives them to discover their identity called through traditional wisdom and personal realization by eradicating the doubts about its very possibility and chances of drifting astray (asaṁbhāvanā and viparītabhāvanā)[2] Apparently the concern about the philosophical identity of the Kashmir Śaivism may look trivial but it has far reaching consequence in the context of philosophical values.

Synthesis with Indian philosophical tradition

Viewed from the perspective of synthesis of the Kashmir Śaivism with the underlying spirit of Indian traditional thought in general we notice that what distinguishes Indian tradition from other religions and philosophical world-views in the world is its spirituality immanent as their essence in the culture and philosophy. Its central focus has been inward reflection of the consciousness. Essence of spiritual pursuit lies in internalising self-consciousness reflected in the flux of experiences, discovering the subject, the self, without getting lost into mental constructs and objects thereof.[3] Its realization constitutes knowledge in the primary sense. Vasugupta, the author of the *Śivasūtras* begins his work identifying the Self with consciousness rather than with the substantive conscious subject.[4] Expatiating upon the purpose of Vasugupta, Utpala declares in the

1. *Reflection*; also vide :

   किं तावत् दर्शनं नाम विद्यायाः शैवसूरिभिः ।
   दृग्दृष्टिनयसिद्धान्तव्यपदेशे विवक्षिता ॥ - *EFKS.*

2. *Reflection.*

3. *भारतीय परम्परा के मूल स्वर* (BPMS), G.C. Pande, Delhi, 1981, p.30

4. चैतन्यमात्मा । – *Śiva-sūtra* (Ś.Sū), KSTS, 1.1 (cited by Pande, ibid)

Īśvarapratyābhijñā -kārikā that man's ultimate accomplishment is to discover such knowledge as to obtain its meaningfulness in the self-referring activity of the consciousness.[1] While Pande by drawing upon the *Yogasūtra*[2] likens this state with the self-resting of the witnessing subject, Abhinavagupta[3] looks upon the same as realization of pure ideality by the witnessing self by invoking the same *Yoga-sūtra*[4]. This is that state which frees the individual from the cycle of desire-action-enjoyment by establishing him within the self.

Although Pande's immediate concern, in the context, is to dilate upon 'spiritual science and Yoga', he repeatedly alludes to the thesis of Kashmir Śaivism by way of conceptual reductions. Whereas on the one hand, according to Pande, self-discovery is exploring knowledge, it is, on the other hand also trying to find out its permanent existence – i.e., the notion of consciousness is intertwined with that of being. The next stage in the pursuit of permanence is generally represented by notion of the other world. Despite the belief that other world is dependent upon action and worship (upāsanā) it was widely conceded that other worldly dispensation was solely action-determined and was as transient as worldly state. The direct fallout of this idea was that all religious practices instrumental in harnessing the other world were deemed inferior to the search for self. It came to be generally accepted that the real import of immortality for a man is nothing but dwelling in the self *(svarūpāvasthāna)*. This perhaps spells out the reasoning behind terming *mukti, kaivalya, nirvāṇa* as immortality or immortal abode (*amṛtapada*)[5]. Man's journey to the other world, its causes, the divinity, its worship, death and immortality subsumed within consciousness, are transformations or modes of consciousness. Pande relies on the first aphorism

---

1. Cf. आत्मात् एव चैतन्यं चित्क्रियाचितिकर्तृता –
   तात्पर्येणोदितस्तेन जडात्स हि विलक्षणः ।। - *Īśvarapratyābhijñā -kārikā* (I.P.K), KSTS, 1.5.12
2. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।- Yogasūtras (Y.S.)1.3 (cited by Pande, BPMS, p. 30)
3. Vide - *Īśvarapratyābhijñā*vimarśinā (I.P.V), ed. K.C. Pandey and KAS Iyer, Delhi, 1986, I, p.245
4. द्रष्टा दृशिमात्रः । - Y.S. 2/20 (cited, ibid)
5. BPMS, p.30

of the *Pratyabhijñā-hṛdaya*[1] to prove that in the world of free entities consciousness is not a dependent attribute (dharma), rather it holds key to the entire order of being. Pande, therefore, reduces spirituality, as a quest for consciousness, to be the essence of Indian culture.[2]

This leads to another conclusion, though unstated. The non-duality as visualized in the Kashmir Śaivism, is a sort of integral totality and in this it replicates, tantrico-philosophically, Vedic integralism (*pūrṇatvavāda*).[3] Behind life and death, to be able to visualize an uninterrupted linkage between the manifest form and the formless un-manifest is what constitutes the foundation of Vedic integralism. The conflict between inner and outer is foreign to the consciousness of the seers. The propensity of all sciences towards *Brahmavidyā* happens to be a part of natural flow. Pande says feelingly "आरम्भ में नाना रूपधारी देवताओं में परम तत्त्व की उपासना और अन्त में एक परम तत्त्व में सभी नामरूपों का मूल देख सकना यह एक ही प्रकिया के दो छोर हैं ।"[4] On this point of view, the world is not devalued, nor denounced, for in all imperfections of this life the absolute perfection alone seems to shine through.

By the time we reach early post-Vedic era a lot of parallel traditions – both orthodox and heterodox – emerge and thanks to their interaction several schools gradually come up seeking a synthesis of diverse traditional viewpoints. The most ancient Vedic seers are seen alive with a constant sense of divine compresence and realizaton. This state bears close comparison with that of *anupāya* in Kashmir Śaivism or *Sahaja* in the Mahāyanī Siddha school[5]. No doubt the

1. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः । – Pr.Hṛ. 1, cited by Pande, ibid. Pp. 30, 58
2. चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम् । — ibid. 5, cited by Pande B.P.M.S., Pp. 30, 58. Pande is quite fond of this aphorism from Pr. Hṛ. and alludes to it quite often. Cf. EFKS.; also cp. *Dhammapada* 1.1 : "मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया ।"
3. BPMS, p 41
4. Ibid., pp. 47-48
5. FIC, p. 144

resurgance of Vedic spirituality in the form of *anupāya* or *Sahaja* was an outcome of the efforts towards elimination of duality between spiritual vision and worldly deeds brought about by Vedic *dhī* and *ṛta* or their Buddhist counterparts *prajñā* and *dharma*. This was by all means a path of spontaneous vision and absolute integrality.

Pande's observation unwittingly has a ring of far reaching importance about it. The Indian philosophical history has been struggling with the question whether the origin of the tantric stream is different from and independent of the origin of the Vedic stream. The Indological scholars have sharp disagreement as to its precise answer. However, current analysis is indicative of Pande's unequivocal inclination in favour of the shared unity of origin between these two strands of thought. This is the reason the totalistic vision of Kashmir Śaivism is the tantric transfiguration of the Vedic integralism.[1]

Now this is easier for us to appreciate that the substantive Indian spiritual tradition is a product of give and take between Vedic and Śramaṇa cultures[2]. The efforts towards homogenizing the two are patently visible in the *Gītā*, Purāṇas and Tantras – the expressive media of spiritual current. Though Pande is intimately conversant with the vast tantric literature and, more than that, with its vaster categorial diversity, usual connotation of the term tantras for him gets confined to Kashmir Śaivism. The *Gītā* propounds real unity of *karma* and *akarma* and the liturgical/ritual action is deemed to culminate into Karmayoga and Karmayoga into Jñānayoga. By conceiving knowledge as being attainable by worship (*upāsanā*) the purāṇas have gone in for a new type of liturgical substitute of. sacrifice (*yajñā*). The tantras are the votaries of unity between knowledge and action in the form of intrinsic freedom. In *bhakti*, as propounded in the tantras, action and renunciation get mutually reconciled, whereas in the tantras similar homology between worldly activity (*pravṛtti*) and withdrawal therefrom (*nivṛtti*) is effortlessly achieved through transfiguration of pravṛtti[3]. Cast in a different conceptual mould, this is what is conveyed by matrimony or conjugal union of Śiva and Śakti. Oblivious of this reality when energy is treated as insentient, the entire historical accomplishment is reduced to inanimatism (*jaḍavāda*). Pande's

1. Vide FIC, p.146
2. BPMS, p, 56
3. BPMS, p. 57

statement "चेतना का अनुसंधान तब तक पूर्ण नहीं हो सकता, जब तक सृष्टि के कारण को उसकी इच्छा में न देखा जाए – 'स ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय ।'" [1] is a reiteration of precise Kashmir Śaivite position and is evidently based on the *Śivasūtra.*[2] Transcendental knowledge (*parā vidyā*) or spiritual science is a matter of self's realization but its path is ultimately revealed by *āgama* or scripture. If gnosis is perceptual and Yoga happens to be its innate instrumentality, then by virtue of their being a teaching or instruction (*upadeśa*) in nature, the scriptural science and Yoga become conducive to that yoga of realization. The *Upaniṣads* and *Mahāyāna-sūtra*, the *āgamas* of Pratyabhijñā and Tripurā, the *Yogavāśiṣtha* – all these are repository of this tradition of knowledge.[3]

We now have a clear view, as is amply evident from the observations of Pande, that the trend that started with Aurbindo in interpreting Indian culture as spiritual tradition and which attained a high degree of order and sophistication in the works of Kaviraja who blended theory with experience providing it with an academic context[4] reaches its height in Pande's subtle analysis representing its encyclopedic development marked by historical/philosophical/inter-cultural and axiological emphasis. Identifying the peak of synthesis attained by Kashmir Śaivism with the root fundamentals of Indian culture is the natural outcome of such an approach.

Tantric context

With tantricism of the Kashmir Śaivism we enter into the third phase of Pande's thoughts.[5] Though he unravels a broad spectrum of tantric notions and schools, it is the Kashmir Śaivism that epitomizes tantric philosophy for him as we have noted earlier. One of the primary characteristics distinguishing Kashmir Śaivism from main currents of Indian speculation – orthodox and non-orthodox both – lies in its tantricity. Defining tantra he says, "Tantricism is nothing except the

1. Ibid., p. 57; also cp. "स ऐक्षत इति । ------ईक्षणं ह्यत्र तावद् द्वितीयाभावात् स्वविषयमेवेष्टम्, स एव चाहंपरामर्शः । ...अस्य तु जडत्वेन परामर्शे शक्तत्वं नास्ति ।- Bhāskara on I.P.V., I, p. 14
2. इच्छाशक्तिरुमा कुमारी । - Ś. Sū. 1.13 (cited by Pande, ibid. p.57)
3. Ibid., p. 125
4. Ibid., p. 21
5. Vide FIC, pp. 153-159: sub-essay entitled 'Tantric Alchemy" under the chapter - Smṛtis', Purāṇas and Tantras.

ritualistic and symbolic aspect of worship considered as a means of communion with a deity."[1] Moving further he enlarges his definition by supplanting 'ritualistic and symbolic' with 'science of word'[2], which we may also take as science of mantra. Thus the essence of tantra is mantra and its result is visualization of the deity. What he wants to emphasize is that while overtly the tantric mode of worship is common to that in Vedic and Puranic currents "it goes beyond their overt form to their inner essence."[3] Drawing upon the *Śāradātilaka*, a work attributed to Lakṣmaṇagupta, Abhinavagupta's preceptor, he equates *nāda* (resonance), the first emanation of God, with *mantra.*[4] He endorses his contention with the aphorism of Vasugupta :"*cittaṁ mantraḥ*".[5] Repetition (*Japa*) of mantra, a continuous flow of ideation, reveals itself in the form of adept's self-awareness by divesting it of its associated images and logical structures[6].

The fundamental principle on which tantra is based is that human consciousness is permeated by the creative universal consciousness which goes on manifesting itself in a natural rhythm of outgoing and influx as in an echo, reflected form or self-introspection. For deity-realization to actualize, it is imperative for the human consciousness to master this rhythm and follow it to its origin. The ultimate reality is defined as a source from where this world arises, whereby it is

1. Ibid., p. 154
2. "Tantra is the Science of Word applied to gain communion with the Divine". – ibid.
3. Ibid.
4. The verse he refers to (p.155, 159) is Śāradātilaka (Śā. T.) 1.7 :

   सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।
   आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद् बिन्दुसमुद्भवः ॥

   The colophon and the *Padārthādarśa* commentary of Rāghava Bhaṭṭa regard the Sa.T. as a work of Lakṣmaṇagupta. But quite a few scholars do not agree. See present author's *The Krama Tantricism of Kashmir,* Vol. I, Delhi, pp. 147-149. Lakṣmaṇagupta was Utpaladeva's disciple and Abhinavagupta's preceptor in Pratyabhijñā and Krama schools.

5. Ś. Sū, KSTS, 2.1
6. Vide FIC, p. 156 (end note 8). Pande's treatment is an exact echo of Kṣemarāja, the commentator of the Ś.Sū.: "चेत्यते विमृश्यते अनेन परं तत्त्वम् इति चित्तं ..तदेव मन्त्र्यते ...इति कृत्वा मन्त्रः। अथ च मन्त्रदेवताविमर्शपदत्वेन प्राप्तसामरस्यम् आराधकचित्तमेव मन्त्रः ।" – Śiva-sūtra-vimarśinī (Ś.Sū. Vi), KSTS, p. 23

sustained and whereinto it merges back. Thus, in the Absolute as supreme consciousness, there is an innate power or energy which keeps on expressing itself alternately swinging between expansion and contraction, rise and withdrawal. This rhythmic self-presentation is what has been named as 'sphurattā' (vibration) or *spandana* (pulsation).[1] Cosmic totality and its each individual element is nothing but vibration of that Supreme Energy and all particularized energies and pulsations are multiple modes of that absolute, cosmic, universal energy and its self-expressive rhythm.[2] Will, knowledge and action constitute three steps by which consciousness expresses its creativity.[3] This 'will' *(icchā)* in itself is simply an overflow of bliss (*ānanda*), which is what defines consciousness. Thus the whole process of self-recognizing, self-expressing and self-affirming is essentially creative. Due to the voluntaristic emphasis of such a magnitude Kashmir Śaivism stands out in a class of its own separate from other gnostic systems such as Buddhism, Sāṁkhya and Vedānta. As a consequence tantric Sādhanā or praxis too does not limit itself to the quest of detached witnessing consciousness alone but seems to integrate itself with the rhythm of the universal mind, because it is within supreme ideality that the witnessing has any meaning. It is within the fold of the absolute spirit that apperceiving and creating (*prakāśa* and vimarśa, Śiva and Śakti) are the moments of that indivisible reality. The aim of human aspiration is not the attainment of the fulcrum of pure subjectivity or I-ness, it is also realization of that divinity which constitutes inner source of his being[4].

---

1. Pande draws our attention to the *Spandakārikā* (Sp.K.) vide FIC, pp. 156, 159 (end-note 9). Perhaps he has this statement of Kṣemarāja in mind : स्फुरत्तासारस्पन्दशक्तिमयशंकरात्मकस्वस्वभावप्रतिपादनायैव चेदं शास्त्रं समुचितस्पन्दाभिधानं महागुरूभिर्निबद्धम् । ... वस्तुतस्तु न किंचिदुदेति व्ययते वा, केवलं स्पन्दशक्तिरेव भगवत्यक्रमापि तथातथाभासरूपतया स्फुरत्युदेतीव व्ययत इव चेति ।" - *Nirṇaya* commentary by Kṣemarāja on Sp.K., ed. & tr. Jaidev Singh, Delhi, 1980, pp. 6-7

2. एकैव सा महाशक्तिस्तया सर्वमिदं ततम् । - Cited by Pande, EFKS (source unidentified).
Cp. Sp.K.1.19:
गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात् ।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः ।।

3 "In fact desire, knowledge and will represent three stages...." FIC, p. 156.Here "will" seems to be a printing error in place of "action".

4 Ibid.,p. 157

Essential features

Conceiving Kashmir Śaivism as a spiritual philosophy naturally calls for an indepth analysis of its essential characteristics, that is, how it proposes to distinguish itself from other philosophies. In this context Pande takes the benedictory verse of Abhinavagupta's *Vimarśinī* on Utpaladeva's *Kārikās* as embodying Kashmir Śaivism in full [1]. The benediction[2] runs as under :

> निराभासात् पूर्णादहमिति पुरा भासयति यत्
> द्विशाखामाशास्ते तदनु च विभङ्क्तुं निजकलाम् ।
> स्वरूपादुन्मेषनिमेषप्रसरणस्थितिजुषस्
> तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यात्मनिखिलम् ।।[3]

The entire reality, which is one, is identical with Parama Śiva and Śakti. Out of its own being it creates, sustains and withdraws the world within. He is devoid of manifestation, yet is not 'void' (*śūnya*). First of all, there emerges I-ness (*ahambhāva*) and then from that the duality – subject/ object, word/concept or meaning, and Śiva/Śakti. It is difficult for a person outside Kashmir Śaivism to comprehend such a real. For '*nirābhāsat*' is acceptable to a nihilist and '*pūrṇāt*' to a Vedāntin, but '*ahamiti purā bhāsayati*' is anethma for both. Emergence of "aham" is in a peculiar situation – should it be construed as the rise of bondage or end thereof. In the absence of duality, there cannot be knowledge, nor could 'I-ness' characterise Śakti. Theoretically duality arises in the state of Sadāsiva, Śiva and Śakti emanating beforehand. How then do we account for Anuttara or Nirābhāsa turning into a synthesis of Śiva and Śakti or Prakāśa and Vimarśa.[4]

In this system the ultimate reality, which is variously styled as Parama Śiva, Maheśvara or Anuttara, is essentially of the nature of consciousness (*saṁvit*). Its approach is radically idealistic in the sense that the objects of awareness are also essentially consciousness in nature.

---

1. EFKS.
2. IPV, ed. KAS Iyer and KC Pandey, Delhi, 1987, Vol.1, p.1
3. "I bow to that Absolute, which is unity of Paramaśiva and Śakti; the unity, which from its ultimate state, first of all manifests the Pure Ego 'I' and through its will, divides its power into two; the ultimate state, which being without any manifestation, is self-contained and is responsible for creation and dissolution through the play and suspension respectively of its Power" : – Tr. K.C. Pandey, IPV, Vol. 3, p. 1
4. Vide EFKS. Here a clarification will be in place. Śiva, Śakti, Sadāśiva etc. as 'categories' (*tattva*) are deemed different from Śiva, Śakti as constitutive principles of the ultimate reality. As will be seen later, Śiva and Śakti corresponding to *prakāśa* and *vimarśa*, happen to be more pivotal concepts.

But it does not mean that they are illusory or unreal. They constitute imperfect or limited self-expression of consciousness and are technically termed as *ābhāsa (=apūrṇa bhāsa)*. The supreme consciousness, though plenary, universal and eternal by itself, is intrinsically ever-creative and dynamic. It has two integral components – Prakāśa and Vimarśa. In the first aspect, it is the shining or witnessing of its own content and in the seond, it is self-reflection or self-affirmation. The term 'self-affirmation', Pande's rendering of 'vimarśa' into English, is meaningful. To explicate, in Pande's own words, "consciousness is both passive and active, registering a content and apperceiving it as self-expression" [1] This notion of consciousness is at variance with the same in Sāṁkhya where Puruṣa can only apperceive (*sākṣī*) and Prakṛti can only act. Extending the logic of Pande, this may also be construed with Vedānta where Brahman only witnesses (*sākṣī caitanya*) but has no content to witness, all appearances being superimposed on it (*adhiṣṭhāna-caitanya)*. In Kashmir Śaivism *saṁvit* is essentially self-awareness and is infinitely creative, creation being nothing but self-affirmation of the consciousness.[2]

Ātman, Brahman, Parama Śiva or Cit—they differ in name only. Ever since the Upaniṣadic declaration "That thou art" proclaimed the unity of individual or human self with the ultimate univesal reality, the concept of ātman has proved to be most central and challenging notion of Indian philosophy. The controversy surrounding ātman too has remained essentially metaphysical in approach. "Whether the self is a distinct real, whether its reality is substantial or transcendental, individual or cosmic"[3] – these are three questions, according to Pande, over which the metaphysicians have been defining their stand. In answer to these questions Kashmir Śaivism holds Self to be real, universal, transcendental and yet because of its manifesting the individual self within and from itself, remains one with the latter.

The question regarding *dharmin* and *dharma* or substance and quality etc. may either be regarded irrelevant or at the most, metaphysical because Self (substance/ holder) and consciousness (state of being/quality/property) are indivisible and one. However, if there be any compulsion, it will have to be regarded as the congnizing subject or agent[4]. But it will be such

1. FIC, p. 140
2. Ibid.,p. 141
3. Ibid.,p. 160
4. Cf. तदेवं परत्वेन प्रधानतया अभिसंधाय आत्मा चेतन इति वक्तव्ये धर्मान्तराधरीकरणाय विमर्शधर्मैकधुरीकरणाय च 'आत्मा चैतन्यम्' इति उक्तम् । - IPV, I, pp. 248-9

agent as will not be substrate of agential activity or doership *(kartṛtva)* but will rather be identical with it. This, according to Pande, necessarily leads to another query. If the essence of human self is considerably cognitive or of the nature of consciousness, could that knowledge be treated as rational or logical[1]. In the whole Indian tradition even those, who hold self to be essentially cognitive, rule out its character as consisting of determination (*adhyavasāya*) or intellectual activity. For Śaṅkara this knowledge is non-attributive and undifferentiated. In Bhartṛhari, though the whole thought is informed by word, the word in its original form is identical with *Paśyantī vāk* which in a way is equated with intuitive knowledge. In Kashmir Śaivism Vimarśa constitutes essence of Prakāśa[2], yet *vimarśa* and intellectual construct (*vikalpa*) are not deemed one. If *prakāśa* is *saṁvit* or awareness, *vimarśa* represents, its dynamism or self-affirmative activity.[3] In every instance of consciousness, in every act, Śiva alone is revealed – knowing, willing, acting, remembering, what is not known is His knowledge, awareness, real nature. This mode of knowing makes for authentic recognition (*pratyabhijñā*) : तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।[4]

The spiritual Sādhanā[5] in Kashmir Śaivism does not brook any difference between the destination-stage (indeterminate consciousness = Maheśvara), and the instrument-stage (*upāya stage* representing refineable determinate, pure - determinate, indeterminate knowledge characterised respectively by sense of duality, duality-cum-unity and unity). Śiva is called Śaktimān only in the context of power – *cit, ānanda, icchā, jñāna* and *kriyā* are His powers. Instrumental or redemptive knowledge carries all these powers of Śiva. Thus *icchā-śakti* evolves

---

1. Vide साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति (Sā. Sau. Sa.), G C Pande, Allahabad, 1994, p. 25
2. Cf. स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा । - IPK 1.5.11.
3. Sā. Sau. Sa., p. 26
4. Vide EFKS. Pande's treatment seems to imbibe the spirit of Abhinavagupta's following observation : "प्रतिभाति घटः" इति यद्यपि विषयोपश्लिष्टमेव प्रतिभानं भाति तथापि न तद्विषयस्य स्वकं वपुः, अपितु संवेदनमेव तत् तथा चकास्ति' 'मां प्रति भाति' इति प्रमातृलग्नत्वात् । तथा च वेदः, 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।' – IPV, I, pp. 349-50
5. In other words, this may be described as tantric pursuit of 'intellectual knowledge' (bauddhajñāna), as against ' innate knowledge'(pauruṣajñāna).

in Śāmbhava-upāya, jñāna-śakti in Śākta-and kriyāśakti in Āṇava-. Thus *upāya* does not have separate being from 'upeya'– उपायजालं न शिवं प्रकाशयेत् घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः[1] Pande firmly believes that "the reflection over what you are will definitely reveal more and more what you are".[2]

The system holds that Universal Self by rendering himself as the base unfolds the world, lying within, thereon.[3] The manifested world has the same relation with the ultimate reality as the reflected form with the reflecting medium, i.e. mirror. That is to say, the unity of the manifested world with the Universal Self is real, whereas the distinction a matter of subjective apprehension.[4] The absolute in its aspect as the ground of manifestation is called `light' (prakāśa), and as the power of unfoldment "judgement/consciousness"(vimarśa). What is the precise relation of emanation or the emanated world with the cosmic consciousness ? The answer is : relation of identity. For, this consciousness acts as the support of the reflected forms and also as the recipient thereof. Thus, in this system, all categories ranging from Śiva to Earth figure in the supreme consciousness as do thoughts within our mind. Owing to its will the ultimate reality unfolds itself, as if externally, without any assistance from material cause whatsoever.[5] The objective world is technically designated as *ābhāṣa*, because it is made to shine (*ābhāsyate*) by the universal mind and also because it shines (ābhāsate).

In this context the Śaiva thinkers, following the Pañcarātra school, subscribe to the doctrine of two strata of creation – pure and impure, transcendental and phenomenal. These two are popularly known as *śuddha addhvā* and *aśuddha adhvā* (lit. pure route and impure route) respectively. Two justifications loaded with philosophical undertone are forthcoming to substantiate two levels of creation. If God is the creator with all desires fulfilled *(āptakāmasya kā spṛhā)*, then in creation the role of *karma* and *nairghṛṇya* becomes defunct and if *karma*, anyhow, remains a factor which becomes condition for the creation, what is then the need of God. To

1. Cited, EFKS; Bhāskarakaṇṭha also cites this verse. Vide IPV, I, p. 48
2. EFKS.
3. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति । – P. Hṛ. 2
4. निर्मले मुकुरे यद्वत् भान्ति भूमिलतादयः ।
   अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ।। – T.A.2.4
5. चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद्बहिः ।
   योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ।। – I.P.K. 1.5.7

resolve, the Śaivas talk of pure, trans-sequential, timeless creation. The karmic creation is impure creation which directly pertains to deluded soul. The latter is not a direct creation, it is rather creation by proxy managed by pure subjects duly appointed by the God in this behalf. The other justification is that whenever God wills, his idea rooted within is ventilated, yet it continues to retain its unitary link with the God, that is, consciousness. This is what constitutes pure order of creation – from Śiva to Śuddhā Vidyā (pure wisdom).[1] Parama Śiva, the absolute, is devoid of any appearance *(nirābhāsa)* but full and perfect. From him the creation starts. The first ever beginning is that of *aham* (*nirābhāsāt pūrṇād ahamiti purā bhāsayati yat*). In the ontic terminology this state represents Śiva and Śakti categories. As a result of bifurcation into subject and object Sadāśiva stage comes into play – eg. *aham idam.* The experience of this stage is comparable to the faint apprehension in determinate perception. This is simple voluntary indistinct perception (apperception). This is *Pratibhā* (intuition/ genius);[2] this is what has been termed *Paśyantī* (seeing). By His sheer volition the object of desire (*idam* =this) is accomplished. It is perennial creation of the God, who is consciousness. When he actualizes what has been pulsating within *Īśvara* category comes into being – eg., *idam aham.* Owing to power of action, the next stage is characterized by equi-weightage of *ahaṁtā* and *idaṁtā,* though both elements remain hinged on the single subjective substrate. This is *Śuddhā Vidyā*, constituting the threshold between pure and impure creations. Whenever God wills to express himself as action, he chooses to come

---

1. K.C Pandey Memorial Lectures, lecture on 7.8.98 relating to aesthetics.

2. A note seems necessary here. In the philosophy of Grammar Pratibhā may be viewed as one with Paśyantī, but in the Śaiva monism, Pratibhā is identical with Parā (supreme/ ultimate), and not with Paśyantī. We come across two Pratibhā-related equations. Deemed as the root cause of poetry Pratibhā corresponds to Śakti catetory, the stage above Sadāśiva. Mammaṭa does call it Śakti (शक्तिव्युत्पतिरभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे). The *Tantrāloka* and *Parātriṁśikā* describe it as *pratibhācamatkṛti.* In his *Locana,* in the concluding verse of the first chapter, Abhinavagupta hails Parā Vāk as Pratibhā :

   यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।
   स्वात्मायतनविश्रान्तां वन्दे तां प्रतिभां पराम् ॥

   In the other formulation Pratibhā is identified with the supreme subject, Maheśvara, in his immanent aspect. This implies entire creation and its foundational grounding in transcedental awareness –

   या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता ।
   अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥ – I.P.K. 1.7.1

out of the pure order. The implication is obvious. Without the diminution of God into an individual subject, this familiar world of pragmatic discourse will not come into being, populated by the objects differentiated by *Apohana Śakti* (power of concealment). According to Pande, this is *Āṇavamala* (innate ignorance)[1]. He remembers Kavirajawho says that without closing your eyes you cannot look within . तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । This is what is described as immanent creation.

We concur with Pande's observation that it is through a stringent critique of non-dualistic philosophies such as Vedānta, Buddhism and Bhartṛhari that the Kashmir Śaivism seeks to establish itself as a rationalist system[2]. It adopts the methodology and ontology of Sāṁkhya as an ingredient but discards its dualism. In so doing it follows the Vedāntic procedure to a great extent. Pande surmises that due to proximity of the Śaiva monism with the ancient Vedānta as found in the upaniṣads and *Brahmasūtra* it has not attracted such exhaustive treatment as has Sāṁkhya. Approaching Kashmir Śaivism through the critique of Advaita Vedānta would have been a more viable strategy[3], but since both the traditions are ā*gamānusārī*, i.e. they derive from their spiritual or scriptural tradition, such a method loses much of its utility.[4] Interestingly Pande's view finds endorsement in Abhinavagupta.[5] It of course needs be said that the Vedānta too reaches non-duality or *Brahmādvaita* by dialectical

1. Technically *āṇava mala* is viewed slightly differently. The innate ignorance becomes operative ever since the pure creation comes into being. Even in the emergence of Śiva category *Tirodhāna, Śakti* remains active – Śiva category consists in negation of Vimarśa and rise of Prakāśa or, in other words, rise of I-consciousness and denial of this-consciousness. Apparently though, Tirodhāna Śakti and Apohana Śakti convey the same meaning, but they do sowith reference to differing contexts. As against Tirodhana Śakti which is ontological, Apohana is essentially cognitive. The ontic diminution of the universal being may be traced to Tirodhāna, whereas the cognitive or epistemic to Apohana. However, the basic spirit of Pande's observation is not impacted.

2. Reflection.

3. EFKS.

4. Reflection.

5. vide पारमेश्वरेषु तावदागमेषु शैववैष्णवरहस्येषु वेदान्तेषु च स्पष्टमेवोक्तोऽयमस्मदुक्तोऽर्थः । - IPVV

reasoning. It is through the grasp of dialectical difficulties in the notion of reality as propounded by the Naiyāyikas who swear by common sense : संविदेव भगवती नः शरणम् (every *pratīti* corresponds to a real), the Vedāntins arrive at non-duality.[1] In these reductious they primarily depend upon Śruti and occasionally on logic as per necessity. Nevertheless, under the influence of Mahāyāna on the Vedāntic dialectic, both Gauḍapāda and Śaṅkara leave behind the dynamic and creative absolute of the upaniṣads and *Brahmasūtra* and instead resort to Māyā . For Pratyabhijñā, on the contrary, essence of consciousness lies in its Vimarśa or activity. Both Śaṅkara and Mahāyāna regard all *kriyā* as *vikriyā* (distortion, appearance) hence its entry into eternal reality is barred. In the Pratyabhijñā the eternal, the continuous, must express itself in created activity[2]. Abhinavagupta[3] and Kṣemarāja[4] specially underline this gap between the two lines of thought.

The Pratyabhijñā thinkers were rather hard-pressed to take recourse to logic and inference. Abhinavagupta regards the Buddhist as the principal opponent, because the latter has no faith in the existence of Soul[5]. Since there has been no direct clash of the Kashmir Śaivism with Buddhism, their fight with the Buddhists happens to be twofold. On the one side, they critically examine the Buddhist doctrines, and on the other, they hunt for inconsistencies and weaknesses in the Buddhist attacks on the notions of the God and Self and the conceptual and rational arguments employed by the Nyāya in defence of them. In this, just as the Vedāntins find Bhāṭṭa view as compatible with their stand (व्यवहारे भाट्टनयः), the Śaiva too look up on Nyāya as suitable to common sense[6]. Viewed realistically, in structuring the reality the Buddhist logicians affirm centrality of mind or *citta* which brings them closer to the Pratyabhijñā philosophers as compared to the realism of the Naiyāyikas. Moreover, Somānanda and Utpaladeva do not show any leniency in assailing the Nyāya theories of causation, and efficient instrumentality of God. Hence this apparent show of generosity by the

---

1. EFKS.
2. Reflection.
3. .....ब्रह्मवादे मायां शक्तीकृत्य ..... सिध्यत्येष जनः । – I.P.V.V.
4. स्वतन्त्रशब्दो ब्रह्मवादवैलक्षण्यमाचक्षाणश्चितो माहेश्वर्यसारतां ब्रूते । – Pr. Hṛ., KSTS, p. 5
5. आत्मन एव सद्भावे ये विप्रतिपन्नाः .... त एव इह मूलविपक्षाः । – I.P.V.V., KSTS, Vol. I, p. 112
6. Reflection.

Kashmir Śaivists towards Nyāya in a pragramatic realm seems to have subtler implication than meets the eye. The acceptance of five-tier syllogistc process, consequent projection of the entire *Īśvara-pratyabhijñā-kārikā* (the seminal text of Śaiva logic) as constituting *parārthānumāna* and treatment of the notions of action, relation, universal etc. as practically real and efficacious is tantamount to accepting finality of the Naiyāyika positions in the ordinary life[1]. By implication, those reals (such as action, relation, universal etc.) which fail the rigorous logical scrutiny by the Buddhists and yet are necessary for the worldly transaction, acquire acceptability in the Śaiva context after passing through the Śaiva logical frame.[2]

Despite its initial fidelity to scripture, the Buddhism starts gradually moving away from the authority of āgamā. By the time of Dharmakīrti and Śāntarakṣita, who play the role of standard pūrvapakṣa for the Kashmir Śaivism, āgamas loose their relevance and we are left with only two sources of knowledge – perception and inference.[3]

Pande looks into the ideological clash between Buddhism and Kashmir Śaivism with great vision. Both the systems proceed with the dead conflicting presuppositions. On the one side is the world of changing impersonal *dharmas* and on the other, is the universe vivified by dynamicity of I-consciousness. On the one side are the God, the Self, and endurance/ permanence of subject and object. As opposed to it, on the other side, there is no God, no Self, no subjective or objective endurance. The Buddhist theory of reality is fundamentally dialectical and, for once, same is the case with the Kashmir Śaivism. The Buddhist real is identified in terms of functionality or efficacy. There are no wholes, no substances, no underlying properties, nor properties except function[4]. This theory was developed as a criticism

1. इत्येव पंचायवात्मकमिदं शास्त्रं परव्युत्पत्तिफलम् । नैयायिकक्रमस्यैव मायापदे पारमार्थिकत्वम् इति ग्रन्थकाराभिप्राय: 'कियासंबंधसामान्य' (ई.प्र.का. २.२.१) इत्यादि उद्देशेषु प्रकटीभविष्यति । – I.P.V., I, p. 43; Also see, I.P.V., II, p. 140.

2. एकानेकरूपस्य कियादे: बाह्यादे: विरूद्धधर्माध्यास-दूषणेन अनुपपद्यमानस्याप्यवश्यं समर्थनीयं वपु: । – I.P.V., II, p. 32; also see "The Pratyabhijñā and the Logical Epistemological School of Buddhism" (PLSB), R. Torella, in *Ritual and Speculation*, ed. T. Goudriaan, Albany, 1992, p. 339.

3. Pande seems to throw a veiled hint by drawing attention to this issue, though he does not develop it, that subscribing to the authority of āgama itself constitutes an extremely cogent distinctive feature of the Kashmir Śaivism. We will see somewhat more of it in the sequel.

4. Vide Reflection.

of the views of the Sāṁkhya, Nyāya and Vedānta. The Buddhist theory of change comes into being with the rejection of *satkāryavāda, asatkāryavāda* and *vivartavāda.* If at all there is causation, it can only be explained as *pratītya-samutpāda* ('law of dependant origination'), that is, causation is an ordered succession of events. Neither a thing produces anything as a dynamic agent, nor is a thing born or produced from anything. There is no mutual interaction, nor continuity between the events. Being relative every event is dependent. Appearance or apprehension of motion or endurance in the flux of similar static moments is a sheer illusion. Pragmatic entities or continuity are mental constructs superimposed upon real.[1]

The Śaiva critique, as already noticed, starts with common sense (Nyāya), but ends up with fundamentally different metaphysical conclusions.[2] In the first philosophical treatise of the system, *Śivadṛṣṭi*, Somānanda argues that cognitions such as "I know this", "He knows me" *(ahamidaṁjānāmi/saḥ māṁ jānāti)* require more than one moment. In an other argument Somānanda points out that discontinuity in the subject caused by momentariness militates against the law of *karman*. This, however, reflects the standard argument from the orthodox side. But Somānanda's further argument is philosophically important. It is this that cognition (*vijñāna*) as cognition (vidyārūpa) is "timeless, not ephemeral". A sizable section of Buddhists too regard ideal constructs (prajñapti) and transcendental objects (*asaṁskṛta dharma*) as devoid of temporality. But generally timeliness of empirical or pragmatic cognitions is a matter of practical convention (*saṁvṛti).*[3] In another argument Somānanda notes that means of knowledge such as perception and recognition etc. also negate momentariness. We can recognize only that object which lasts more than a moment and/or continue to perceive till that cognition is not contradicted or sublated. However, the Buddhist in his rejoinder declaresrecognition or determinate perception (*vikalpa*) to be an illusion resulting from similarity.[4]

According to Pande, arguments on both sides are based on the differing perceptions of reality. While the Śaiva arguments address empirical objects at the macro(*sthūla*) level, the

1. Vide Reflection.
2. Ibid.
3. Ibid.
4. .....इति सादृश्यात् भवन्ती प्रत्यभिज्ञा न ऐक्यं वास्तवं गमयितुमलम् । - I.P.V., I, p. 115

Buddhist do the same at the micro (*sūkṣma*) level. For Buddhists reality consists of *svalakṣaṇa* corresponding to sense-datum and not the *sāmānyalakṣaṇa, saṁghāta* or *santāna*, which are emperical macro objects. Causation takes place at the micro level of *svalakṣaṇa*. The Buddhists state that a moment, a point instant, can act or function only by perishing.

In the *Īśvarapratyābhijñā -vimarśinī,* Buddhism is criticized at much deeper level. No insentient object can happen or act until it is prompted by a sentient subject or prompter. All activity, therefore, is ultimately expression of active impulse. Essence of being consists in its shining in the consciousness and not in its functionality or efficacy. The doctrine of dependent origination only highlights inter-dependence of cause and effect. Causation is necessarily an ordered succession. Now for the Śaiva, dependence only means a relationship between the sentients. If causation were a necessary succession, then the Śaivists ask whether this succession is identical with the relata or different from them. If former, causation will be impossible and if latter, the causative force will be "will", nothing else, because notion of necessity can arise in will alone.[1]

Any discussion about causal relation or ordered succession leads to the wider question pertaining to the nature of relations. Here again the Buddhist reasoning is dialectical. On the one hand *svalakṣaṇa* is viewed as a causally efficient moment, then on the other, relations too, like substance, quality, action, universal etc. are conceived as logical constructions. Thus causality, being action or relation, would be a beginningless ideation, a *priori* concept, which would be applicable to *sāmānya-lakṣaṇa*, but not to *svalakṣaṇa*. Attention may be drawn to the fact that the Śaiva defence of relation and other notions too is based on the dialectical assumption of unity that permeates multiplicity.[2] Creation means differentiation which cannot eradicate unitary character of the creator who is both immanent and transcendent. Kashmir Śaivism and Buddhism both agree on one point that whereas the conceptual synthesis is traced to the apperceiving mind or *citta*, differentiation is sourced to the phenomena. But they are radically different, points out Pande, in the sense "that the Śaiva regards the categories as articulating rather than distorting the nature of phenomena"[3] as maintained by the Buddhists. This is so because the determining will of the

1. Vide Reflection.

2. Reflection. Cp. I.P.K. 2 .2.1 : क्रियासंबंधसामान्यद्रव्यदिक्कालबुद्धयः ।
सत्याः स्थैर्योपयोगाभ्यामेकानेकाश्रयाः मता ।।

3. Reflection.

empirical world is actually will of that God who is one with I-consciousness immanent in all the experiences. This further implies that though the objects and subject are essentially divine, they do not shine so thanks to the divine concealing power called Māyā. This once again highlights the Śaivists' similarity with the Buddhists that the phenomenal world produced by the transcendental illusion always comes up as a veiler of truth (*saṁvṛti*). But the difference is that whereas the Śaiva philosopher takes to analyse the experience for discovering essence of being in self-consciousness and the defining character of that self-consciousness to be universal, trans-temporal and infinite, the Buddhist does the same in quest of essencelessness of finite being, finitude wrought by delusive power of mind. The Śaiva philosopher seeks to expand his finite self-consciousness so as to touch his infinite divine consciousness. The Buddhist wants to withdraw from his delimited self-consciousness so as to reach the ineffable transcendental stuff.[1]

In some sense, both Pratyabhijñā and Buddhism are idealist systems and both share certain fundamental common features. For the Kashmir Śaivists matter and externality are regular phenomena within the māyic world. Being concretisation of Śiva's power they are real, but their intrinsic being remains obscured due to Māyā. For Yogācāra as well, reality, is pure, infinite and eternal consciousness in essence[2] and may be compared to the Śiva category (*śiva-tattva*).[3] Differentiation is not innate to vijñāna (consciousness), rather it is superimposed by *avidyā*. For both, the objects of empirical world grasped in perception and inference are real only practically, because they are obscured by transcendental illusion and it is absolutely imperative to pierce through this covering in order to attain our intrinsic nature. For both they are the objects of consciousness. The only difference is that in Kashmir Śaivism the universal subject or self-consciousness is immanent in every finite entity and cognitive act whereby it steers clear of the

1. Reflection.
2. Ibid.
3. Śiva and Śiva category are two different concepts. Originally Śiva and Parama Śiva were not distinguished. In fact, the notion of Parama Śiva, standing for the absolute reality, came into vogue when Śiva was conceived as a category with particular emphasis on *prakāśa* aspect. Thus, *Śivatattva* is the first emanation in the categorial scheme of the system. But the way ultimate reality is conceived in Yogācāra as Vijñāna, it is akin to Śiva or Parama Śiva and not *Śiva-tattva*.

difficulties posed by "solipsism and psychologism".[1] Otherwise, the principle of self-consciousness is as transcendental as that of *Vijñaptimātratā*. By extending this commonality further one finds the Buddhist concepts of *āvaraṇa, avidyā* and *vāsanā* are quite close to the Śaiva concept of malas.[2] We may add that notions of *avidyā, māyā* and *vikalpa* fall in the similar category as, in some sense, they are the extensions of the concept of *mala*.

It may be in place to go back to the respective definitions of reality in the two systems. Whereas the Pratyabhijñā defines reality as 'shining or figuring in consciousness' (*prakāśamānatā*)[3], the Buddhist defines it as 'functionality or causal efficiency' (*arthakriyākāritā*)[4], but this stand of Buddhist enjoys only pragmatic validity, since transcendental objects (*asaṁskṛtadharmas*) are said to be everlasting. On the other side, consciousness not only illumines objects, but itself flows out as action due to which objects are what they are. The whole activity including even that of the insentient objects is a manifestation of that consciousness.[5]

It is precisely the point where the core difference between the two systems comes to the fore. In Pratyabhijñā ultimate reality is not only conscious, but also consists of powers[6], inter alia, such as – *cit, ānanda, icchā, jñāna* and *kriyā*. Non-dual awareness is supreme, but it is at the same time creative and dynamic. As against this, the supreme reality in Vedānta and Yogācāra, though non-dual, goes beyond will or action. In their view it is ineffable transcendence and they look out for the cause of this manifold and changing world in beginningless *vāsanā* or *māyā* which does not negate the empirical reality instead constitutes it.

---

1. Reflection.
2. Ibid.
3. Cp. अर्थस्य स्वरूपं प्रकाशमानता प्रकाशाभिन्नत्वम् । - I.P.V., I, p. 203
4. Cp. अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः । - Nyāya-bindu 1.15
5. प्रत्यभिज्ञादर्शने हि विज्ञानवादवत् प्रकाशाभिन्ना आभासा एव गम्यन्ते । - सौन्दर्य-दर्शन-मीमांसा, G.C. Pande, Varanasi, 1995, p. 100
6. Śiva is defined as *Śaktimān* (one who is possessed of Śakti). Śakti here means *vimarśa* or its various formulations such as *visarga, kaulikī* etc. Śakti also stands for its innumerable articulations,. The cluster of five powers (*śakti-pañcaka*) is foremost among them, which is being discussed above.

It is time that attention be drawn to the enormous potential that a comparative study of Kashmir Śaivism and Buddhist logic as well as philosophy holds. Midas touch of ingenuity and equipment of scholars like Pande is earnestly awaited in this direction. At this point of time this is difficult to quantify the exchange of thought between the two, but there is no doubt that the Buddhists' impact has gone extremely deep into the Śaiva logic and metaphysics. It is instantly illustrated by the Pratyābhijñā adoption of the technical terminology of the Buddhist logic and attempt to redefine them in a spirit consistent with the core thrust of the system. *Svalakṣaṇa-ābhāsa, sāmānyalakṣaṇa(-ābhāsa), arthakriyāsāmarthya, tādātmya, tadutpatti, svabhāvahetu, kāryahetu, vyavasthāpya-vyavasthāpakabhāva,* modes of *anupalabdhi* etc. are some such concepts that buttress our approach. In regard to even such concepts which have univesal application in Indian philosophy as anuamāna, arthakriyā, it employs Buddhist technique and methodology.[1] In a similar strain Abhinavagupta.defines *apoha* and in so doing follows the synthetic approach of Jñānaśrī and Ratnakīrti. According to Ratnakīrti, the primary meaning is of the nature of positing or injunction. But this injunction or positing is characterized by *apoha,* because words fail to convey any meaning without contradistinguishing.[2] Defining *vikalpa,* in the *Iśvara-pratyabhijñā-vivṛti-vimarśinī*, Abhinavagupta precisely endorses the above contention.[3] Like Dharmakīrti, Śaiva philosophers too, reject difference between pramā and pramāṇa and, instead, uphold *vyavasthāpaka-vyasvasthāpya-bhāva* between the two. In this connection Abhinavagupta cites the *Pramāṇavārtika*[4]. But whereas in Pratyabhijñā function (*vyāpāra*) is the essence of valid knowledge, Buddhists altogether reject causal function due to their belief in the doctrine of flux (*kṣaṇikavāda*). The texts of the Kashmir Śaivism serve as indispensable source of information for light on and consequent reconstruction of several missing pages of the history of Buddhist philosophy, Abhinavagupta alludes to several philosophical sub-schools in his *Vivṛti-vimarśinī*. It

1. See PLSB, p. 329-330. Mark Abhinavagupta's definition of inference : अनुमानजा तु प्रतीतिः आभासान्तरात् कार्यरूपात् स्वभावरूपाद्वा आभासान्तरे प्रतिपत्तिः । – I.P.V., II, p.84

2. Cp. नास्माभिरपोहशब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेतः । नान्यव्यावृत्तिमात्रम् । किन्तु अन्यापोहविशिष्टो विधि :। – Apohasiddhi, ed. A.L. Thakur, Patna, 1957, Pp. 59-64

3. निषेधभानस्य हि अतद्रूपं विषयो, विधिभागस्य तु तद्रूपम्, विविधं हि कल्पनं विधीयमाननिषिध्यमानतयेति विकल्पनम् । – I.P.V.V., KSTS, II, p. 281

4. एवं यतो नीलप्रकाशः ततो 'नीलमिदम्' इति परामर्श इति एकरूपेऽपि हेतुफलभावः,यथोक्तं 'तद्वशात्तद्व्यवस्थानात्... ।' (Pra. Vā. 3.308) इति । किंच इह व्यापाररूपमेव फलं व्यापारश्च व्याप्रियमाणात् व्यापार्यमाणाद्वा अनन्याकार एव सिद्धः इति अभेदः प्रमाणफलयोः विमर्शबलेन च । - I.P.V., II, Pp. 74-75.

will be immensely interesting to watch[1] that Abhinavagupta highlights difference of opinions between Dignāga and Dharmakīrti, talks of the constraints of the latter and also why he remembers *Dharmakīrti* as authentic (*prāmāṇika*) with great reverence as compared to Dignāga.[2]

Buddhism and Nyāya both do not regard language as the original source of truth by itself. If for Buddhists language is simultaneously source of pragmatic knowledge and transcendental illusion, for Naiyāyakā it happens to be of the nature of communication[3] and its authenticity totally depends upon the reliability of the speaker or employer of language. On the contrary, Mīmāṁsakas find significative power of language inherent in the very nature of language. Word is eternal and has innate capacity to reveal the truth. This is why the Vedas are considered eternally given.[4] This view was later refined and developed in the philosophy of Grammar and Śaivāgamas. Despite mutual divergence of opinion the two systems converge on two points – one, words and meanings are bound by a necessary connection, and two, there are several subtler forms behind each uttered word. While words, according to Buddhist and Naiyāyika, are transient and convey primary or conventional meaning alone, they are considered a-temporal alongwith their inherent significative[5] power according to Mīmāṁsakas, Grammarians and Kashmir Śaivists.[6] *Varṇa* (phoneme) in Mīmāṁsā and *sphoṭa* in Grammar School, are eternal elements of word. The Grammarians posited *Śabda-brahman*, word-absolute, as a sole source of all words and meanings and identified it with *Paśyantī* (=perceiving word). Kashmir Śaivists moved further by distinguishing *Parā Vāk* from *Paśyantī* and propounding former's unity with consciousness-power

1. "By restoring the historical resonances between Helārāja's text and the texts of the two Buddhist philosophers, I hope to illuminate some of the more elliptical aspects of the *Prakīrṇaprakāśa* and perhaps account, in some measure, for the respect in which Dharmakirti, and not Dignāga, was held by the Kashmir Śaiva Schools to which both Helarāja and the great Abhinavagupta belonged." – *Bhartṛhari and the Buddhists*, Radhika Herzberger, Holland, p. 1986, p. 12.
2. प्रामाणिकोऽप्यार्यधर्मकीतिरार्यदिग्नागग्रन्थानुरोधात् तत्पक्षपातादेवम् अभिधत्ते, न पुनरस्य स्वरूचिरेषेति । – quoted, ibid., p. 3
3. FIC, p. 180
4. अतएव च नित्यत्वम् । – Brahma-sūtra 1.3.29, cited by Pande, FIC, p. 180
5. सांकेतिक शक्ति के स्थान पर अभिव्यंजक शक्ति कहना परम्परा के अधिक अनुकूल और कम भ्रामक होगा । – BPMS, p. 95.
6. FIC, Pp. 180-181.

(*citśakti*) or *vimarśa.* [1] The ultimate source of language is rooted within self-consciousness or self-affirmation of consciousness whereby spontaneity, creativity and expressiveness of consciousness is occasioned. The innate symbolism of language is neither eternal nor conventional, rather it is latent in the expressiveness of self-consciousness. Here we get face to face with the foundational insight of the Śaiva metaphysicians of Kashmir. Language in its deepest dimension is not conventional but natural, natural reverberation of consciousness.[2] To present vāk as *vimarśa* or *vimaśa* as *vāk* is to say that language does not primarily symbolize any external, insentient, material world but "psychical meanings".[3] This world is exactly the same as we render our experiences. This experience–making invariably involves referencing to Self or consciousness. Pande states in one of his papers : "It is the unity of psychic reality which makes communication ultimately possible since then it becomes a process of self-expression and self-recognition".[4] Elsewhere also, he reiterates his position : "If the language in its ordinary use is necessary part of *vyavahāra*, rightly understood it can be a ladder for mystical self-realization. Language is both *prapañca* and *mantra*."[5]

Certain observations at this juncture may be found useful towards bringing out the inner logic of Pande's formulation of linguistic theory of Kashmir Śaivism. Here *vāk* is distinguished from other systems by its stress on the agential dimension as compared to the linguistic dimension. "Speaking"("*vakti*") here is tantamount to "doing the act of speaking" (*vācam karoti*). This "doing" or "acting" is internal to the knowing-self logically culminating into self-affirmation. This

---

1. केचित् पारमेश्वरीं विमर्शशक्तिमेव शब्दमूलं वदन्ति । – भक्तिदर्शनविमर्शः, G.C. Pande, Varanasi, 1991, p.30
तथा च प्रत्यभिज्ञामतम् । – ibid. note 58, p.36; Cp. I.P.K. 1.5.13 :
चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ।।

2. FIC, p. 181; cp. "प्रत्यवमर्शश्च आन्तराभिलापात्मकशब्दनस्वभावः, तच्च शब्दनं संकेतनिरपेक्षमेव अविच्छिन्नचमत्कारात्मकम् । – I.P.V, I, p. 252

3. FIC, p. 182

4. "The Life and Death of Language", G.C. Pande, in *Diogenes*, 51, pp. 193-94

5. FIC, p. 182

vāk is reduced to self-referring gnostic agent-hood (*ātmavimarśanakartṛtā*).[1] Besides, *śabdana* (sounding) stands for *śabdana-kriyā* and not for *śabda* (word)[2]. Abhinavagupta partly concedes ground to the Buddhist in viewing 'sounding-function' (*śabdana-kriyā*) as inherently contra-distinguishing (apohanātmaka)[3] and partly advances Bhartṛhari's line of thinking in considering the worldly transactions as being effected due to "superimposition" (*adhyāsa*) of the denoter on the denoted.[4] The sounding-function or 'signifying activity' (*abhilapana*) is integral to subjective autonomy and is represented by reflection *(vimarśana)* in its universal mode and by linguistic construct in its particular mode. The word and sounding-function (the denoter and the denoting-function) are two different things. While word is an epistemic object, sounding-function happens to be reflective activity which aims at conveying former's meaning. It is from this angle that 'word-meaning' (*śabdārtha*) is depicted as word-function (*śabda-kriyā*) reducing word and meaning both to be reflectional in nature.[5]

In the background of the aforesaid discussion one may be able to appreciate better the rationale behind the enormous importance accorded to āgama in Śaiva metaphysical scheme as presented by Pande. Revelation is possible because it is expression of something which is already contained in the supreme reality itself.[6] At the level of *Madhyamā* self-expressiveness of consciousness gets mixed up with logic and conceptualization. Buddhists have convincingly

1. वक्ति विश्वम् अभिलपति प्रत्यवमर्शेन इति च वाक् अतएव चिद्रूपतया स्वात्मविश्रान्तिवपुषा उदिता सदानस्तमिता नित्या अहमित्येव । - I.P.V., I, pp. 193-194

2. वचनं हि शब्दनं न वागिन्द्रियजन्यः शब्द इत्यर्थः । ... श्रुतिगोचरीकार्या या शब्दनक्रिया शब्दोत्थापिका क्रिया ब्रूते जल्पति वक्ति इत्येवं । - I.P.V.V., II, p. 275

3. सर्वा प्रमेयेषु प्रतिपत्तिरपोह्याभासारोपनिषेधव्यापारान्तः कारिणी निश्चयप्रतीतिरूपत्वात् । - ibid; p. 29

4. तदयं वाचकस्वरूपाध्यास एव वाच्यत्वं, तदध्यासश्च वाचकत्वमुत्थापयति । - ibid : p.267

5. वाच्यं शब्दलक्षणं कर्म। निर्वर्त्यमर्थलक्षणं च प्राप्यं येषां, तथाविधा अपि शब्दार्थाः शब्दक्रियाश्च उक्ताः । .... श्वेतगुणसत्ताशब्दाश्च प्रमातृभूमिपतिताः प्रमात्रा विमृश्यमाना विमर्शे लोलीभूताः पूर्वापरीभूतेन विमर्शरूपेण उपबृंहिताः श्वेतते - भवति - ब्रूते इत्यादिक्रियारूपभाजः । - ibid; p. 278; also see *काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ*, Navjivan Rastogi, Delhi, 2003, 78 ff.

6. आगमस्तु नाम आन्तरशब्दनरूपो दृढीयस्तमविमर्शात्मा चित्स्वभावस्य ईश्वरस्य अंतरङ्ग एव व्यापारः प्रत्यक्षादेरपि जीवितकल्पः । - I.P.V., II, pp. 84-85: also, आगमस्त्वपरिच्छिन्नप्रकाशात्मकमाहेश्वरविमर्शपरमार्थः किं न पश्येत् । - ibid., p. 213

demonstrated that imagination or intellectual constructing has no basis in the structure of reality.[1] The Śaiva distinguishes *vimarśa* from vikalpa, *cidrūpapratyavamarśa* and *vikalparūpa-pratyavamarśa* respectively in typical Śaiva parlance, yet unlike Buddhist, regards logical constructions as being grounded upon reality with the only difference that *vikalpa* presents reality in pragmatic form diverting attention from its intrinsic being. In such a scenario, if a philosophy is āgama-based and āgama is construed as translation or descent of *Parā* into *Vaikharī*, the problem arises how to coherently resolve the gap between original revelation and the historically available revelation. The available philosophical doctrines obviously relate to the historically available āgamas. This makes revelation suspect. Śaivas, according to Pande, use the instrumentality of *Sattarka* in order to obviate such a contingency.[2] Śaivas view *Sattarka* as part of the process of self-affirmation of consciousness or that of the process of comprehending āgamas : अंगीकृतस्तु सत्तर्को योगांगेषु तथापि च ।[3] In *Śāktopāya* which is intimatily connected with awakening of mind (*cittasaṁbodha*) or refinement of thought constructs (*vikalpa-saṁskāra*) or gnosis ((jñāna), *Sattarka* assumes a lot of value. *Sattarka*, translated as right logic or logic proper, means – visualization of truth through reality-oriented reflective thinking. It is somewhat akin to Vedānta which also hints at the possibility of self-realization from hearing alone for the seekers at higher plane. This *Sattarka* is equated with *Śuddhā Vidyā* , which signifies pure knowledge[4] and is God's will in essence. Now this *Sattarka* takes us to the Absolutic self-affirmation by eliminating the intervening gap between the original revelation and temporally available revelation.

Thus Pande, with reference to non-duality of word and sounding-function, word and meaning, concludes in his characteristic manner : "वैदिक साहित्य में जिसे वाक् और मन का, अथवा वाक्–प्राण

---

1. EFKS.
2. Ibid.
3. This citation by Pande from an anonymous source could not be traced to the *Tantrāloka* and other texts.
4. सत्तर्कः शुद्धविद्यैव सा चेच्छा परमेशितुः । - T.A. 4.34

का मिथुन कहा गया है, उसे वैयाकरण शब्द और प्रत्यय का अनुवेध, बौद्ध गण शब्द और विकल्प की अन्योन्यहेतुकता, एवं काश्मीरी शैव आचार्य प्रकाश और विमर्श का तादात्म्य बताते हैं । वाक् को चेतना की अर्थरूप में आत्मप्रकाश की शक्ति कहा जा सकता है ।"[1] Pande finds this thesis extending up to aesthetics. As he perceives it, the infinite universe of *rasa* (which in itself consists of suggested meaning) proceeds from this unity of word and meaning exactly as the world of experience does from the union of Śiva and Śakti.[2] Moving further, Pande transcends beyond his immediate context when he envisions the potential road map for national reconstruction and cultural renaissance symbolized by the celestial union. In the words of Pande himself: "राष्ट्रीय सफलता शिव और शक्ति के मिलन के बिना संभव नहीं है । आचार और व्यवहार में इसका अर्थ होता है प्रवृत्ति और निवृत्ति का कर्मयोग के रूप में समन्वय । अनुभूति के क्षेत्र में इसका अर्थ होता है विषयों का आत्मालोक के रूप में परावर्तन जो उनके रूप के असंश्लिष्ट दर्शन को संभव बनाता है ।"[3]

Navjivan Rastogi

1. BPMS, p. 95
2. FIC, p. 275
3. BPMS, p. 118

Professor G.C.Pande on the Origins of Buddhism

S.R.Goyal

Professor G.C.Pande is undoubtedly one of the greatest philosopher-historians of India. He has produced original works not only on ancient Indian history and culture but also on philosophy, religion, metaphysics, philosophy of history, historiography and numerous other branches of Indology. The very fact that a national seminar is being held on his thought and works is a proof of his multidimensional genius.

But the first love of Professor Pande has been Buddhism and he initially became famous for his thesis Studies in the Origins of Buddhism for which he was awarded D.Phil degree by the University of Allahabad in 1947.[1] By that time much had been written on early Buddhism and Mrs.Rhys Davids had already raised the all-important question: what was the original message of Buddhism ? Her pointed query had rudely disturbed the almost settled composure of Buddhist scholarship, for as soon as it is admitted that the original mandate of Buddhism might have been something different from what it is traditionally reported to have been we are forced, as Professor Pande pointed out, to adopt a more critical and a more historical outlook towards the problems of Buddhist origins.

Professor Pande divided his thesis on the origins of Buddhism into three Parts— Studies in Early Buddhist sources entailing a stratification of scriptures, studies in the historical and cultural background of early Buddhism which included a study of the life and personality of the Buddha, and studies in the early Buddhist doctrines with a view to reconstructing as far as possible the original teachings of the Master.

The method that was then usually adopted for stratification of such ancient texts was a combined application of linguistics and the scale of cultural evolution. Through

1. Published from Allahabad in 1957.

this method many scholars had attempted to determine relative chronology of Vedic hymns and the epics.[1] Broadly Professor Pande also adopted ~~the~~ this method to determine the chronology of the different layers of early Buddhist scriptures and to put the ideas contained in them in their proper historical context. As even the earliest available collections within the Buddhist canon are of uncertain date and heterogeneous contents, they do not preach a uniform set of doctrines and contain within themselves the seeds of multiform growth. A critical-historical approach to ancient Buddhism therefore, he argued, most certainly entails the stratification of the Nikāyas and the Āgamas and their study with reference to their historical and genetic relationship.

Professor Pande on the Broad Chronology of the Early Buddhist Texts

According to Buddhist tradition, the Vinaya and the Sutta Piṭakas were compiled immediately after the death of Buddha in the First Council held at Rājagṛha. Oldenberg and Franke did not believe in the historicity of the First Council mainly on the ground that the Mahāparinibhānasutta gives not a word about the session of the Council. But as Jacobi pointed out that it was not really necessary for the Mahāparinibhānasutta to go out of its way to describe the Council. However, even if the First Council is not regarded as pure fiction, its nature and work remain uncertain. That the huge mass of the Vinaya and the Sutta Piṭakas was "recited" in the First Council is, of course, obviously impossible, though a beginning in the direction, might have been made. However, lack of certain evidence makes it difficult to reach any conclusion.

---

1. Bloomfield, M., 'Relative Chronology of the Vedic Hymns', JAOS, Vol. 21, 1900, pp.42-49; Bloomfield, JAOS, Vol. 31, 1910, pp.49 ff. Relative age of the Rāmāyaṇa and the Mahābhārata has been discussed by Winternitz, History of Indian Literature, Vol.I, pp.505-08.

The years following the Parinirvāna appear to have been marked by a process of growth ~~both~~ with respect to the rules of both Vinaya and Dhamma. The Saṅgha grew in wealth and membership and its organisation became more complex. The original teachings must have left room for interpretative divergences, and the Theras in the various communities would act not only as the transmitters of tradition but also as commentators with the result that the original message began to be embedded in scholastic growth. In the Nikāyas, in spite of occasional discrepancies there is a general impression of homogeneity and though Saṅghabheda is feared, it is not assumed as an actuality, except perhaps at a very few places. The Nikāyas, thus, appear to reflect the first and earliest period of the history of Buddhist thought when the Saṅgha was, in appearance at least, doctrinally one. Further, if the Kathāvatthu was composed (or at least some parts of it) in the reign of Aśoka, as the tradition asserts, the Nikāyas would have to be placed at the latest in the first half of the 4th cent. Further, frequent and direct references of the Kathāvatthu to the Nikāyas, and stylistic and doctrinal considerations suggest that the greater part of the Nikāyas should be placed prior to the composition of the Kathāvatthu.

But some scholars doubt the historicity of the Third Council. The more plausible opinion seems to be that the Third Council did take place, although it was a sectarian affair. That Aśokan edicts are silent over the Council may also be explained by the supposition that he was not as intimately connected with the Council as the Pali tradition would have us believe. An examination of the Bharhut and Sanchi inscriptions also shows that "some time before the second century B.C. there was already a collection of Buddhist texts, which was called 'Piṭakas' and was divided into five 'Nikāyas', that there were 'suttas' in which the 'Dhamma'...was preached, that some of these agreed with those contained in our Tipiṭaka, and that Jātakas of exactly the same kind as those contained in the Tipitaka, already belonged to the stock of Buddhist literature..." Lastly, if the entire Pali Tipiṭaka was written down in Ceylon in the first century B.C., the Nikāyas should go back to the 3rd century B.C. at least.

Thus, concludes Professor Pande, the evidence for ascertaining the chronology of the canon, of which the Pali version is still available in its entirety, is small, but it may be asserted that the growth of the Nikāyas falls between the 5th and the 3rd centuries B.C. The fact that the Nikāyas take but slight notice of the issues contested by the earliest sects certainly suggests that they had practically reached completion in the 1st century A.D. The silence of the Vinaya over the Third Council suggests that it had reached completion in the 1st two centuries after the Buddha. The silence of the canon over Aśoka, which contrasts so strongly with later traditon, is also significant in this respect and suggests its antiquity.

Criteria of Stratification

As regards the general criteria which may help us in stratifying the Nikāyas, Professor Pande describes it thus: The evolution of the Nikāyas falls between the age of the Upaniṣads and that of the Abhidharma and other Buddhist sectarian literature. This provides us with a general sense of direction in trying to discover what is early and what is late in the Nikāyas. The growth of monastic learning and of philosophical analysis and controversy led to increased complexity, subtlety and system in the realm of ideas, till the message of Buddha was converted into a stupendous scholastic philosophy. At the same time the spread of Buddhism among the people led it to imbibe many elements of popular religion and helped the apotheosis of Buddha. Pari passu with this orientation in doctrinal change there was a corresponding change in the style of expression which tended to lose simplicity and spontaneity and poetic vigour in favour of dry-as-dust abstract scholastic formulae. Linguistically, too, the change may be seen in the use of new technical terms and in the development of new technical senses for old words. As regards the state of doctrinal evolution within the Nikāyas there appears to have been a steady growth of metaphysical interest resulting in increasing enumeration, classification and definition. There was also the growth of a systematic Buddhist theology including the infiltration of the deities of local cults, especially among the "Bhummā-Devas" (earth-gods) and the "Nāgas". But the most far reaching theological trend was the apotheosis of Buddha. The idea of a Being incomparably superior to all creatures, including gods, and from time to time incarnating, actually or apparently, according to a fixed norm (Dhammatā) solely out of compassion, was entirely new. The change that came over the concepts of "Saddhā" and of "Omniscience" is also significant in this respect. Similar was the great extension of the practice of Thūpa-worship, which came to acquire a quite exceptional importance for later Buddhists. There was also the growth of the physiognomical dogma of the thirty-two "Mahāpurisalakkhaṇas". // Literary style is also a critorion for stratification. In general, an older style is revealed by its striking simplicity, spontaneity and earnestness. In response to the needs of scholastic

controversies and of the inculcation of dogmatics among the novices, a dry-as-dust style came into being. There was also a considerable development of what may be called the "Purānic", or perhaps the "Mahāyānic" style. It is characterised by its wealth of narrative and descriptive material, by its predominantly mythological character, by its toleration of miracles, and by exaggeration in numbers (of years, followers, converts, distances etc.) Many suttas reveal patchwork. It was but natural in view of the fact that they were transmitted down long and independent lines of reciters steeped in later ideas, formulae and interpretations, who never had a single standard linguistic expression, and underwent probably more than one editorial revision. Many times the old texts were merely "retouched", or lists of adjectives are lengthened or cut down, or conventional beginnings or endings added. Vocabulary and other linguistic features may also be used as indicators of the age of a text or of its part. Unfortunately, uncertainty besets many of our word-histories, which have, in any case, not been comprehensively worked out. The test from vocabulary is indeed important, but it is in most cases dependent on the view taken of the evolution of ideas in early Buddhism. Professor Pande has given a list of the words which through change in their meaning or importance indicate the age of the compositions in which they occur. According to Thomas the expansion of geographical knowledge towards the south and the west indicates a relatively later character of the reports. An "extension" of geographical knowledge, however, is difficult to prove. Even in the 6th century B.C. Kosambi had political connections with Avanti and presumably with the adjacent states to the north-west; and traders plied in caravans along the great highways to the North and the West. It may be recalled that Rhys Davids has argued for the great antiquity of the Anguttara list of the Sixteen Mahājanapadas.

It, however, stands to reason that there was a geographical extension of the Buddhist Saṅgha, and it must have taken place along the trade routes. Warlike relations between Avanti and Magadha, shortly after Buddha's death may have retarded just as well as promoted the westward movement of the Buddhist monks. The materials, unfortunately, for reconstructing the pre-Aśokan geographical expansion of the Saṅgha is inadequate.

According to Winternitz the poetical pieces were not at first generally recognised, ~~that~~ their claim to be regarded as sacred texts was contested and ~~that~~ they were only later on combined into a Nikāya, namely the Khuddakanikāya. But Professor Pande argues that verse is a greater conserving medium and in oral transmission likely to be more conservative than prose. Besides, in our texts, where prose and verse occur together, it is impossible to say in general whether the one or the other is older. In short, the verse-form is in itself of no stratigraphic significance. The political data of the Nikāyas belong almost wholly to the age contemporaneous with Buddha. As regards social data it is unlikely that it will throw much light on the problem of Nikāya stratification.

Professor Pande on the pre-Buddha Background

Professor Pande studied the emergence of Buddhism in the light the evolution of Indian moral, philosophical and religious concepts of the pre-Buddha period and in this connection underlined the significance of the discovery of the Indus civilization. When the Indus civilization first came to light Marshall described it as non-Vedic and pre-Vedic, a view which was still the dominant one when Professor Pande wrote his dissertation. Marshall and his supporters had mutatis mutandis argued that the Aryans worshipped natural forces while the Indus people conceived their gods in the form of images. Vedic people were pastoral, Indus people enjoyed urban life. Aryans were a warlike people, Indus people were peace-loving. Vedic people were illiterate, Indus people knew and practised art of writing. Aryans knew and used horse for transport and military purposes, the Indus people did not know this animal. Further, the mature phase of the Indus civilization was over while the Aryans were still in West Asia. It was the decadent phase of the Indus civilization which was destroyed by the Aryans. Later on M.Wheeler also held the Vedic Aryans responsible for its destruction. Stuart Piggott was generally of the same view. In his Studies in the Origins of Buddhism Professor G.C.Pande also wrote that after the discovery of the Indus civilization we can no longer regard the course of Indian history as the career of a victorious Aryan civilization contaminated increasingly by the force of indigenous barbarism. On the contrary, the Aryan invasion of India must be regarded as "the arrival of barbarians into a region already highly organised into an empire based on a

long-established tradition of literate urban culture. This is a veritable Copernican revolution!" He also conceded that undeniably some of the most important elements of the religious life of latter-day India go back to the Indus Civilization. Among these may be mentioned the worship of a proto-type of Śiva, who is represented as Paśupati, Yogī, and perhaps Naṭarāja; of the Mother-Goddess, of the pīpal tree, and of the bull and some other animals associated with the gods. Phallic worship and the great sanctity that has ever been attached to water in India may also go back to the Indus Civilization. Most important, the definite occurrence of a cross-legged posture with the out-stretched palms placed on the knees, and the probable occurence of what looks remarkably like the Śāmbhavī Mudrā seem to suggest that the beginnings of Yogic practice in India may also belong to the Indus Civilization. The worship of gods in a personal and iconic form, as a kind of 'pujā', has been traced back in India to pre-Aryan sources, which ought to include the Indus Civilization too. As regards the date of the Indus Civilization he expressed the view that the Aryan invasion of India cannot be placed much later than 2000B.C. Now if we regard 2300B.C. as the mean date in the career of the Indus Civilization, which was then "in full flower", we get the period 2800B.C. 1800B.C. as the possible date of this civilization. This will harmonize well with the evidence of Archaeology, Vedic philology, Ancient Indian history, and ancient Near-Eastern history.

But recently in his Vaidika Saṃskriti, published from Allahabad,[1] Professor Pande has adopted an altogether different view which is nothing but a complete U turn from his earlier position, another veritale Copernican Revolution! In this work he holds that known facts do not prove that the Vedic and Indus Civilizations were basically different. Their cultures differed in styles but they did not necessarily belong to two different ages and regions. He now also believes that the Vedas were composed in 3000 B.C., or earlier than that, in the region streching from the Gaṅgā and Sarasvatī to Afghanistan. Thus the Indus and Vedic cultures both flourished in the same general period and in the same region. He now supports the view that Aryans also knew puras (that is, cities). The Vedic culture may not have been urban, but its co-existence and contemporaneity with an urban civilization is not impossible.

1. Allahabad, 2001.

The Indus civilization could very well have been the urban aspect of rural Vedic culture. The Indus people no doubt knew image worship while Vedic people propitiated their gods by sacrifices. But on the one hand the fact that Vedic gods were also conceived in anthropomorphic form and, on the other, the discovery of fire-altars at Indus sites have brought the Indus religion quite close to the Vedic religion. The difference in sacrificial ritual and image worship, he now asserts, does not prove the separateness of the two civilizations while the discovery of horse bones at Indus sites has weakened the validity of the argument based on the supposed ignorance of the Indus people of this animal. The problem of the literacy and illiteracy of the two civilizations depends on the questionable assumption that the Vedic Aryans did not know art of writing. Thus the Indus and the Vedic civilization could have coexisted both in time and space or could have been the two aspects of the same culture. This conclusion, Professor Pande argues, agrees well with all the available evidence as of now.

Evolution of Religious Ideas in the Vedic Age

However, as seen above, in his Origins Professor Pande has expressed the view that cultural development in the Vedic Age must be understood as a growing fusion of Aryan and Non-Aryan elements, which produced towards the close of the period a veritable revolution in religious ideas. We can discern in the Vedic period, outside the strictly Vedic pale, wandering groups of ascetics some-times styled as Munis who were "the precursors of the strange ascetics of later India." As late as the 4th cent.B.C. the Greeks noted the distinction between Brahmana and Sramana, whom, still later, Patañjali described as eternal opponents. As regard the Śramaṇic world view we might loosely say that the Śramaṇas were ascetic, atheistic, pluralistic and "realistic". The essential basis of their world-view seems to have been the idea of samsara—of karman and transmigration. Thus, in the Vedic period there existed two distinct religious and cultural traditions—the strictly orthodox and Aryan tradition of the Brāhmaṇas, and, on the fringe of their society, the straggling culture of the Munis and Śramaṇas, most probably going back to pre-Vedic and pre-Aryan origins. Towards the close of the Vedic period, the two streams tended to mingle and the result was that great religious ferment from which Buddhism originated.

However in later years a change came about in Pandeji's views on the place of Śramaṇic tradition in Indian culture. As noted above in his thesis he describes the Śramaṇa tradition as pre-Vedic and non-Vedic. At one place he observes: "It appears that originally the Āśramas recognised in the Vedic tradition were the first two. All the while, outside the strictly Vedic pale, were wandering groups of ascetics, sometimes styled the Munis, When towards the close of the later Vedic period Brahmanic values had undergone a great change more friendly and more fruitful communion with these Munis or Sramanas appears to have taken place. In other words, the ideal of the ascetic appears to have come down to the Jains and the Buddhists, not from the Brāhmaṇas, but from previously existing 'heretical' ascetic sects. As a matter of fact, the ascetic ideal was even then in the process of being absorbed by the Brāhmaṇas.

It is easy to see how the age of Buddha provided both the necessary conditions of the rise of asceticism. It was an age of great spiritual vitality, when the clash of rival schools and sects and basic points of view fed the flame of spiritual quest. At the same time it was an age of frequent and bloody wars and of much economic change. These circumstances must have created a feeling of distress and despair in the minds of many. Thus when the circumstances were ripe the old seed of a continuing ascetic tradition from remote protohistoric times found a suitable soil and burst into flower.

However later on Professor Pande came to hold that it would not be correct to hold that Pravṛtti and Nivṛtti belong to different ethnic and historic strata. In his Śramaṇa Tradition: Its History and Contribution to Indian Culture,[1] he does not chracterise the Śramaṇic tradition as non-Vedic and pre-Vedic and discerns the elements of Pravṛtti and Nivṛtti both in the Harappan civilization.

The Upanishadic trends towards pantheistic speculation and preference for knowledge to ritual action, commenced in the last period of the Middle Vedic Age. In the Brahmana texts future existence, at least of a blessed character, is assured to a man only through the correct performance of sacrifice while even the gods had a definite origin in birth and acquired their immortality through sacrifice. The Upanishadic doctrine

1. Ahmedabad, 1978.

of transmigration has ever been closely and essentially bound up with a number of other ideas without which it would be impossible. These are: the idea of the soul as something distinct from the body, immortal, and "pure" by nature; the idea of "Karman" as a more or less foreign and accidental factor which nevertheless entails a strict subjection to the laws of moral causality; and, finally, the idea that all worldly joys are worthless with a deep-seated urge for Mukti. The idea of an inflexible moral law extending far beyond the grave was quite beyond the ken of the priests of the Brahmana-books. Therefore the sources of this doctrine must have been the Munis and Sramanas, who harked back to pre-Vedic times. Thus in Upanishadic period there arose in a section of thinkers great dissatisfaction with the type of thought found in the Brahmanas. These thinkers, grappling with the problem of the nature of ultimate reality, came to the conclusion that it was something inexpressible though its immediate experience was the summum bonum of human life. The ideal for which one must strive is the attainment of freedom (Moksha) from Samsara.

Religious Condition of the Age of the Buddha

After discussing the Vedic background, Professor Pande has discussed the social and intellectual tendencies of the age of the Buddha and Mahavira in order to identify the forces which contributed towards the crystallization of Buddhism an a religious movement. By that time, in India the age of "migrations and settlement" was over, and the territorial element had attained supremacy over the tribal in the organisation of the state. The country was divided into a number of Janapadas which included monarchies as well as republics. Further a trial of strength was taking place between the monarchies, and, between the monarchical and the non-monarchical forms of government. The contest plainly showed the decline of republics, the rise of absolutism, and the growing success of Magadhan imperialism.

The ruling class was comprised by the Kṣatriyas and their kinsmen some of whom the growth of towns and commerce and the organisation of trade and craft into guilds and the emergence of money involved critical changes in social life including of fabulously rich merchants who patronized the new religious movements. However, Dr.Pande rejects the suggestion of any affiliation between the rise of Buddhism and Jainism and the emergence of a class of wealthy merchants.

of common people, for whom the essence of their faith must have consisted in the performance of a time-worn ritual. By this time a sharp contrast had developed between Brāhmanical religion which was formalistic, ritualistic, and at heart quite worldly, and the new departure of the Upanishads, which tended increasingly in an esoteric and ascetic direction, and in which ritual act is often replaced by that of knowledge, and sometimes by that of theistic devotion. There was a growing cleavage of ideas about the fundamental values of life, which resulted in the adoption of Moksha as the summum bonum in addition to the Trivarga. The scheme of the Caturvarga thus became completed, and the Vedic religion became truly a synthesis of Pravrtti-dharma and Nivrtti-dharma. This change found its social reflection in the formulation of the theory of the Four Stages of Life in the Dharmasūtras. According to some scholars Buddhism and Jainism arose out of this anti-ritualistic tendency within the religion of the Brāhmanas. But Professor Pande believes that the anti-ritualistic tendency within the Vedic fold was itself due to the impact of an asceticism which antedates the Vedas. Jainism represented a continuation of this pre-Vedic stream, from which Buddhism also sprang, though deeply influenced by Vedic thought.

The diversity of social conditions was reflected in the variety of religious life. The worship of the Yakṣas was widespread. The Yakṣas were spirits, often connected with trees. They granted wordly desires, especially progeny and wealth. They have very often the character of local deities or patron saints, though some of them seem to have been associated with cosmological functions too. Some of the Yakṣas appear to have been gradually taken up in Brāhmaṇical and Buddhist pantheons. The people also worshipped various kinds of lowly beings like the shades of the departed, evil spirits, and various animals such as elephants, horses, cows, dogs and crows. Popular festivals were held in honour of "Indra, or Skanda, or Rudra, or Mukunda, or demons, or yakṣas or the snakes, etc. With this may be compared the "Samajjā" which is referred to in Buddhist literature. The ideas of heaven and hell seem to have played an important part in popular eschatology. We meet with a very vivid conception of hell in Jaina literature, although such a picture is wanting in Vedic texts. The emergence and prevalence of the idea of Karma probably accounts for the difference.

The Brāhmaṇas formed a proud caste in this epoch and they placed before themselves the ideal of a priest's and teacher's life. But in practice, many Brāhmaṇas were not priests; some of them were engaged in administration, some were landlords and yet others were petty cultivators, and lowly serfs.

..12

The growth and spread of asceticism was the most characteristic feature of the new religious life then springing up in north-east India. However according to Professor Pande the supposition that the theory of the four Āśramas was well established in pre-Buddhist times is an assumption without proof. "The word Āśrama does not occur in the Saṁhitās or Brāhmaṇas." That the theory of the Four Āśramas was not an old and settled theory in the times of the Dharmasūtras appears from the irregularity of the nomenclature adopted by them in this respect. It appears that originally the Āśramas recognised in the Vedic tradition were the first two. All the while, outside the strictly Vedic pale, were wandering groups of ascetics, sometimes styled the Munis. In other words, the ideal of the ascetic appears to have come down to the Jainas and the Buddhists, not from the Brāhmaṇas, but from previously existing 'heretical' ascetic sects. The ascetics were divided into many classes. The most marked cleavage was between the orthodox and the heterodox. The Brāhmaṇa attitude was not so uncompromising towards secular life; it envisaged renunciation, but only after the proper fulfilment of social duties. The difference of attitude towards caste must have been another dividing line between the orthodox and the heterodox. Orthodox opinion prohibited any one except a Brāhmaṇa or a Dvija from becoming a Parivrājaka, while in the Buddhist saṅgha all the four castes merged like rivers in the ocean, renouncing their former names and lineage. The orthodox view, again, frowned at any formal "renunciation" for women, while, as a matter of fact, they could and did join some of the heterodox ascetic orders. The Parivrājakas wandered alone, or banded themselves into communities under a spiritual leader— Satthā, Gaṇācariyo, etc. ~~Thus the Ājīvakas seem to have had a much looser organisation than the Nigenthas.~~ Buddha's institution of an Order without a supreme head was a revolutionary novelty in this respect. Mendicants who had renounced the world were intellectually active but with a spiritual seeking, and their purpose was to practise "Brahmacarya" in the sense of "discipline for the realization of the Most High.

//In the age of the Buddha 'kammavāda' and 'kiriyāvāda' with their diametrical opposites, 'akammavāda' and 'akiriyāvada', seem to have been the most discussed problems. Both the Jainas and the Buddhists claim to have been believers in kammavāda and kiriyāvāda. According to B.C. Law there is no difference between 'kriyāvāda' and 'karmavāda' and both denote the doctrine of action. But it is more likely that some difference was maintained between the two terms. Roughly these terms signified that the miseries of man are not caused by Time, Destiny, Chance or Soul but by his own actions, because human actions contain a binding moral force the results of which cannot be escaped. This doctrine was thus opposed to 'Sassatavāda' (the doctrine that the ultimate reality is śāśvata or eternal) and 'Adhichchasamuppada' (the hypothesis of fortuitous origin) both leading to the conclusion that no action can be called moral or immoral, for either it does not occasion any change or it is not a free act. Among other philosophical theories of the age of the Buddha reference may be made to kālavāda. It is referred to in the Atharvaveda and the Mahābhārata also. "Struck by irresistible tragedy of time and impressed with a sense of Fatalism one spoke of time with awe and in superlatives." Svabhāvavāda seems to have had a point of contact with Sāṅkhyan as well as Gosālian views. ~~discussed below.~~ It recognised the theory of development through immanent forces but denied free will. Niyativāda believed in niyati or Necessity which may mean either a natural (causal) or supernatural (fatal) or moral (karmic) or logical necessity. Opposed to it was yadṛchchhavāda which denied the principle of causality itself.

The non-Vedic Śramaṇa religious bodies are known to us only through references to their teachers and tenets scattered in the vast literatures of the Buddhists and the Jainas. The Vinava refers to Āḷāra Kālāma and Uddaka Rāmaputta with whom the Buddha had personal contact before his Enlightenment. From the Vinaya it appears that the famous teachers of north-eastern India were called 'titthiyas'. The term originally did not belong to any particular sect, though the Buddha sometimes used it in the sense of heretics. The religious teachers whom the Buddha described as heretic (titthiya/tīrthakara) are: Pūraṇa Kassapa, Pakudha Kachchāyana, Makkhali Gosāla, Ajita Keśakambalin, Sañjaya Belaṭṭhiputta and Nigaṇṭha

Nātaputta. The Chullavagga contains an account of a supernormal magical show by Piṇḍola Bharadvāja with regard to a sandal-wood alms-bowl which a śreshthī of Rājagṛha got fixed on the top of a bamboo declaring that it will be his who could take it from there with his supernatural powers. Among those who claimed such powers but were proved unsuccessful were Pūrana Kassapa, Makkhali Gosāla, Ajita Keśakambalin, Pakudha Kachchāyana and Nigaṇṭha Nāṭaputta. Their doctrines very probably did not last long, except those of the Jainas and the Ājivikas.

Life and Religious Quest of the Buddha

Professor Pande made a fresh study of life of the Buddha with a view to correlating his teachings with the major events of his life, and quest, psychological experience. A complete biography of Buddha is not ~~to be had~~ found in the Pali canon. Four suttas in the Majjhima, however, describe the days of his wandering in search of Truth. In several more suttas, spread over the four Nikāyas and the Mahāvagga, there are references to Buddha's Enlightenment. The Mahāvagga further attempts to narrate the history of the days following the sambodhi, just as the Mahāparinibbāna sutta pieces together fragments relating to Buddha's last days and tries to build a continuous narrative. Besides, there are incidental references in the Nikāyas which shed some light on Buddha's personality. It seems that the earlier disciples of Buddha paid much less attention to his life than to his teachings, and were inclined to regard him as essentially a human being. Within a century, however, the situation began to change through the gradual apotheosis of Buddha and accounts of his life were embellished and systematised in accordance with the requirements of Buddhological theories.//Certain evidence for Buddha's life is small. Only the leading events and features can be historically delineated. The date of Buddha's birth is now usually fixed at 563 B.C. The place of his birth would have been the chief city of the Śākyas, Kapilavatthu, the ancient site of which was probably near the place where the Lumbini P.E. of Aśoka has been found. The Śākyas are described as proud Khattiyas of pure descent, though at the same time the Brāhmaṇa gotra of Gotama is ascribed to them. On the other hand, the tradition of close inter-marriage associated with them suggests some non-Aryan affinities. The administrative and the more important judicial business of the clan was carried out in public assembly,

at which young and old were alike present. The headship of the state was vested periodically in an elected chief entitled Rājan. Economic life was simple, and rested on villages surrounded by rice fields, pastures and forests. Against this background the story of Buddha's having had in his early life three different palaces for the three seasons does not appear very plausible. From the Mahāvagga narrative, the name of Buddha's father appears to have been Śuddhodana. Mahāpajāpati Gotamī is mentioned at several places in the Vinaya and the Nikāyas, but her relationship with Buddha is not explicitly specified in the latter. The miracles attending Buddha's birth and the prophecy of Asita has little claim to be regarded authentic. On Buddha's education the earliest records are just as silent as they are on the name of his wife or wives, a point regarding which later traditions contradict each other exceedingly. Rāhula figures as a monk at several places in the Nikāyas, but is not called Buddha's son. At the age of twenty-nine Buddha "went forth" into the homeless state. Later traditions assert that the crisis came on suddenly and was caused by the first sight of old age, sickness, death and an ascetic. But it seems difficult to believe that the "Bodhisattva" could have lived for twenty-eight years without encountering sickness, old age, death and asceticism. The silence of the Nikāyas over the story deepens the doubt. A sutta in the Aṅguttara tells us how through reflection over the subjects of old age, sickness and death he lost all pride of youth health and life. It is quite intelligible that meditation on the fact of old age, illness and death should have induced Buddha to renounce secular life. This simple tradition appears to have become transformed into the picturesque story of later times. A factor that aided the transformation may be found in the popular usage which called old age etc., "divine messengers" (Devadūtas). It was now supposed that the gods actually arranged for Buddha the sights of an old man etc. so that he might reflect on the ills of life. Literary effect rather than historical fidelity dominates the whole treatment.

Even as a boy Buddha seems to have been of a serious, meditative temper. He must have early seen wandering mendicants in his home town, "the place of the tawny-clad" (Kapilavatthu). Buddha's quest had two closely associated aspects: on the one hand, he sought the extinction of the

passions and desires for this impermanent, unsatisfactory world; on the other, he wanted to attain to eternal peace. He sought the way to "detachment, to absence of passion, to cessation, to abatement, to higher knowledge, to full enlightenment, to Nibbāna." His quest was for "what is good— the peerless way of desirable peace."

The precise circumstances under which the actual Abhi-niskramana took place are no longer known. But there is no reason to believe that it was a sudden revolution. Buddhist theology, in the spirit of modern psychology, interprets it to have been the final upshot of a long period of anterior preparation.

Then followed several years of restless wandering and seeking. The names of only two teachers under whom Buddha sought spiritual instruction are mentioned in the Nikāyas. They are Āḷāra Kālāma and Uddaka Rāmaputta. Under them Buddha learned to attain to the third and fourth "immaterial trances" (Arūpa Samāpattis) respectively. The trances were, however, considered unsatisfactory by him since they did not lead to the quiescence of passions, and "higher knowledge" (Abhiññā), and thus failed to answer his quest.

Passing through the land of Magadha, Buddha approached the town of Uruvelā. Here he set to practice effort (Padhāna). At first he sought to control the mind by a frontal assault. He is described to have gritted his teeth and pressed his tongue to his palate. He found, however, that the procedure resulted in excessive heat in the body and much unrest. Having convinced himself that he had as much of austerities as anyone else and yet had not attained to the goal, Buddha abandoned the ascetic path. Now through the practice of Jhāna ~~Buddha~~ obtained Enlightenment which consisted in the intuitive knowledge of Reality in its twofold aspect and spent several weeks enjoying the bliss of emancipation.

According to Thomas the whole story of the contest with Māra is a mythological development. Rhys Davids has attempted to see in the Māra- story "a subjective experience under the form of objective reality". The struggle with Māra, Professor Pande believes, was really a psychological struggle with secular temptations. According to Vinaya, Buddha remained four weeks at the Bodhi-tree after obtaining Enlightenment. After this

comes in the Mahāvagga narrative the acceptance of Tapussa and Bhallika as lay disciples, which is followed by the description of Buddha's hesitation to preach and the final decision to engage in preaching at the entreaty of Brahmā.

According to the Majjhima narrative, having decided to preach, Buddha thought of the proper recipients of his message. His former teachers Ālāra and Uddaka had died recently, but the Five Bhikkhus were still alive and at Banaras. All this information was received by Buddha apparently in a psychic manner. ~~On his way to Banares~~ The Pancavaggiyas were at first hostile but were converted.

After this point there is no continuous narrative of Buddha's activities in the Nikāyas. The narrative in the Vinaya, however, goes further and describes the conversion of Yasa and his friends, the sending forth of the first missionaries, the conversion of Kassapa--the leader of the Jaṭilas, the delivery of the Fire sermon, the conversion of King Bimbisāra and the conversion of Sāriputta and Moggalāna--the former disciples of Sanjaya.

A systematic description of the traditional account of the days of Buddha's ministry has been given by Kern and Thomas and N.Dutt. The tradition, however, is for the grater part post-canonical. The authenticity of much of the information supplied by them must remain uncertain in the absence of earlier evidence though some information about the spread of Buddha's doctrines during this period may, be gleaned from the Nikāyas and the Vinaya. It appears thus that geographically the sphere of Buddha's activities embraced principally the kingdoms of Kosala and Magadha.

Reconstruction of the Original Teachings of the Buddha

There has been much controversy over the "correct" interpretation of such points of Buddhist doctrine as Pratītya-samutpāda and Nirvāṇa. Now the ancient canonical texts are themselves not quite agreed on these points, which is intelligible enough since the texts in question are spread over a considerable period of time. The "original gospel" assumed various forms in the course of its development. Therefore Professor Pande has tried to reconstruct the original teaching of the Buddha by removing the webs which have enveloped the original sayings.

... 18

Professor Pande begins his search for the original teachings of the Buddha with an analysis of the Four Noble Truths. That the doctrine of the Four Noble Truths was included in the original teachings of the Buddha can hardly be doubted. The weight and importance attached to it in all texts prove it, though Mrs.Rhys Davids held a contrary view. But her skepticism has not met general approval. Her view that the word dukkha used in the texts points merely to the ills of body and mind and lacks a conception of ills in the spiritual realm, also does not seem to be convincing. According to G.C.Pande "such expressions as define dukkha in terms of birth, disease, old age and death should...be understood symbolically, not literally. When the Buddhist, contemplating life was sorely distressed to see its limitation and uncertainties, he was surely feeling what may be called spiritual discontent...he did not mean merely to speak of a discontent of body and mind, but rather of discontent with body and mind, and this latter is the form of all spiritual discontent.

Pratītyasamutpāda or the law of dependent origination was a great contribution of the Buddha to the philosophical thoughts of India. That the formula ~~is the most ancient one and~~ in some form or the other goes back to the Buddha himself is proved by the universally recognized importance of the idea, its equal obscurity, and its occurrence in some of the most ancient passages of the Nikayas testify to its authenticity." The Buddha inculcated the belief that the universe is anichcha (impermanent or ever-changing). At the same time he maintained that it is dukkha and in startling opposition to the Upanishadic philosophy also apparently taught that it is anatta, i.e. without a non-changing abiding entity called attā(atman) or soul.

Since there is nothing permanent and everything is in a state of flux, it automatically follows that the soul as a self-subsisting entity does not exist. Soon after the upasampadā of the Pañchavargīya Bhikshus the Buddha gave a discourse to them on the theory of anātman (anatta) and emphatically stated that the heresy of individuality is due to the misapprehension of one of the five constituents (khandhas) as the soul. When asked directly, the Buddha is reported to have refused to answer the question about the existence of the ātman either positively or negatively. Pandeji opines that in this regard the Mādhyamika approach seems to be the only correct one. When the Buddha did not speak positively or negatively about the ātman or the Tathā-

gata, he indicated his position most precisely. "Ātman and Anātman, existence and non-existence, do not possess ultimate adequacy. One must avoid such 'extreme' or categorical characterizations and try to follow the Middle Path in Metaphysics as in Ethics."

The Doctrine of saṁsāra or rebirth has a prominent place in the ancient systems of Indian thought. Most of the Indian religions adhere to it in some form or other. Professor Pande believes the doctrine of rebirth originated among the munis and śramaṇas of the Vedic age. From them it was adopted by the Upanishadic thinkers. Buddhism accepts this concept of rebirth but unlike Upanishadic thinkers rejects the notion of the transmigration of a spiritual entity. According to Buddhism there is the rebirth of personality or of the psycho-physical complex—the nāmarūpa skandhas.

Karmavāda or theory of moral determinism represents one of the prime themes in Indian philosophical speculations and social life. As noticed earlier according to Pandeji, "the idea of an inflexible moral law extending far beyond the grave" was quite beyond the ken of the priests of the Brāhmaṇa-books. But the full realization of the implications of the theory of karman, Dr. Pande argues, was tantamount to a complete revision of the old Vedic eschatology and was destined to usher in a silent revolution. In the period subsequent to the Upanishads, the doctrine of karman acquired immense significance. Buddha's contemporaries held a variety of views on the subject of the origin of dukkha. The most important of these was the theory of karman held by the Buddha himself, Mahāvīra and the philosophers of some other Śramaṇa sects.

For the Way to Nirvāṇa the Vinaya uses two terms, paṭipada (pratipadā) and magga (mārga) side by side. As pointed out by Professor Pande, it will be a mistake to suppose that the Buddha preached the Way in the form of a neat and precise formula. According to the traditional view, the three sections of the Way, sīla, samādhi and paññā were divided into eightfold path (Aṭṭhāṅgiko Maggo) by the Buddha himself. ~~It is sometimes believed that the Ashtangika Marga represents an original teaching of the Buddha~~. Many passages from the Nikāyas, the most important occurring

in the first Sermon [redacted], are quoted in support of this view. But according to G.C.Pande had the Buddha himself taught the Ashṭáṅgika Mārga then, in view of the later fame of the idea, a more positive proof of it would have been preserved. "In fact it would not seem wise", he opines, "to attribute the formula of the eightfold path to Buddha himself in the absence of more convincing evidence. It is probable that he spoke only of the middle way between the two extremes of sense-pleasures (Kama sukha) and austerities (Attakilamatho), while it 'crystallized' as eightfold later." // Nibbāna or nirvana is regarded as the summum bonum for a Buddhist. The Buddha himself deliberately avoided any positive answer to the question: what is nibbāna ? He regarded it as beyond any discussion (atarkāvachara) avyakrta or akathanīya. According to the Mahāvagga the truth or dhamma realized by the Buddha at the time of Enlightenment consisted of the paṭichchasamuppāda and nibbāna. The attainment of nirvāṇa makes one different from ordinary mortals. He becomes omniscient, all-enlightened, and released; he remains unpolluted by every thing and enjoys perfect calm. According to G.C.Pande the evidence of the Buddhist texts "cumulatively suggests an Absolutist position and supports the Mādhyamika interpretation. As on his death the Buddha was like a flame blown out by the wind, he could do no more for his disciples; he therefore urged them to take the dhamma for their refuse (śaraṇa). It tends to make the triśarana formula—the Buddhist confession of faith (I go for refuge to the Buddha; I go for refuge to the Doctrine; I go for refuge to the Order) meaningless though the antiquity of the formula can hardly be doubted for it is frequently mentioned in the canon and occurs in the Bhabru edict of Aśoka.

GCP: Canon falls between the upanishads and the Abhidharma.

4/3/03

PROF. G.C. PANDE ON JAINA ETHICS

-BY MUKUL RAJ MEHTA

Prof. G.C. Pande has presented his thoughts regarding almost all Indian Philosophical schools. Jainism, being an important part of Indian history culture and philosophy, has also attracted Prof. G.C. Pande to think and write something on it. I understand that his first work related to Jainism, appeared in April, 1963 in the form of an article titled- "The Life of The Upper Classes in The Earliest Jaina Literature". It was published by Rajasthan Jaina Sabha in Mahavir Jayanti Smarika, which was edited by Pt. Chain Sukhdas Nyayatirth. Prof. Pande's view in the article is that the earliest Jinist texts are so exclusively occupied with the life of the ascetic that it is impossible to glean from them any considerable information regarding secular culture. There is also the additional difficulty that information about secular society is fuller in those parts of the canon which abound in myths and legends of a very uncertain chronological position.

Consequently to build a composite picture of society by utilizing all the information scattered in the Jinist canon[1] would hardly be a permissible procedure; it may give us a picture not true of any particular time or place. It must be remembered that the Jinist canon took its present shape in the period from c.300 B.C. to the fifth century A.D., a period of much political, and hence probably much social change.[2]

A lecture on "Role of The Idea of *Kriyavada* in Jaina Logic" was delivered by Prof. Pande in the University of Rajasthan in 1974. Prof. Pande delivered two lectures on Jainism, which were held under the auspices of Shri Raj Krishen Jain memorial Lectures Committee, University of Delhi, on 3rd and 4rth February, 1977. The lectures entitled

"Jaina Ethical Tradition And it's Relevance" and "The Jaina Conception of Knowledge And Reality And It's Relevance To Scientific Thought" were well attended and highly appreciated by the newly and fast emerging Indological circles of Delhi.[3] These lectures were published by university of Delhi in 1977 in a book form entitled "R.K. Jain Memorial Lectures on Jainism", which is a rare book now a days.

In the same month and same year (that is February 1977). Prof. Pande delivered three lectures in the L.D. Lecture series at L.D. Institute of Indology, Ahmedabad. These lectures were published by the institute in 1978 in a book form entitled "Sramana Tradition : It's History And Contribution to Indian Cuture". The first lecture deals with the *Sramanic* outlook on life and its impact on Vedic thought as developed in the *Upanisads*. The second lecture brings out clearly the salient features of moral and social outlook of Sramanism. The learned scholar maintains that the *Dharma* which *Asoka* sought to preach in his edicts represents the quintessence of the *Sramanic* ethos for lay life. He concludes the lecture by declaring that Sramanism constitutes a system of universal, rational and ethical religion which is wholly non-sectarian, as applicable and relevant today as it was 2500 years ago. The third lecture is devoted to the *Sramanic* critique of Brahmamism. The author acquaints us with the rational *Sramanic* criticism of casteism, validity of the Vedas and idea of God. His concluding words are memorable. He says: *Sramanic* atheism is not a variety of irreligion. It faces the evil and suffering of life squarely and attributes it to human failings rather than to the mysterious design of an unknown being. It stresses the inexorableness of the moral law. No prayers and worship are of any avail against the force of *Karman*. It emphasises self reliance in the quest of salvation. Man needs to improve himself by a patient training of the will and the purification of feelings. Such purification leads to an inward illumination of which the power is innate in the soul or mind.

This is quite different from the Vedic view where illumination comes from outside, either from an eternally revealed word or from the grace of God.

His introduction to the three lectures is thought-provoking and illuminating. Therein he clearly brings out the distinction between culture and civilization, and shows how they are inextricably intertwined in the historical process. Again, he successfully attempts to demonstrate the origin, development and dialectical interweaving of two attitudes of *Pravrtti* and *Nivrtti* in Indian Culture.[4]

On the invitation by Prkrit Bharati Sansthan, Prof. Pande delivered six lectures in the centre for Jaina Studies, University of Rajasthan , Jaipur, in 1984. These lectures were on the topics like- 1- The vedic Hiererchical Theory And It's Jaina Critique, 2-Political Ideas And The Ethos. 3-The Jaina Puranic Tradition. 4-The Tradition of Niti. 5-The Jaina Niti Tradition: Hemachandra and 6-Concluding Reflections. These lectures were published in a book form entitled "Jaina Political Thought" from Prakrit Bharati Sansthan and Centre for Jaina Studies jointly in 1984. This book was well appreciated by scholars, being a rare book of its's own kind. Prof. Pande says regarding his approach on the subject that "By Jaina political thought I mean political thought consistent with the basic principles of Jaina religion and philosophy. The political ideas expressed in avowedly political works by Jaina authors claim to belong to this category but do not exhaust it. Reflection on political reality and ideals in the light of the Jaina tradition indeed constitute an inexhaustible vein because it includes within itself creative possibilities".

Prof. Pande says " It may be objected that my definition of Jaina political thought is too wide. A good deal of political thought being purely secular and technical would be consistent with Jainism or for the matter of that with any religion".[5]

In the present paper I would mention some thoughts of Prof. G.C. Pande regarding Jainism on the basis of his one comprehensive article entitled "The Jaina Ethical Tradition and It's Relevance." The origin of the Jaina tradition has been generally attributed in critical scholarship to a reforming or protestant movement from within the earliest Vedic tradition. He had argued nearly 55 years ago (at the age of 24) that we ought to accept the existence of an ascetic tradition in India prior to the sixth century B.C., a tradition which was contemporary with but independent of the Vedic tradition.[6] Since then several scholars have tended to identify this hypothetical non-Vedic ascetic tradition with the Jaina tradition prior to *Mahavira* and *Parsva*.[7] The resultant is only a reaffirmation of Jaina tradition views under the aegis of supposedly historical scholarship. Prof. Pande says "Personally I would like to sound a note of caution from the point of view of critical history. I have no doubt that the Jaina tradition goes beyond *Parsva* but how far and in what shape, remains wholly speculative. Vedic texts do refer to ascetics who appear to have been different from the usual seers and sages but we cannot identify them further. The important thing to note in this context is that the Vedic tradition accepted asceticism only gradually and with some reluctance".

Prof. Pande says that it is thus fair to assume that while the older Vedic tradition emphasized the values of social obligations and their fulfilment through ritual and sacrament preparing man for widsom ultimately, there existed by its side another tradition, less known and fugitive, the tradition of Sramanism which was characterized by its doctrine of *Samsara* an its attendant attitudes of pessimism and mendicancy. Now an analysis of the earliest portions of the Jaina canon reveals that Sramanism thus characterized could well summarize the original *Nirgrantha* doctrine. In this sense it would be correct to say that the Jaina tradition gives us the earliest and most authentic version of an ancient Sramanic stream of thought

which can be distinguished from the well known orthodox Vedic tradition. How challenging the situation was, we must seek to realize through an effort of the imagination in view of the habit acquired by our later experience of treating such contradiction as part of a syncretic harmony where the orthodox and the heterodox, Vedic and non-Vedic tradition cooperate as elements of a larger and catholic Indian tradition. Theory and practice of Jaina ethics would not be intelligible unless it is placed in this socio-historical milieu. The *Nirganthas* challenged the absoluteness of social obligations, relating them to the lower, egoistical nature and passions of man. Against these social obligations they placed the obligation of man to follow his own spiritual nature.

The Jainas, however, strongly held that action has reality and relative freedom and that it needs to be regulated by principles which can be discovered through spiritual intuition and through the tradition of wisdom in which such intuition has found expression.

Regarding the analysis of Action, Prof. Pande tells that the Jaina view is said to be the affirmation of the soul, affirmation of action, affirmation of the world.[8] Action or *Kriya* has its source in the innate spontaneity or power *(virya)* of the soul. This purely spiritual power of the soul provides the apperceptive focus (*upayoga*) to the mental activity which includes diverse conative states and impulses and their resultant disposition and effects. Mental activity in turn induces physical motion and the result is the inflow of material particles, in particular, of the infinite and ubiquitous subtle particles of *Karman* which contact the soul and cover up its parts in diverse ways.[9] This is the process of Yoga and Bandha.[10] From the innate freedom of the spiritual will to its getting helplessly caught in the meshes of *Karman*, this is the process of action which generates *Samsara*. Right conduct is the reversal of this process, leading from bondage to freedom.

It follows, thus, that action is a real complex of spiritual, mental and physical elements with a variables degree of freedom such that the complex may be tending towards its erosion or enhancement.[11] In as far as the soul forgets its true nature and follows the directive of desires and passions, it moves downwards and outwards into the vortex of matter and into greater ingorance, bondage and suffering. At every level action remains the expression of the soul's energy and its power to cause a real change (*Parinama*) to itself and its environments.[12] When the soul acts through a passion-tainted mind, it gets involved in the obstructive accumulations of matter but it can start shedding this burden and move inwards and upwards.

Action is conceived as twofold, as motion (*Parispanda*) and as change of state (*Parinama*).[13] The soul in its state of freedom has an innate upward motion[14] and a pure change of state in terms of the operation of its infinite qualities of power, knowledge and bliss. In the state of bondage the soul is the cause of its own good and evil mental transformations and the motions of the physical body are appropriated by it. The basic activity of the soul is its casual functioning in relation to its own states, the making of the soul of itself through its own functioning.[15] In all its psychic activity through which the soul determines itself, it functions through its own power and remains within a process of self-determination though its resultant accumulation of matter functions as a concomitant causal factor.[16]

At the same time, action effects a real change in the world. Although action simultaneously connects the soul and the world, it does not require that the soul should abandon its autonomy wholly. The reality of action and the autonomy of the soul in this regard, are thus fundamental Jaina tenets and form the basis of Jaina ethics. Although common sense does not doubt the everyday experience of the reality of free will and of

human action affecting the environment, a number of schools and sects in the days of *Mahavira* and later questioned the truth of such assumptions and advocated naturalistic, deterministic and illusionistic views. The Jainas vigorously contested these.

Regarding the doctrine of *Karman*, Prof. Pande says that the general answer to the moral question accepted by all the non-materialistic schools was in terms of the law of *Karman*. The doctrine of *Karman* extended the casual law to the moral realm. It held that good and evil deeds have a necessary causal connection with the experience of happiness and unhappiness. Since this is intended in a more than psychological sense there was obviously need for a mediating agency which would connect *Karman* with its result which might be separated from it widely in time and space. Brahmanical systems tended to postulate God as the agency which rewards or punishes good and evil deeds. Jainism, like Buddhism, however, attributed an unseen power to *Karman* itself which brought about its results at the appropriate time. One implication of this doctrine is that the distinction of good and evil must be held to be objective and independent of subjective relativity. Another implication is that action must be held to create an unconscious and persistent force which remains connected with the psyche of the agent and has the capacity of directing it into situations appropriate to its own fruition and controlling the affective reactions of the experience arising from such situations. Beginning as a state of the mind or *Bhavakarman*, action generates a bodily resultant, *Dravyakarman* or *Pudgalakarman*.[17] That good and evil are originally distinct states of the mind, is commonly accepted by the Jainas and the Buddhists.[18] The distinction is not one of obedience or disobedience to a divinely proclaimed law but one of innate quality which may be subjectively perceived in terms of emotional direction. The Jainas and the Buddhists, however, differ in relation to the nature of the force

generated by action. The Buddhists think of it as an unconscious psychic force, a latent disposition-*Vasana* or *Samskara*-which is responsible for the projection of the world which is appropriate to the psyche. It is in the idealistic school of Buddhism that this doctrine becomes fully consistent and reaches its highest effectiveness. The Jainas, however, think of the resultant of psychic action in terms of an accumulation of matter which is absorbed by the soul. This matter is subtle and invisible consisting of extremely minute particles which form infinite aggregate (*Vargana*). These attach themselves to different points on the location of the soul.[19] These Karmic material aggregates are of eight basic types (*mula-prakrti*) and mature on different occasions.[20] Their maturing obscures or distorts the faculties of the soul.

This materialistic interpretation of *Karman* is quite distinctive of the Jaina tradition. It has been condemned as primitive and, then again, admired as scientific. The infinite will or *Virya* of the pure spirit is reduce and transformed in the state of bondage to the threefold Yoga viz., physical, mental and vocal activity which constantly depends on the operation of material factors. There can be no doubt this way of looking at *Karman* as involving an unconscious force arising out of the soul's willingness, but limiting its freedom, linking together the psychic and physical processes and determining the course of experience in terms of its affective dimension, is a plausible hypothesis seeking to explain the facts of moral life.[21]

Free will and determinism are, however, so interlocked that the total rejection of either involves the other in difficulties. The Jaina answer to the paradox of action is itself dialectical. To be is to change and yet persist[22] and the soul is as much subject to this law as matter. The soul and matter are directly the causes of their own changes and are in this sense free from heteronomous determination or interaction with something absolutely distinct.[23] Nevertheless they have a

beginningless association and their changes provide occasions for the changes of each other. In this sense just as reality involves change as well as persistence, action involves autonomy as well as heteronomy. The distinction of two levels, *Vyavahara-naya* and *Niscaya-naya*, is accepted but both are accepted as real. The soul's association with matter is as real as its dissociation in liberation. While wrong action strengthens this bondage, right action tends towards liberation. In the state of liberation this duality of right and wrong action is ended and replaced by a kind of action which does not produce any Karmic results.

The effort at withdrawal from *Samsara* constitute the next level. This efforts, as is well known, is twofold. It involves restraint or *Samvara* and rejection or *Nirjara*. This process, again, may be practised in a whole time and whole-hearted manner, or under the constraint of ordinary worldly life, thus giving rise to the two streams of morality, that of the householder and that of the ascetic. Above these two lies the level of *Paramartha* or *Niscayanaya*. To this level belongs the life of the perfected ones where the soul shines forth in the glory of its innate omniscience and wholly passionless and selfless spontaneity. If the soul is externally entangled at the first level functioning as a *Bahirātman*, and seeks to withdraw into itself as an *Antarātman* at the second level, it can only be described as functioning spiritually and yet cosmically at the third level, the level of *Paramatman*. The meaning and relevance of ethics varies at these three levels of the soul.

According to Prof. Pande, the Jainas formulate quite clearly that desire and aversion, pleasure and pain, are not pure psychic elements; on the contrary, they depend on bodily structures and objects and their presence misdirects the psyche into the ways of spiritual evil. Since sensuous desire and pleasures are radically evil, the moral quest becomes a negative spiritual quest. To understand the evil implied in

psychophysical activity and experience and seek to abandon it, this becomes the objective of the wise man. But the Jainas go beyond mere askesis and consider bodily life as an ultimate evil which must be shed through the destruction of *Karman* or *Nirjara*. *Nirjara* is attained by external asceticism including the mortification of the flesh and the practice of virtues, study, renunciation and meditation.

Speaking about the spiritual development, Prof. Pande says that moral life in the usual sense is only a prelude to spiritual transcendence. Training in the practice of virtues, the strenuous abandonment of all natural life, total transcendence into the pure perfection of the spirit-these are the three stages of ethico-spiritual development. The Jainas have mapped out this whole development into fourteen stages called the *Gunasthanas*. *Gunas* stand for specific characteristics of the Jivas as constituted by faith, knowledge and conduct while *Sthana* indicates a stage of purity. *Guna-sthanas*, thus, stand for particular stages of purity through which the character of the soul evolves. False belief is rejected in the second stage while self-control becomes habitual from the sixth. Passions are left behind beginning from the eleventh stage and activity finally in the last stage.The four causes of bondage-lack of right belief, lack of self-control, passion and activity- are gradually shed in this process. These factors are abandoned in this order is not necessary since the order of the *Gunasthanas* need not be chronological.

In the ultimate analysis the concept of the good is the concept of what ought to be attained while the concept of evil is the concept of what ought to be abandoned or avoided. This knowing and avoiding are together termed 'comprehension' or '*Parijna*'. The good ultimately is the spirit, and the evil, the contact of the spirit with matter. Out of this contact arise desires and passions, delusion, egoism, activities motivated by them, and violence. All these constitute and generate evil. On

the other hand, nonviolence, restraint and self-control, equanimity between self and others, rational discrimination, dispassion, etc. constitution virtues. All these could be described under the subjugation of the body, senses and the mind and detachment from their bondage.

Further, Prof. Pande says that such a notion of morality does not distinguish it from spirituality. It is often assumed that morality characterizes social behaviour while spirituality relates to man's inner personal life. Alternatively one could say that morality regulates man's relations with other men and is an essential stand of the social order. Spirituality, on the other hand, characterizes man's relation with himself or God. Jainism conceives the operation of moral rules to extend to man's relations with subhuman and superhuman living beings as well as to his dealings with himself at different levels.

Regarding *Caritra* and *Jnana*, Prof. Pande says that Jainism rejects the notion of revelation as the source of moral knowledge just as it rejects sensation and calculation as the means of discovering what is good for man. The source of morality or *Caritra* is in knowledge and faith which are the natural powers of the soul. The source of evil is the *Karmic* obscuration of these powers. The ultimate form of this knowledge is *Kevala-jnana* and from that arises the tradition of scriptural knowledge or *Srutanjnana*. Of these, *Sruta-jnana* is verbal knowledge, conceptual and indirect. On this view right action depends on right knowledge i.e., what we ought to do comes to be indirectly a function of what there is. In fact, the function of knowledge is only to remove the obstruction in the way of action taking place in accordance with the nature of its subject as well as its direct and indirect subjects. Dharma or moral law is nothing but the natural form of action or *Caritra*. *Caritra* is action and being in accordance with nature.

From the Jaina *Tattva* point of view, Prof. Pande's vision is that of the nine *Padarthas*, sin and virtue are held to be reducible to *Asrava* and *Bandha* which are psychospiritual relations and processes. *Asrava* and *Bandha* are only the *Vailbhavika paryayas* of the *Jiva* while *Samvara, Nirjara* and *Moksa* are its *Svabhava paryaya*. Soul and matter are the only two substantial reals. All the other categories, *Padarthas* or *Tattvas*, are only their relations and changes produced by such relations. One might go further and say that the soul is the only moral and spiritual category. When the soul acts independently by its own nature, it acts rightly. When it acts under the influence of matter, it acts wrongly and dependently and enters that self-perpetuating cycle of evil which is called *Samsara*.

Jaina ethics, thus, is squarely grounded on Jaina metaphysics. It rejects the inevitability and ultimacy of sensuous values and does not accept ordinary common sense or social opinion as the basis of moral judgement. Jaina ethics is not the abstraction of an actual social ethics. Nor does Jaina ethics have a theological basis as in the case of the Vedic tradition. The contrast with Buddhism, again, is worth mentioning. For the Buddhists right and wrong are dispositions of the will and are discoverable by anyone in terms of the emotional tone which accompanies the acts of the will. Ethics here has a purely psychological basis. The *Akusala hetus* or wrong motives are parallel to the Kasayas of the Jainas but whereas the Jainas look forward to the soul realizing its true nature, the Buddhists deny the soul itself and are left with a classification of psychic states on the basis of their intrinsic nature as good and evil.

Explaining the concept of *Himsa*, Prof. Pande tells that the forcible, and distorting impact of the activity of one substance upon another is the basic meaning of violence. Matter does violence to the soul by obscuring its faculties and

leading it in time to participate in a similar species of causal activity in relation to other souls. This activity being an activity of the soul, has a necessary moral character while being of the nature of forcible intervention in the being of other souls, regardless of their feelings or nature becomes ethically evil. This is '*Himsa*' an activity of the soul induced by matter and heedless of the true nature the soul and of the sameness of this nature for all the souls.

Prof. Pande justifies the Jaina rejection of God by describing Jaina point of view. He mentions that freedom, immortality and God represent three necessary presuppositions of morality. Freedom and immortality are obviously well preserved in Jainism. God, however, is rejected, His place being taken up, party by Karma and party by the perfected soul in the state of omniscience and functioning as a moral teacher. The theory of Karma postulates a sufficient casual connection between present good and evil actions and their distant consequences in terms of happiness and unhapiness. This connection in the absence of an all powerful divine agency remains mysterious to the understanding. Of the two functions of God for the moral life, viz. ensuring a just order where men get their deserts and presenting a realized moral ideal of perfection, while the first function is thus reserved for '*Karma*' in Jaina theory, the second is performed by the soul itself in its ideal of perfect state, exemplified objectively in the lives of the saints. The normal danger of the acceptance of God in theistic religion is that it slackens the moral will and effort on account of the sense of sin or diffidence or the desire to rely on God and place one's burden on Him. This danger is altogether avoided by Jainism which makes a clarion call for total self-reliance "You are your own friend. Why do you seek a friend from outside?"

Regarding *Anuvrata* and *Mahavrata,* Prof. Pande says that If the Jaina monk seeks to live by a total denial of

property, sex, egoistic family relationships and violence, the Jaina laity has always been a prosperous and powerful community where rulers, ministers and merchants have lived a full and successful life. The doctrine of *Anuvratas* is consistent with the bodily and social needs of men and also serves to train them towards the *Mahavratas* in due course of time. Of all the *Mahavratas* the first and the greatest is *Ahimsa*. It has been called the ultimate essence of *Dharma* or righteousness by the Hindus, Buddhists and the Jainas alike. And yet it remains undisputed that the Jainas have laid the greatest stress on it.

Regarding *Ahimsa* and *Vrata*, Prof. Pande's view is that The Jaina doctrine of Ahimsa is distinguished by its apparent extremism arising from the peculiar Jaina doctrines of the soul and *Karman*. *Ahimsa* has been described as the chief of the '*Vratas*'. *Vrata* again has been defined as a deliberately adopted rule laying down what is to be done and how it is to be done, thus excluding what is not to be done. The *'Vrata'* thus becomes in effect an avoidance or a *'Virati'* It has described as a psychic state consisting in withdrawal or *'Nivrttiparinama'*. It is not, however, wholly a negative concept. Deliberately engaging in good action in accordance with a rule also falls within the scope of *Vrata*. That is why *Vratas* are not subsumed within *'Samvara'*. *Vratas* include positive actions (*Parispandatmaka)*. From the standpoint of *'Niscayanaya'*, '*Vrata*' is really a withdrawal of the will from alien objects and willing the self and dwelling within it. Externally it implies compassion on beings while subjectively it means the abandonment of the passions. In this sense, *Vrata* is the same as the purification of conduct-'*Caritra'*. According to the range of the objects to which the *Vrata* applies it is divided into the two categories of *'Mahavrata'* and *'Anuvrata'*. Thus, *'Ahimsa'* as an *'Anuvrata'* implies withdrawal from gross violence and behaviour, whereas as a "*Mahavrata*"it implies withdrawal from all evil of the nature of violence at any level-mental, vocal

or physical-whether done personally or caused to be done by another or approved.

'Himsa' has been defined as destruction of life through *'Pramada'*. The emergence of *'Pramada'*, of *'Raga'*, *'Dvesa'* etc., itself has also been called *'Himsa'*. Such psychic states are truly suicidal and with this violence to one's own nature we have the starting point of all violence to others. The excessive attention given by the Jainas to details of bodily behaviour is due to their doctrine that souls are to be encountered almost anywhere. This has even been ridiculed and it has been asked "There are living beings in water, on land, in the sky; the whole world is agitated by the waves of living beings, how can the monks be free from *Himsa*?" This has been answered by drawing a distinction between gross and microscopic living beings. The microscopic beings are not easily injured and it is other kind of living beings which need to be protected.

Regarding Jaina vegetarianism, Prof. Pande tells that apart from the control of violent emotions or actions towards other human beings, the principle of Ahimsa in Jainism implies vegetarianism. There can, however, be no doubt that the use of meat for the sake of pleasure or habit or normally, is clearly contrary to the teachings of Buddha as well as *Mahavira*. It is also clear that the Jaina monks strenuously avoided the use of meat on principle.[24] Nor can there be any doubt that Jainism has been a principal factor in the spread of vegetarianism in India.

Prof. Pande concludes his article, giving his view on Jaina Ahimsa from social point of view, saying that it is obvious that the practice of Ahimsa presupposes a person and a context where the loss of material things, social position or even life would be acceptable in view of a superior consciousness and its ideals. This is a context where the egoistic and acquisitive attitude are subordinated to the

attitudes of transcendence, acceptance and giving up. Now the political context is inherently different. The state is not a person but an impersonal machinery charged with the duty of maintaining order and security and authorised to use violence as an ultimate resort. The spread of pacifism can become effective only if human nature is sufficiently educated morally and spiritually not to seek the settlement of disputes even at the expense of others. In other words, unless the Jaina ideal or equality between oneself and another is distributively realized in a society, the ideal of non-violence can not be effectively adopted collectively. "***Darmasya tattvam nihitam guhayam.***"[25]

Prof. Mukul Raj Mehta
Research Scientist 'C'
Deptt of Philosophy & Religion
Arts Faculty, B.H.U.,Varanasi.

Res: 9A, Mahamanapuri colony, P.O.- B.H.U., Varanasi-221005.

REFERENCES

1. As for example in Dr. J.C. Jain Life in Ancient India as depicted in the Jain Canons (Bombay 1947).
2. Mahavir Jayanti Smarika, Page 22.
3. Sanghasen Singh, Hop, Buddhist Studies, University of Delhi.
4. Shramani Tradition : It's History And Contribution To Indian Culture Preface. By Nagin J. Shah, Director
5. Jaina Political Thought, Approach, page 1
6. Studies in the Origins of Buddhism.
7. e.g., Dr. H.L. Jain : Bharatiya Samskrti men Jaina Dharma ka Yogadana (1962).
8. Ayaranga, 1.1.5-"Se ayavai logavai, Kammavai, Kiriyavai" Cf. Silanka's comment on this-"Tatha ya eva karmavai sa eva Kryavadi, yatah Karma yoganimittaim badhyate, yogasca vyaparah, sa ca Kryarupah.....Kryam atmaparinati-rupam." (p.20, Bombay, 1935).
9. Cf. "Ogadha-gadha-nicido puggala-Kayehim savvado logo suhumehi badarchiya Appaoggehim joggehim". (Pravacanasara, II.76).

The question has been raised-how can 'amurta' soul be bound by 'murta' karma-pudgalas? In answer, the contact of soul and matter in experience is adduced by Kundakunda. Amrtacandra goes to the heart of the matter and syas that the bondage is really in terms of psychological identity-

आत्मनो नीरुपत्वेन स्पर्शशून्यत्वान्न कर्मपुद्गलैः सहास्ति सम्बन्धः एकावगाहभावावस्थितकर्मपुद्गलनिमित्तोपयोगाधिरुढरागद्वेपादिभावसम्बन्धः कर्म–पुद्गल–बन्ध–व्यवहार–साधकरत्वरत्येव। (Pravacanasara p.216).

The tainting (uparaga) of the soul by the passions is bhava-bandha, the attachment of more material particles to the pre-existing ones in the soul on this account is dravya-bandha; Pudgala-jiva-bandha is the 'copervasion' (anyonyavagaha) of spirit and matter-

यस्तु जीवस्यौपाधिको मोहरागद्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणामः स केवलजीवबन्धः यः पुनः जीव–कर्म–पुद्गलयोः परस्पर–परिणाम–निमित्तत्वेन विशिष्टतरः परस्परमवगाहः स तदुभयबन्धः। (Ibid., p.219)

10. Akalanka on Tattvarthasutra (6.1-2: Kayavanmanah-karma-yogah, sa asravah)-"Viryantaraya-jnanavarana-ksya-Ksayopasamapeksena atmanatmaparinamah pudgalenaca svaparinamah vyatvayenaca niscayavyavahara-nayapeksaya kryata ti karma..Kriyaparinaminah atmanah

trividha-vargana-lambanapeksah pradesa-parispandah". (Tattvarthavartika, Vol.II pp. 504-505); Bhagavati, 3.3-names of types of Kriya Kayiki, Adhikaraniki, Pradvesiki, Paritapaniki and Pranatipatiki. It adds that Kriyaarises-

पमायपच्चया जोगनिमित्तं च।

11. "Atmaparinamena yoga-bhava-laksabena kriyata iti karma. Tadatmanosvatantrikarane mulakaranam. Tadudayapaditah pudgala-parinamah atmanah sukhaduhkhabaladhanahetuh audarikasairadih Isatkarma nokarmetyucyate." (Akalanka op.cit, Vol. II, p. 488).

12. "परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो"
(Pravacanasara, 2.88)

13. Sometimes Kriya is identified with Parispanda and contrasted with Parinama which is called the alternative modality (Bhava) of substance (dravya)-Akalanka, op.cit II, p.481. Kundakunda identifies Karma, Parinama, Kriya (Pravacanasara, 2.29-30).

14. "Siddhyatamurdhva-gatireva"....(Akalanka op.cit Vol.II.p.490)

15. Pravacanasara, II. 92-99.

16. Samayasara (3.96). Later (3.122) it goes so far as to say-

"तम्हा जीवोऽकत्ता गुणाय कुव्वन्ति कम्माणि"

17. Cf. Samayasara, 3.88-91-; Cf. Amrtacandra ad Pravacanasara, 2.30.

18. The Buddhists use the word cetana, while the Jainas speak of Bhava.

19. e.g. Pravacanasara, 2.86:

रापदेरो रो अप्पा तेसु पदेरोसु पुग्गला काया।
पविसंति जहायोग्गं चिट्ठंति हि जंति बज्झंति।।

20. These are Jnanavarana, Darsanavarana Vedaniva, Mohaniya. Ayus Nama, Gotra, and Antaraya. These are subdivided into 148 Uttara prakrtis-Sse Glasenapp, The Doctrne of Karman in Jaina Philosophy, pp. 5ff, (Bombay, 1942).

21. Cf. "...we can say that the Sankhya-Yoga (the Vedantin also included) admit only material Karman and not its spiritual counterpart as well while the Buddhist admits only the spiritual counterpart and not the material Karman. Karman, in the ultimate analysis, is a link between spirit and matter and lasts as long as the worldly existence lasts." (Nathmal Tatia, Studies in Jaina Philosophy, p.208)

22. 'Utpada-vyaya-dhrauya-yuktam sat' (Tattvartha, 5.30)

23. Cf. Samayasara. 3.81-83.

24. Prof. S.B. Deo, History of Jaina Monachism p. 173, agrees with the commentators.

25. This paper is based on the article "The Jaina Ethical Tradition And it's Relevance" by Prof. G.C. Pande.

दर्शन भवन,
36 तुगलकाबाद
इन्स्टिट्यूशनल एरिया,
महरौली बदरपुर रोड
(बत्रा हस्पताल के पास)
नई दिल्ली-110 062
केबल : ICPHILRES
दूरभाष : **6092129,** 6094403, 6094405
टैलिफैक्स : 91-11-6092129
ई–मेल : icpr@del2.vsnl.net.in
वेब–साईट : www.icpr.nic.in

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्
icpr
INDIAN COUNCIL OF PHILOSOPHICAL RESEARCH

सभी के लिए सभी मानवीय अधिकार
ALL HUMAN RIGHTS FOR ALL

Darshan Bhawan,
36 Tughlakabad
Institutional Area,
Mehrauli Badarpur Road,
(Near Batra Hospital)
New Delhi-110 062
Cable : ICPHILRES
Tel.: **6092129,** 6094403, 6094405
Telefax : 91-11-6092129
E-mail : icpr@del2.vsnl.net.in
Website : www.icpr.nic.in

प्रोफेसर आर. सी. प्रधान
सदस्य–सचिव
Professor R. C. Pradhan
Member Secretary

No.F.2-10/2002(P&R)ICPR /3185 September 9, 2002

Dear Professor Rastogi,

This is in continuation of our earlier letter of even number dated 28th August, 2002, regarding the National Seminar on **The Thoughts and Works of Professor G.C.Pande** to be held from March 3 to 5, 2003. Please find enclosed a copy of the complete bio-data of Professor G.C.Pande for your kind perusal and reference.

With warm regards,

Yours sincerely,

R.C.P.

(R.C.Pradhan)

Professor Navjeevan Rastogi
Anand Mangal
B-202/203 Sterling Apartments
University Road
Lucknow – 7

Encl: as above

BIO-DATA

Prof. G.C. Pande

1. **BORN**	:	30th July 1923, Allahabad
2. **EDUCATIONAL CAREER**	:	
Matriculation	:	Punjab University, 1937, First Division (1937-38) : Went to Burma and did not join any college)
Intermediate	:	U.P. Board, 1940, First Division and Third Position in U.P. (Distinction & First Position in Sanskrit)
B.A.		University of Allahabad, 1942, First Division and First Position
M.A. (History)	:	University of Allahabad, 1944 First Division and First Position
D.Phil.	:	University of Allahabad, 1947
3. **KNOWLEDGE OF LANGUAGES**	:	Thorough knowledge of Sanskrit, Pali and Prakrit, studied Sanskrit under well known traditional and modern scholars like Pt. Raghveera Dutt Shastri, Pt. Ram Shankar Dvivedi and Pr. K. Chattopadhyaya. Working knowledge of French, German, Budh-Chinese, studied Buddhist Chinese under W. Pa.-Chow Knowledge of several modern Indian Languages
4. **PROFESSIONAL CAREER**	:	
University of Allahabad	:	1947-57: Lecturer in History (including Lecturer in **Nepal Chair in Asian History** 1947-49) and later Reader, Ancient History, Culture and Archaeology. 1958-61: Dean, Faculty of Arts

University of Rajasthan	:	1962-78: **Tagore Professor of History and Indian Culture** 1968-71 : Dean, Faculty of Arts 1974-77 : **Vice-Chancellor, University of Allahabad**
University of Allahabad	:	1978-84: Professor of Ancient History, Culture and Archaeology 1981-83: Head of the Department of Ancient History, Culture and Archaeology 1983-84: Vice-Chancellor: University of Allahabad.
Banaras Hindu University, Varanasi	:	1984-85: Visiting Professor in the Gaekwad Chair of Indian Culture and Civilization
I.C.H.R.	:	1985-85: First National Fellow, Indian Council of Historical Research, New Delhi
I.C.P.R.	:	1993 - Editorial Fellow in PHISPC
Allahabad Museum Society	:	Since 1986 - Chairman
Indian Institute of Advanced Study, Shimla	:	1998 (Chairman-cum-President) till date
Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath	:	Chairman

5. **HONORARY DEGREES** :

Vidya Varidhi (equivalent to D.Litt.) from Nava Nalanda Mahavihara in 1981.

Sahitya Vacaspati (Hindi Sahitya Sammelan, Allahabad)

Vakpati (Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath), 1998
Mahamahopadhyaya, 1999 (Lal Bahadur Shastri Rastriya Sanskrit Vidyapith, New Delhi)

D. Litt (Honoris causa, BHU, 2001)

6. **AWARDS**

Sansthana Sammana (Hindi Sansthan, Lucknow)

Sankarȧ Sammana, 1992 (K.K. Birla Foundation)

Manisha Sammana (Bharatiya Bhasha Parishad, Calcutta)

The Government of India Award of Rs. 10,000 on his publication.

Mulyamimamsa as an original work in Hindi on Philosophy.

Mangala Prasad Award (Hindi Sahitya Sammelan, Allahabad)

Darsana - Vijnana Award, 2001.

Naresh Mehta Award, 2001.

7. **HONORARY POSITIONS:**

Member, Government of India Committee for the Review of the work of the U.G.C. (1975-77)

Member, Indian National Commission for Cooperation with the U.N.E.S.C.O. (1982-84).

Member, Central Board for Buddhist Studies (since inception).

Member, U.P. Government Committee for Buddhist Studies (since inception).

Member, Board of Governors of the Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath (till 1996).

Member, Board of Governors of S. S. S. Institute of Higher Learning, Prasantinilayam, (1981 -84)

Member, Executive Council, Banaras Hindu University (1982-85), as Visitor's Nominee.

Member, Indian Council of Historical Research (1987-93).

Member, Indian Council of Philosophical Research (1988-91, 2002-)

Chairman, Allahabad Museum Society (1986 -)

Chairman & President, Indian Institute of Advanced Study, Shimla (1998-2001, 2002-)

Chairman, CIHTC, Samath since 2000.

8. OTHER POSITIONS AND DISTINCTIONS:

Elected President of the Darshana Parishad for its Baroda and Pune Sessions.

Presided over Rajasthan History Congress, Pali Session 1974.

Presided over Indian Archeological Society, 1978.

Presided over Indian History & Culture Society, 1978

President, Hindi Sahitya Sammelan, Puri Session, 1993.

9. PRESTIGIOUS EDUCATIONAL LECTURES:

Delivered The Buddha Jayanti Lecture, Indian Philosophy Congress, Delhi (1975).

Delivered R.K. Jain Memorial Lectures at Delhi University (1977).

Delivered L.D. Series of Lectures of L.D. Institute of Indology, Ahmedabad (1977)

Delivered the Principle Lecture, Congress of Religions, Colombo (1978).

Delivered S.Chattopadhyaya Memorial Lectures at Visva-Bharati, Santiniketan (1982).

Delivered J. Kashyap Memorial Lecture at Nalanda Mahavihara (1984).

Delivered Debendra Nath Memorial Lecture, Visva-Barati (1988).

Delivered G.S.P. Mishra Memorial Lecture (1989) and Raghuvansh Memorial Lecture (1997), University of Rajasthan, Jaipur.

Delivered Hiranand Shastri Memorial Lectures, Vatsal Foundation, New Delhi (1980, 1991)

Delivered Badrinath Shukla Memorial Lectures, Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi (1991).

Delivered Govind Ballabh Pant Memorial Lecture, G.B. Pant Social Science Institute, Allahabad (1991).

Delivered Badri Prasad Misra Memorial Lectures, Bhopal 1991.

Delivered Ram Mohan Rai Memorial Lecture, Calcutta, 1991.

Delivered Sri Ghanand Pande Memorial Lecture, Almora, 1992.

Delivered Dr. Dhirendra Verma Memorial Lecture, Hindustani Academy, 1993.

Delivered Gopinath Bhattacharya Memorial Lecture, Calcutta 1993.

Delivered K.S. Subramanya Ayyar Memorial Lectures, Lucknow 1993.

Delivered R.K. Mukherji Memorial Lectures, Lucknow 1993.

Delivered Srijan, Parivesh Aur Parampara Lecture, Allahabad, Museum 1997.

Delivered Griffith Memorial Lecture, Sanskrit University, Varanasi 1997.

Delivered K.C.Pandey Centenary Memorial Lectures, Lucknow 1998.

Delivered Gyaneshwar Tukararn Endowment Lecture, M.I.T., Pune 1998.

Delivered Makhanlal Chaturvedi Memorial Lectures, Bhopal 1998.

Innaugural Session, Sri Aurobindo Centre of Consciousness Research, ICPR, 2001.

Annual National Lectures of the I.C.P.R. 2002.

10. **MEMBERSHIP** (from time to time):

Societe Asiatique De Paris; Indian Historical Records Commission, Indian Advisory Board of Archeology, Editorial Board of U.P. Gazetteers, Council of Shastri Indo-Canadian Institute, Council of American Institute of Indian Studies, etc.

11. **VISITS ABROAD**

Invited to and attended International Conferences at:

Colombo (1968); Ashkabad, USSR (1972); Zurich (1973, 1976), Engelburg (2000), Wellington (1976); Salzburg (1976); Mexico City (1980), Hawaii (1981, 1989); Beijing (1991).

12. **PUBLICATIONS**

I. Books

A. Buddhism and Jainism

1. Studies in the Origins of Buddhism (4th Ed., Motilal Banarsidass, Delhi 1994).
2. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास (तृतीय संस्करण, लखनऊ)
3. **R.K. Jain Memorial Lectures on Jaina Ethics & Logic** (Delhi University, 1978)
4. **Sramanism and its contribution to Indian Culture** (Ahmedabad, 1978).

5. रत्नकीर्ति विरचित अपोहसिद्धि a Classical Buddhish text on Logic, Critically translated into Hindi from Sanskrit with an original exposition and commentary (1972), Darsana Pratishthan, Jaipur; 2nd ed., Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, 1995.

6. धर्मकीर्ति विरचित न्यायबिन्दु the most celebrated Buddhish text on Logic. Critically Translated into Hindi from Sanskrit with an original exposition and commentary (1973), Darsana Pratishthan, Jaipur, 2nd ed., Sarnath, 1995.
7. **Jain Political Thought** (1984, Prakrti Bharti, Jaipur).

8. **Studies in Mahayana** (Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, 1994)

B. INDIAN CULTURE AND ANCIENT INDIAN HISTORY:

9. भारतीय परम्परा के मूल स्वर (1982, द्वितीय संस्करण, नई दिल्ली)

10. **Foundations of Indian Culture,** 2 Vols. (1984, Books & Books, New Delhi, 2nd ed., Motilal Banarsidass)

11. **An Approach to Indian Culture and Civilization** (1985, Pub.B.H.U.)

12. भारतीय समाज, ऐतिहासिक और दार्शनिक विमर्श, दिल्ली, 1994

13. Ed: Indian Art and Culture, 1994, Allahabad Museum.

14. (सं) भारतीय कला और संस्कृतिः 1995, इलाहाबाद संग्रहालय।

15. (भूतपूर्व सं) राजस्थान इतिहास समीक्षा (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर)।

16. Ed. : Jijnasa, Journal of the History of Ideas and Culture, Rajasthan Univiersity, Jaipur.

17. Ed. : ***Histoty of Indian Science, Philosophy and Culture*** Vol. I Part I and II (2000-2002)

18. (भूतपूर्व सं) जिज्ञासा (राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर)।

19. Ed. : Citi-Vithika, Journal of the Allahabad Museum.

20. ***Traditional Origins of India Renaissance*** (Rajsthan University) Jaipur.

C. PHILOSOPHY:

21. ***Meaning and Process of Culture*** (1972, Agra, 2nd ed., Allahabad).

22. मूल्य-मीमांसा (1971, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर)।

... a Classical Buddhist text on Logic, Critically translated ... from Sanskrit with an original exposition and commentary ... Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath ...

... the most celebrated Buddhist text on Logic, Critically translated into Hindi from Sanskrit with an original exposition and commentary ...

... to Madhyama (Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, 1985)

... CULTURE AND ANCIENT INDIAN HISTORY

... An Approach to Indian Culture and Civilization ...

... Glimpses of the History of Ideas and Culture ...

... History of Indian Science, Philosophy and Culture ...

... Thought, Culture and the Academic Thinking ...

... ENGLISH ...

23. (सं) इतिहास स्वरूप और प्रक्रिया (1972, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर)।

24. भक्तिदर्शनविमर्श : सम्पूर्ण संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, (1996)।

25. शंकराचार्य, विचार और संदर्भ (वत्सला निधि)

26. ***Life and Thought of Sankaracharya*** (Motilal Banarsidas Delhi, 2nd ed.) 1994.

27. सौन्दर्भदर्शन-विमर्शः सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (1996)।

28. एकमृ सदृ विप्रा बहुदा वदन्ति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (1997)।

29. ***Sankaracharya*** (2nd ed., Rajasthan University, Jaipur, 1999).

30. ***Vaidik Sanskriti*** (2001)

31. ***Darsana Vimarsa*** (under publication)

D. POETRY/LITERATURE/CRITICISM:

32. अग्निबीज (ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1962) कविता-संग्रह।

33. क्षण और लक्षण (राधाकृष्ण) दिल्ली, 1966 - कविता-संग्रह (Poems included in ***Modern Hindi Poetry***, Published by Indiana University Press, Bloomington, 1965, under the U.N.E.S.C.O. Collection of Contemporary Works).

34. ***M.M. Gopinath Kaviraj*** (Sahitya Academy 1989)—**BIOGRAPHY**

35. अस्ताचलीयम (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) संस्कृत कविता-संग्रह

36. साहित्य, सौन्हर्द और संस्कृति, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद (1995)

37. हँसिहा, राका प्रकाशन, इलाहाबाद 1995 कविता-संग्रह

38. जया, राका प्रकाशन, इलाहाबाद 1999 कविता-संग्रह

39. (सं) कालिदास और उनका युग, इलाहाबाद संग्रहालय 1998

40. (Ed.) ***Kalidas and His Age,*** Allahabad Museum, 1999 (under publication).

41. ***Bhagirathi*** (Sanskrit Poems) 2002

42. गाहासत्तसई (2002) - Poetic recreation and commentary.

II. SOME ARTICLES AND PAPERS

A. Buddhism (Philosophy & History)

1. 'Historical Approach to Anguttarnikaya', *Allahabad University,* 1955.
2. 'Decline of Buddhism', *Comprehensive History of India* (under publication)
3. 'The Origins of Mahayana', *International Congress of Orientalists,* New Delhi, 1964.
4. 'Reflections on Aesthetics from a Buddhist Point of View', *Journal of Buddhist Studies,* Delhi University, 1978.
5. 'Buddhist Philosophy: An Interpretative Survey of *Buddhism*', Patiala 1969.
6. 'Early Buddhist Notion of Beauty', *Rajasthan University Studies,* 1964.
7. 'Sunyata, *Kalakosa* (IGNCA).
8. 'Time in Buddhism', *Kalakosa.*
9. 'Buddha's Spiritual Practice', *International Encyclopedia of Spirituality,* Crossroads, Vol. VIII, 1993.
10. 'Buddha's Philosophy of Time', in *Philosophy of Time,* 1993.
11. 'Causality in Buddhism', in Blackwell's *Companion to World Philosophy,* 1997
12. Compassion in the Modern Context (Universal Responsibilities), Essays Presented to His Excellency Dalai Lama

B. SOCIAL AND CULTURAL HISTORY

13. 'Population in Ancient India'. J.B.R.S., 1959.
14. 'The Influence of Religion in Indian Social History', *Proceedings of the Summer School in Social History,* Kodaikanal, 1983.
15. 'The Nature of the India Social Tradition', Seminar at Gokhale Institute, Pune, 1964.
16. 'Society and Economy in the Later Vedic Age', *History of the Punjab,* Vol. I.
17. 'Upper Class Life in Early Jain Canon', *Mahavira Jayanti Smarka,* Jaipur, 1963.
18. 'A Note on Uddyotanausuri's Kuvalayamala' *Jijnasa, Journal of the History of Ideas and Culture,* Mahavira Jayanti Number.

19. 'Religion and Philisophy in the Later Vedic Age', *History of the Punjab,* Vol. I.

20. 'Archeology and Social Sciences', Presidential Address, Indian Archaeological Society, 1978.

21. 'Research Trends in the History and Culture of Rajasthan', Presidential Address, Rajasthan History Congress, Pali Session.

22. 'Philosophical Trends in the History of Sciences in India - Heterodox Trends', *Indian Journal of History of Science,* 1969.

23. 'Identifying Indian Culture', Presidential Address, Indian History and Culture Society, 1978.

24. 'Hindu world', *Quest,* 1969.

25. 'Samskriti Aur Bharatlyata', *SNM Tripathi Felicitation Volume,* 1965.

26. 'Classical Indian Dance in Literature and the Arts', - a review, *Quest* 1969.

27. 'The Idea of the Comic in Sanskrit Drama' *(JBRS).*

28. 'The Meaning of Erotic Sculptures of Khajuraho' (under publication, Department of History of Art, Banaras Hindu University).

29. 'The Age of the Mahabharata' (Sahitya Academy Seminar Proceedings).

30. 'Tradition and Change' (under publication, Acharya Narendra Dev Volume, Varanasi).

31. 'Indian Culturc'(*Citi Vithika, 1999*).

C. PHILOSPHY, ART, EDUCATION AND LITERATURE

32. 'Role of the Idea of Kriyavada in Jain Logic', *Mahavir* Anniversary Number, University of Rajasthan, 1974.

33. 'Ethical point of view of the Bhagavad Gita, *Jijnasa, Journal of the History of Ideas and Culture*, Vol.1

34. Patanjali's Interpretation of Yoga', *Mountain Path,* 1967.

35. 'On Ethical Notions, Indian and Western', *Conspectus,* Vol.I issue.

36. "The Concept of Pramana in Philosophy', *Visva-Bharati Journal of Philosophy,* 1966.

37. 'The Nature of Mathematics, in *Modern Logic,* Jaipur, 1965.

38. 'Religion and Historicity', International Symposium, at Zurich, 1972.

39. 'Darsanika Pragati Ka Prasna', Presidential Address, Darsana Parishad, 1967.

40. 'Manava Paryesana Aur Darsanika Vimarsha', *Darsanika Quarterly,* 1966.

41. 'Sat Ke Do Paksha', *Samkalina Darsanika Samasyayen,* 1966.

42. 'Anirvacaniyata', *Darsanika Quarterly,* 1967.

43. 'Life and Death of Languages', *Diogenes,* 1965.

44. 'Education and Social Change', International Seminar on the University of Future, sponsored by U.N.E.S.C.O., at Mexico City, 1980.

45. 'Secularism and Educational Policy' Seminar, Indian Law Institute, New Delhi.

46. 'The Nature of Social Categories' in *Philosophical Theory and Social Reality,* edited by Ravinder Kumar, New Delhi, 1984.

47. 'Science and Spiritual Values, Education Commission Seminar, Pune, 1965.

48. 'The Nature of Imagination in the context of Aesthetic Creativity and Social Transformation', in *Social Transformation and Creative Imagination,* edited by Sudhir Chandra, New Delhi, 1984.

49. 'Sankaracarya and Post-classical Hinduism', (under publication, Nehru Memorial Museum).

50. 'Some Reflections on our Educational System', in *Indian Education Today,* Essays in honour of Mohan Sinha Mehta, Jaipur, 1970.

51. 'The State and Higher Education', in *Climbing a Wall of Glass,* Edited by Airan, Barnabas and Shah, Bombay, 1965.

52. 'Changing Conceptions of History, (Hindi), in *Drsti,* Issue 1.

53. 'The Idea of God in History', International Seminar at Hawaii, 1981.

54. 'The Concept of the Self in Indian Thought', *Jijnasa, Journal of the History of Ideas and Culture.*

55. 'Relevance of Yoga', *Yoga Heute,* Weiheim, 1971.

56. 'The Nature of Religion : Spiritual Life' (*The Indian Theosophist,* Vol. 82).

57. 'Sankara and Buddhism' (International Seminar, Madras University, March 1989).

58. 'Sankaracarya', G.S.P. Memorial Lecture, Jaipur, 1989.

59. Presidential Address, Hindi Sahitya Sammelan, Puri Session.

60. 'Time - Concept and Context', (in *Time,* IGNCA, 1990).

61. 'Two Dimensions of Religion', (in *Culture and Modernity,* University of Hawaii Press, 1991).

62. 'Sri Aurobindo's Philosophy of Culture', (International Seminar on Aurobindo, Pondicherry, 1992).

63. 'Janapada Rashtra Aur Sanskriti', (Shri Ghananand Pande Memorial Lecture, Almora, 1991).

64. 'Punarjanma - Vicar' (in *Ek Saksi Do Sabhyataon Ka*; Vols. ed. Krishna Behari Misra, Calcutta).

65. Pratyabhijna Darsana, K.C. Pandey Centenary Commemorative Volume (under publication), Lucknow University, 1998.

66. Secularism, Religion and Culture (under publication Journal of the PHISPC, *Anusandhana.*

67. 'The Philosophy of Ramavatara Sharma' in *Paramartha darsanam,* Motilal Banarsidass.

68. परमार्थ दर्शनम — *Prachya Pratibha.*

69. 'Sociology of Knowledge', Prefatory Essay in Prof. A.K. Saran, *Sociology of Knowledge* (under publication, CIMTS, Sarnath).

70. Consciousness and Neuroscience I, ICPR, 2001.

71. Consciousness and Neuroscience II, IIAS, Shimla, 2001.

72. दर्शन की भूमिकाएं (बलदेव उपाध्याय ग्रन्थ)

73. जिज्ञासा और रचना (उन्मीलन, सितम्बर, 2002)

— o —

CREATIVE WRITINGS

1. अग्निबीज (ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1962) कविता-संग्रह।

2. क्षण और लक्षण (राधाकृष्ण) दिल्ली, 1966 - कविता-संग्रह (Poems included in ***Modern Hindi Poetry,*** Published by Indiana University Press, Bloomington, 1965, under the U.N.E.S.C.O. Collection of Contemporary Works).

3. ***M.M. Gopinath Kaviraj*** (Sahitya Academy 1989)—**BIOGRAPHY**

4. अस्ताचलीयम (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) संस्कृत कविता-संग्रह

5. साहित्य, सौन्हर्द और संस्कृति, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद (1995)

6. हंसिहा, राका प्रकाशन, इलाहाबाद 1995 कविता-संग्रह

7. जया, राका प्रकाशन, इलाहाबाद 1999 कविता-संग्रह

8. (सं) कालिदास और उनका युग, इलाहाबाद संग्रहालय 1998

9. (Ed.) ***Kalidas and His Age,*** Allahabad Museum, 1999 (under publication).

10. ***Bhagirathi*** (Sanskrit Poems) 2002

11. गाहासत्तसई (2002) - Poetic recreation and commentary.

— o —